



**POLITICAL STRUCTURES AND STATE
FORMATION IN MEDIEVAL INDIA**
EDITED BY
Dr. MANU SHARMA

Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

(Units)	(CONTENTS)	(Page No.)
1. बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार (The British Rule on Bengal) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		1
2. प्रिन्सली राज्य : राजनीतिक संरचना (Princely States : Political Structure) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		12
3. प्रायद्वीपीय भारत में राजनीतिक तथा प्रशासनिक संस्थाएँ (Political and Administrative Institutions of Peninsular India) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		25
4. उत्तर-भारत में प्रशासनिक एवं संस्थात्मक प्रणाली (Administrative and Institutional Systems in North-India) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		44
5. कानून एवं न्याय प्रणाली (Law and Justice System) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		55
6. दिल्ली सल्तनत (The Delhi Sultanate) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		63
7. प्रान्तीय राज्य (Regional States) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		78
8. मुगल साम्राज्य की राजनीतिक और प्रशासनिक संस्थाएँ (Political and Administrative Institutions of Mughal Empire) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		102
9. अठारहवीं सदी के उत्तरवर्ती राज्य (Successor States of 18th Century) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		116
10. कम्पनी के अधीन प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन (Changes in Administrative Policies Under The Company) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		130
11. राजनीतिक गतिविधियाँ (Political Activities) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		135
12. वित्तीय साधन (Financial Resources) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		159
13. समाज एवं शिक्षा पर उपनिवेशवाद का प्रभाव (Impact of Colonialism on Society and Education) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		168
14. राजनीतिक एवं प्रशासनिक घटनाएँ (Political and Administrative Events) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		183
15. औपनिवेशिक राज्य का अंत : प्रजातंत्र की स्थापना (End of the Colonial State : Establishment of Democracy) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		196

नोट

इकाई-1 : बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार (The British Rule on Bengal)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 1.1 मीरजाफर तथा बंगाल का द्वितीय विद्रोह
(Mir Jafar and the Second Revolt of Bengal)
- 1.2 मीरकासिम तथा बंगाल का तृतीय विद्रोह
(Mir Qasim and the Third Revolt of Bengal)
- 1.3 बक्सर युद्ध के कारण एवं परिणाम
(Causes and Result of Buxer Battle)
- 1.4 मीरजाफर का द्वितीय कार्यकाल और अंग्रेजी आधिपत्य
(Mir Jafar : Second Tenure and the British Rule)
- 1.5 सारांश (Summary)
- 1.6 शब्दकोश (Keywords)
- 1.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 1.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- मीरजाफर एवं बंगाल का द्वितीय विद्रोह को जानने में;
- मीरकासिम तथा बंगाल का तृतीय विद्रोह को जानने में;
- बक्सर युद्ध, युद्ध के कारण एवं परिणाम को जानने में;
- मीरजाफर का द्वितीय कार्यकाल एवं बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मीरजाफर साहसहीन और अयोग्य व्यक्ति था। वह बंगाल का नाममात्र का शासक रहा। वास्तविक सत्ता कम्पनी के हाथों में थी। वास्तव में वह लार्ड क्लाइव के हाथ की कठपुतली मात्र था। वह न शासन की देखभाल कर सका, न नवाब के सम्मान की रक्षा कर सका और न अंग्रेजों की बढ़ती हुई लालसाओं की सन्तुष्टि कर सका। इस कारण तीन वर्षों में उसे गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। वह आन्तरिक शासन और बाह्य सुरक्षा दोनों के लिए अंग्रेजों पर निर्भर करता था। उसकी इस दुर्बलता के कारण अंग्रेजों को उसे गद्दी से हटाने का साहस हुआ।

नोट

शाहजादा अलीगौहर ने, जो बाद में शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगल बादशाह बना, बंगाल की खराब स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न किया और अवध के नवाब शुजाउद्दौला की सहायता से 1759 ई. में बिहार पर आक्रमण किया। क्लाइव ने एक सेना लेकर बिहार की ओर कूच किया और एक दूसरी सेना मीरजाफर के पुत्र मीरन के नेतृत्व में बिहार गयी तो शाहजादे को कोई सफलता नहीं मिली। ऐसी स्थिति में शाहआलम को वापस लौटना पड़ा। बाद में 1760 ई. और 1761 ई. में भी उसने बंगाल को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये परन्तु असफल रहा। 2 जुलाई, 1760 ई. को मीरन की हत्या कर दी गई। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि अंग्रेज मीरन को अपने रास्ते का काँटा समझते थे। इसलिए उसकी हत्या अंग्रेजों ने करवा दी थी।

1.1 मीरजाफर तथा बंगाल का द्वितीय विद्रोह

(Mir Jafar and the Second Revolt of Bengal)

1759 ई. में डचों ने बंगाल पर आक्रमण किया। हॉलवेल के अनुसार डचों का आक्रमण नवाब के षड्यन्त्र का परिणाम था, परन्तु वास्तविकता में डचों ने अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा के हितार्थ बढ़ते हुए अंग्रेजी प्रभाव को रोकने के लिए आक्रमण किया था। 'बेदरा (Battle of Bedara) के युद्ध' में डचों की पराजय हुई और उन्होंने अंग्रेजों को क्षतिपूर्ति के रूप में धन देना स्वीकार किया। इसी समय शाहजादा मीरन ने डचों को एक दूसरी सन्धि 'बेदरा की सन्धि' करने के लिए बाध्य किया जिसके द्वारा डचों ने स्वीकार किया कि—

- (1) नवाब उनको व्यापारिक सुविधाएँ देगा।
- (2) वे कभी भी नवाब से युद्ध करने, उसकी सीमाओं में किलेबन्दी करने या सैनिक एकत्र करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।
- (3) वे पटना, चिनसुरा और कासिमबाजार की अपनी फैक्टरियों की सुरक्षा के लिए 125 यूरोपियन सैनिकों से अधिक सैनिक नहीं रखेंगे।
- (4) वे अपने जहाजों और सैनिकों को नवाब की सीमाओं के बाहर ले जायेंगे; और
- (5) यदि उन्होंने इनमें से किसी भी शर्त का उल्लंघन किया तो नवाब उनको पूरी तरह अपनी सीमाओं से बाहर निकाल देगा।

बेदरा की सन्धि ने डचों की महत्वकांक्षाओं को समाप्त कर दिया और बंगाल की सीमाओं के अंतर्गत वे पूर्णतः अंग्रेजों पर निर्भर हो गये।



नोट्स सरकार तथा दत्त ने इस युद्ध के विषय में लिखा है—“बेदरा का युद्ध अंग्रेजी सत्ता को बंगाल में स्थापित करने में प्लासी के युद्ध से अगला कदम था।”

फरवरी 1760 ई. में क्लाइव भारत से इंग्लैण्ड वापस गया और उसी वर्ष मीरजाफर को गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य किया गया। मीरजाफर को बंगाल के नवाब की गद्दी पर से हटाये जाने के निम्नलिखित कारण थे—

(क) मीरजाफर की दुर्बलता—मीरजाफर पूर्णतः अयोग्य सिद्ध हुआ। वह न तो आन्तरिक शासन को सुधार सका और न ही विदेशी आक्रमणों से अपने सूबों की रक्षा करने में समर्थ हुआ। इन सभी बातों के लिए वह पूर्णतः अंग्रेजों पर निर्भर था। उसने अपनी दुर्बलता के कारण अंग्रेजों के प्रभाव को बढ़ाने और नवाब की स्थिति को निरन्तर दुर्बल और असम्मानित होने का अवसर प्रदान किया। उसने क्लाइव और विभिन्न अंग्रेजों को व्यक्तिगत रूप से बहुमूल्य उपहार देकर खजाने को खाली कर दिया। इससे उसने न केवल अंग्रेजों की धनलोलुपता में वृद्धि की बल्कि अंग्रेजों पर अपनी निर्भरता को भी बढ़ा दिया। निस्सन्देह, शासन की अव्यवस्था और नवाब की आर्थिक स्थिति को खराब करने में अंग्रेजों और मुख्यतः क्लाइव का भी उत्तरदायित्व था क्योंकि वे नवाब से निरन्तर धन की माँग करते रहते थे और नवाब उनकी माँग को टुकराने की स्थिति में नहीं था। परन्तु तब भी यदि मीरजाफर योग्य होता तो नवाब

नोट

बनने के पश्चात् वह नवाब के सम्मान में वृद्धि करने, शासन में अंग्रेजी प्रभाव को कम करने और राज्य की स्थिति को ठीक करके अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करता। परन्तु वह इस कार्य के लिए सर्वथा अयोग्य था और जब ऐसी स्थिति में उसने अंग्रेजों का विरोध करने का साहस किया अथवा उसकी तनिक इच्छा भी प्रकट की तो अंग्रेजों ने सरलतापूर्वक उस कठपुतले को नवाब की गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य किया।

(ख) सन्धि की शर्तों के अनुसार अंग्रेजों को धन देने में मीरजाफर की असमर्थता—मीरजाफर ने प्लासी के युद्ध से पहले जो सन्धि अंग्रेजों से की थी उसके अनुसार उसने अंग्रेजों को उनकी सहायता के बदले में एक लाख रुपये मासिक कम्पनी को देने का वचन दिया था। नवाब ने कम्पनी को वर्दमान और नादिया जिले के कुछ क्षेत्र भी दो वर्षों (अप्रैल 1758 से मार्च 1760 ई. तक) के लिए दे दिये थे। परन्तु वह उस मात्रा में उस धन की पूर्ति न कर सका यद्यपि उसे अपने महल का सामान तक बेचना पड़ा। स्थिति यह बन गयी कि एक तरफ नवाब का दिवाला निकल चुका था तथा उसकी सेना वेतन न मिलने के कारण विद्रोही हो रही थी और दूसरी तरफ अंग्रेज निरन्तर उससे धन की माँग कर रहे थे। जबकि नवाब अपनी वचनबद्ध राशि का भुगतान समय पर नहीं कर पा रहा था। फलतः बकाया धनराशि बढ़ती जा रही थी। एक अनुमान के अनुसार फरवरी 1760 तक नवाब पर कम्पनी का 25 लाख बकाया हो गया था।

नवाब की आर्थिक स्थिति खराब होने के कई कारण थे। प्रारम्भ में ही मीरजाफर को सरकारी खजाने से उतना धन प्राप्त नहीं हुआ जिसकी उसे आशा थी। कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा 'दस्तक' के दुरुपयोग और व्यापार में मनमानी करने के कारण राज्य की आय गिर गयी थी। इसके अतिरिक्त नवाब ने विभिन्न अंग्रेज अधिकारियों को जो उपहार दिये थे उससे भी उसकी आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई थी। इस कारण, अन्त में, नवाब ने कम्पनी से उसे सन्धि की आर्थिक शर्तों से मुक्त कर देने की प्रार्थना की। अंग्रेज इसके लिए तैयार न थे। उन्होंने आर्थिक दुर्बलता के लिए उसी को उत्तरदायी ठहराया और उस पर सन्धि की शर्तों को पूरा न करने का दोष लगाया।

(ग) नवाब के प्रति हॉलवेल का रुख—क्लाइव के इंग्लैण्ड चले जाने के बाद हॉलवेल को अस्थायी रूप से बंगाल की अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बना दिया गया था। मीरजाफर ने उसका उचित सम्मान नहीं किया। मीरजाफर क्लाइव का बहुत सम्मान करता था क्योंकि वह समझता था कि उसी के कारण वह बंगाल का नवाब बना था। परन्तु हॉलवेल को, जिसका पद अस्थायी था, वह उतना सम्मान न दे सका। यद्यपि वह सर्वथा अनुपयुक्त था कि व्यापारिक कम्पनी के कर्मचारी सूबे के नवाब से सम्मान की आशा करते परन्तु हॉलवेल इसके लिए कटिबद्ध था। अतः हॉलवेल ने नवाब पर आरोप लगाना शुरू किया कि वह अंग्रेज विरोधी गतिविधियों में संलिप्त है तथा डच लोगों और मुगल शाहजादा अलीजौहर के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहा है। साथ ही हॉलवेल ने मीरजाफर पर क्रूरता, अत्याचार और विलासिता का दोष भी लगाया।

(घ) नवाब का डचों से पत्र-व्यवहार करना—हॉलवेल ने मीरजाफर पर यह आरोप लगाया कि वह अंग्रेजों के विरुद्ध चिनसुरा के डचों से मिलकर षड्यन्त्र कर रहा था। यद्यपि मीरजाफर पर इस आरोप को सिद्ध करने का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता परन्तु सम्भव है कि अंग्रेजों से छुटकारा पाने के लिए नवाब ने डचों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो।

(ङ) अंग्रेजों की धन प्राप्त करने की लालसा—अंग्रेजों की धन प्राप्त करने की लालसा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। बंगाल की गद्दी पर परिवर्तन करना उनको धन प्राप्त करने की एक अच्छी सुविधा प्रदान करता था। यदि अंग्रेज अपनी सहायता से किसी अन्य व्यक्ति को नवाब बनाते तो यह निश्चित था कि नवीन नवाब सभी अंग्रेज अधिकारियों को बहुमूल्य उपहार प्रदान करता।

घटनाएँ (Incident)

जब अंग्रेजों ने नवाब को गद्दी से हटाने का पूर्ण निश्चय कर लिया तब उन्होंने मीरजाफर के दामाद मीरकासिम के साथ 27 सितम्बर, 1760 ई. को **एक सन्धि की**। मीरकासिम नवाब का सम्बन्धी था और सेनापति भी। 1760 ई. में अंग्रेजों और मीरकासिम में हुई सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने मीरकासिम को नवाब बनाना इन शर्तों पर स्वीकार किया—

नोट

- (1) मीरकासिम अंग्रेज कम्पनी को बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले सौंप देगा;
- (2) मीरकासिम नवाब मीरजाफर पर जो कर्ज था उसे तुरन्त कम्पनी को दे देगा;
- (3) वह सेना की संख्या में कमी कर देगा;
- (4) वह कम्पनी को कर्नाटक के युद्धों में सहायता करने के लिए पाँच लाख रुपये देगा;
- (5) वह कम्पनी के मित्रों को अपना मित्र और कम्पनी के शत्रुओं को अपना शत्रु समझेगा;
- (6) कम्पनी आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी तथा नवाब को सैनिक सहायता देती रहेगी; और
- (7) वह 50,000 पौण्ड वान्सीटार्ट को, 27,000 पौण्ड हॉलवेल को और 25,000 पौण्ड कम्पनी की कौंसिल के अन्य दो सदस्यों को देगा।

इसके पश्चात् 1760 ई. में कलकत्ता की अंग्रेज कौंसिल ने नवाब को बदलने की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा—“नवाब जाफरअलीखाँ बहुत क्रोधी, क्रूर, लालची, आलसी और विलासी प्रकृति का है और उसके निकटस्थ व्यक्ति पूर्णतः उसके दास, खुशामदी तथा उसकी बुराइयों की पूर्ति का साधन बने हुए हैं। अनेक ऐसे उदाहरण हैं जब उसने बिना किसी कारण के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों का खून बहाया है।” नवाब पर यह आरोप झूठा था क्योंकि 1765 ई. में स्वयं **क्लाइव** और **वाटसन** ने लिखा था कि “नवाब पर लगाये गये उपर्युक्त आरोप असत्य थे।” परन्तु अंग्रेजों को बहाने की तलाश थी और नवाब के चरित्र पर दोषारोपण करके उन्होंने एक बहाना तलाश कर लिया।

सन्धि को लागू करने के लिए वान्सीटार्ट तथा केलॉड 14 अक्टूबर, 1760 ई. को मुर्शिदाबाद पहुँचे, लेकिन मीरजाफर ने मीरकासिम को नायब सूबेदार के रूप में बहाल करने से इन्कार कर दिया। 5 दिनों तक निष्फल वाद-विवाद के बाद अंग्रेजों ने सेनानायक केलॉड के नेतृत्व में नवाब के महल को घेर लिया। फलतः नवाब ने अंग्रेजों के समक्ष घुटने टेकते हुए मीरकासिम के पक्ष में नवाब की गद्दी दी। मीरकासिम नया **नवाब** घोषित हुआ और 1760 ई. की **दूसरी क्रान्ति** बिना रक्तपात के सम्पन्न हो गयी। मीरजाफर ने 15,000 रुपया मासिक पेंशन पर कलकत्ता में रहना स्वीकार कर लिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. मीरजाफर साहसहीन और व्यक्ति था।
2. शाहजादा अलीगौहर जो बाद में द्वितीय के नाम से मुगल बादशाह बना।
3. बेदरा के युद्ध में डचों की हुई।
4. क्लाइव के बाद को बंगाल की अंग्रेजी कंपनी का अस्थायी गवर्नर बना दिया गया।

1.2 मीरकासिम तथा बंगाल का तृतीय विद्रोह (Mir Qasim and the Third Revolt of Bengal)

मीरकासिम, मीरजाफर का दामाद था। वह 1756 ई. और उसके बाद के समय में हुए बंगाल के नवाबों में सर्वाधिक योग्य था। उसने अंग्रेजों को बर्दवान, मेदिनीपुर और चटगाँव की जागीर दी, दक्षिण के युद्ध में सहायतार्थ अंग्रेजों को पाँच लाख रुपये दिये तथा उस धन को भी देने का वायदा किया जो सन्धि की शर्तों के अनुसार मीरजाफर अंग्रेजों को नहीं दे सका था। मीरकासिम ने कम्पनी के प्रमुख अंग्रेज अधिकारियों को उपहारस्वरूप लगभग 17 लाख रुपये दिये, जिनमें वान्सीटार्ट को 5 लाख रुपये, हॉलवेल को 2.7 लाख रुपये, कर्नल केलॉड को 2 लाख रुपये तथा अन्य व्यक्तियों को दिये गये 7 लाख रुपये सम्मिलित थे।

मीरकासिम ने अपने सभी वायदों को पूरा किया। नवाब बनते ही उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया। वह जानता था कि नवाब की शक्ति को स्थापित करने के लिए कुशल शासन और भरा हुआ खजाना आवश्यक है और उसने

नोट

इसके लिए प्रयत्न आरम्भ किये। मीरकासिम ने देखा कि मालगुजारी ठीक तौर पर वसूल नहीं हो रही थी। सेना में सैनिकों को कई महीनों से तनख्वाहें नहीं दी गयी थीं जिस कारण सेना कभी भी विद्रोह कर सकती थी। राज्य के कर्मचारियों में भ्रष्टाचार, घूसखोरी बहुत फैल गई थी। इन सबके लिए मीरकासिम ने निम्नलिखित उपाय किये—

- (1) प्रथम, उसने आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न किया। नवाब ने एक नये विभाग द्वारा गोलमोल हिसाब की जाँच कराई और जिन अधिकारियों ने गबन किया था उन पर बड़े-बड़े जुर्माने किये गये। साथ ही अधिकारियों को बेईमानी से संचित किये धन को खजाने में जमा करने के लिए बाध्य किया। नवाब मीरकासिम ने कुछ नवीन कर—‘अवाब’ लगाये तथा पुराने करों पर 3/32 भाग अतिरिक्त कर के रूप में लगाया।
- (2) मीरकासिम ने राज्य की आर्थिक दशा सुधारने के लिए स्थानीय जमींदारों, रईसों और जगत सेठ जैसे धनाढ्य व्यापारियों से कर्जा लिया। उसने राज्य के व्यय को नियन्त्रित किया तथा अपव्यय को रोका।
- (3) मीरकासिम ने अपनी सैन्य व्यवस्था को सुधारने के साथ इसका गठन यूरोपीय पद्धति पर करने का निश्चय किया। साथ ही वह अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से मुंगेर ले गया जहाँ उसने गोला-बारूद तैयार करना और सैनिकों को यूरोपियन तरीके से युद्ध-शिक्षा देना आरम्भ किया। इस कार्य में उसे एक आर्मीनियन अधिकारी गुर्गिनखाँ और एक मुस्लिम अधिकारी मुहम्मद तकौखाँ से विशेष सहायता मिली। उसने प्रशासन और दरबार के व्यय को कम किया तथा कम्पनी के कर्जे और सैनिकों के वेतन को पूरी तरह चुकता किया।
- (4) उसने असन्तुष्ट सरदारों को समझा-बुझाकर अपनी तरफ कर लिया और योग्य पदाधिकारियों की नियुक्ति की।
- (5) मीरकासिम ने अपने खिलाफ षड्यन्त्र कर रहे बिहार के उपसूबेदार रामनारायण, जिसे अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त था, को पहले गवर्नर वान्सीटार्ट की सहमति से निलम्बित कर दिया और बाद में उसे राज्य की सेवा से बर्खास्त कर दिया और अन्ततः मार डाला।

इस प्रकार उसने वे सभी कार्य किये जो एक योग्य और कुशल शासक (नवाब) से अपेक्षित थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. मीरकासिम, मीरजाफर का था।

(अ) पुत्र	(ब) दामाद
(स) भाई	(द) मित्र
6. मीरकासिम ने कंपनी के प्रमुख अंग्रेज अधिकारियों को उपहारस्वरूप लगभग रुपये दिये।

(अ) बीस लाख	(ब) पंद्रह लाख
(स) सत्रह लाख	(द) सोलह लाख
7. मीरकासिम के अपनी सैन्य व्यवस्था का गठन पद्धति पर करने का निश्चय किया।

(अ) भारतीय	(ब) यूनानी
(स) यूरोपीय	(द) फ्रांसीसी
8. अंग्रेजों एवं मीरकासिम के बीच झगड़े का प्रमुख कारण का प्रश्न था।

(अ) युद्ध	(ब) सत्ता
(स) पद	(द) धन

1.3 बक्सर युद्ध के कारण एवं परिणाम

(Causes and Result of Buxer Battle)

मीरकासिम की योग्यता ही उसके पतन का कारण बन गयी। मीरकासिम ने अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बनने से इन्कार कर दिया जिसे अंग्रेज सहन न कर सके जिसके कारण नवाब और अंग्रेजों के बीच झगड़े के विभिन्न कारण उपस्थित हो गये—

(1) **बंगाल की सत्ता का प्रश्न**—मीरकासिम और अंग्रेजों के बीच झगड़े का प्रमुख कारण सत्ता का प्रश्न था। मीरकासिम ने अपने वायदे को पूरा कर दिया था, वह बंगाल के शासन को दृढ़ कर रहा था और अपने कर्तव्यों को ठीक प्रकार से जानता था। साथ ही, मीरकासिम अपने अधिकारों को भी समझता था। वह अंग्रेज कम्पनी के हाथों में कठपुतली बनने को तत्पर न था जबकि अंग्रेज यह चाहते थे कि नवाब उनके इशारों पर कार्य करे। अंग्रेजों को एक योग्य परन्तु उन पर निर्भर करने वाले नवाब की तलाश थी जो असम्भव था। इस कारण अंग्रेजों ने योग्य के स्थान पर एक दुर्बल शासक को पसन्द किया और मीरकासिम से उनका झगड़ा हो गया।

(2) **शाहजादे 'शाहजादा' का प्रश्न**—मुगल बादशाह आलमगीर द्वितीय की 1760 ई. में हत्या कर दी गयी। इस अवसर पर मुगल शाहजादा बिहार में था। उसने अपने को शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगल बादशाह घोषित कर दिया। उसने अंग्रेजों से बातचीत की और अंग्रेजों ने उसे पटना बुला लिया। अंग्रेज उस समय शाहआलम की सहायता करके उससे कुछ लाभ प्राप्त करने की योजना बना रहे थे और उन्होंने मीरकासिम को परामर्श दिया कि वह एक घोषणा करके शाहआलम को मुगल बादशाह स्वीकार कर ले। मीरकासिम को शंका हुई कि शाहआलम को मुगल बादशाह स्वीकार कर लेने की स्थिति में यदि अंग्रेजों ने शाहआलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सूबेदारी ले ली, तो वह उनका विरोध नहीं कर सकेगा और यदि करेगा भी तो अपने ही द्वारा स्वीकार किये हुए मुगल बादशाह के विरुद्ध विद्रोही माना जायेगा। इस कारण वह चाहता था कि जब शाहआलम उसके राज्य की सीमाओं को छोड़कर चला जाए तभी वह उसे मुगल बादशाह स्वीकार करे। परन्तु जब अंग्रेजों ने उसे यह धमकी दी कि यदि नवाब यह घोषणा नहीं करेगा तो वह स्वयं ही इस कार्य को कर देंगे तब मीरकासिम को बाध्य होकर यह घोषणा करनी पड़ी। वह शाहआलम से मिलने पटना भी गया। शाहआलम तो कुछ समय पश्चात् मराठों की सहायता और आश्वासन पाकर दिल्ली चला गया परन्तु इस घटना ने मीरकासिम और अंग्रेजों के बीच सन्देश एवं संघर्ष की भावना को जन्म दे दिया।

(3) **रामनारायण का मामला**—रामनारायण नवाब का नायब-दीवान था। नवाब उससे अप्रसन्न हो गया। वह भागकर अंग्रेजों की शरण में चला गया। नवाब ने उसे वापस माँगा। अभी तक अंग्रेजों की नीति यह रही थी कि वे नवाब के डर से भागे हुए सभी व्यक्तियों को अपने यहाँ शरण दे देते थे और उन्हें नवाब को वापस नहीं करते थे। इस अवसर पर कम्पनी का गवर्नर एक सज्जन व्यक्ति वान्सीटार्ट था जिसने रामनारायण को नवाब को वापस सौंप दिया। इससे मीरकासिम को कुछ मनोबल प्राप्त हुआ और वह अंग्रेजों के विरुद्ध कार्य करने का साहस कर सका।

(4) **व्यापार का प्रश्न**—मीरकासिम और अंग्रेजों के झगड़े का मुख्य कारण आन्तरिक व्यापार पर लगे करों को लेकर शुरू हुआ। इसी के साथ यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ था कि बंगाल में वास्तविक शक्ति किसकी है? अंग्रेज कम्पनी बंगाल, बिहार और उड़ीसा में बिना कर दिये हुए व्यापार करती थी। मीरकासिम ने देखा कि अंग्रेज गुमाश्ते 'दस्तक' (बिना चुंगी के व्यापार का अधिकार-पत्र) का दुरुपयोग कर रहे हैं और चुंगी देना अपनी तौहीन समझते हैं। यही नहीं कम्पनी के कर्मचारी अपने 'दस्तकों' (Free Pass) को भारतीय व्यापारियों को बेच देते थे। इससे न केवल नवाब की आय में कमी होती थी बल्कि उसके शासन में दुर्बलता भी आती थी। क्योंकि जो धन चुंगी के रूप में नवाब को मिलता था उसका मिलना समाप्त होने लगा। इस कारण उसने इस असुविधा के सम्बन्ध में कम्पनी से एक निश्चित समझौता करने का प्रयत्न किया। गवर्नर वान्सीटार्ट और वारेन हेस्टिंग्स ने मुंगेर में नवाब से भेंट की और निर्णय किया कि कम्पनी के कर्मचारी भी वस्तुओं के आन्तरिक व्यापार (क्रय-विक्रय) पर 9% कर चुकाया करें तथा 'दस्तक' देने का अधिकार नवाब को ही होगा। साथ ही स्वीकार किया गया कि नवाब को ही समस्त मामलों पर निर्णय करने का अधिकार होगा, परन्तु कलकत्ता कौंसिल ने इस समझौते को अस्वीकार कर दिया।

नोट



सावधानी कोई समझौता न होने पर मीरकासिम ने 1762 ई. में सभी आन्तरिक कर हटा लिये और भारतीयों से भी व्यापारिक कर लेना समाप्त कर दिया जिससे सर्वप्रथम तो यह समस्या ही न रही और दूसरे भारतीय व्यापारी भी समानता के आधार पर अंग्रेज व्यापारियों की तरह हो गये। इससे नवाब के सूबों में प्रजा को सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध हो सकीं।

नवाब के इस कार्य से नवाब की आय में कमी अवश्य हुई परन्तु उसकी प्रजा और भारतीय व्यापारियों को लाभ हुआ। नवाब ने यह कार्य इसी हेतु किया था, परन्तु ऐसा करके नवाब ने अंग्रेजों के विशेषाधिकार को समाप्त कर दिया। अंग्रेजों को लाभ उसी दशा में था जबकि वे बिना कर दिये हुए व्यापार करते और भारतीयों को कर देना पड़ता। इस कारण कलकत्ता कौंसिल ने भारतीयों पर पुनः व्यापारिक कर लगाने की माँग की। नवाब ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार नवाब की व्यापारिक नीति का यही निर्णय अंग्रेजों और नवाब के बीच झगड़े (**बक्सर के युद्ध**) का प्रमुख कारण बना।

बक्सर का युद्ध (The Battle of Buxer)

अंग्रेजों ने अब मीरकासिम के विरुद्ध भी षड्यन्त्र करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने निश्चित किया कि पदच्युत नवाब मीरजाफर को पुनः गद्दी पर बैठाया जाये। मीरकासिम ने अपने विरुद्ध किये जा रहे षड्यन्त्र का पता चलने पर प्रथम प्रहार करना उचित समझा। पहले छुटपुट लड़ाइयाँ हुईं। 10 जून, 1763 ई. को मेजर एडम्स सेना लेकर नवाब के विरुद्ध चला। 4 सितम्बर को '**ऊदवा नाला**' नामक स्थान पर आ गया। किन्तु विश्वासघात के कारण नवाब की सेना तीन स्थानों पर परास्त हो गयी। मीरकासिम वहाँ से मुंगेर और फिर पटना की ओर चला गया। अंग्रेजों ने शीघ्र ही मुंगेर के किलेदार अरब अली खाँ को धन देकर मुंगेर जीत लिया और पटना की ओर बढ़े। इससे पूर्व जून 1763 में मीरकासिम ने पटना में अंग्रेजों को हराया था और अंग्रेज अफसर ऐमयाट को मार दिया था। उस समय अंग्रेजों का नेतृत्व ऐलिस कर रहा था। निराशा के इन्हीं क्षणों में नवाब पटना गया जहाँ अंग्रेज अफसर ऐलिस से उसका मुख्य झगड़ा था। पटना की तरफ अंग्रेजों को आते देख नवाब क्रुद्ध हो गया और उसने अनेक अंग्रेजों और भारतीय बागियों को अपने एक जर्मन अधिकारी '**समरू**' के द्वारा कत्ल कर दिया जिसमें अंग्रेज अधिकारी ऐलिस, राजा रामनारायण, दो सेठ बन्धु, जगत-सेठ, रायनारायण, उम्मीद राय, राजा राजवल्लभ आदि प्रमुख रूप से सम्मिलित थे। इस घटना को भारतीय इतिहास में '**पटना का हत्याकाण्ड**' कहकर पुकारा जाता है। परन्तु अंग्रेजों ने पटना पर भी कब्जा कर लिया और नवाब मीरकासिम अपनी कुछ सेना, तोपखाने और धन को लेकर अवध भाग गया।

डॉलवेल ने लिखा है कि "कम्पनी और नवाब के बीच युद्ध इच्छाओं का परिणाम न होकर परिस्थितियों के कारण था।" परन्तु यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यापार के प्रश्न और ऐलिस के व्यवहार के कारण नवाब का जो झगड़ा अंग्रेजों से हुआ, वह परिस्थितिवश माना जा सकता है परन्तु उसके पश्चात् जो बक्सर का युद्ध हुआ उसके बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मीरकासिम ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सहायता माँगी और उसकी सेना के व्यय हेतु 11 लाख रुपया प्रति माह देना स्वीकार किया। शुजाउद्दौला ने इस अवसर को बंगाल में अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए उपयुक्त समझा और वह मीरकासिम को उसकी गद्दी वापस दिलाने में सहायता देने के लिए तैयार हो गया। मुगल बादशाह शाहआलम भी उस समय अवध में था और वह भी आक्रमण में सम्मिलित हो गया। 1764 ई. में **मीरकासिम** अवध के नवाब और **मुगल बादशाह** के वजीर **शुजाउद्दौला** और स्वयं मुगल बादशाह **शाहआलम** की सम्मिलित सेनाओं ने बिहार की सीमाओं में प्रवेश किया। अंग्रेजों की ओर से **मेजर हेक्टर मुनरो** (Hector Munro) ने इस सेना का मुकाबला किया और 23 अक्टूबर, 1764 ई. को प्रसिद्ध **बक्सर का युद्ध** हुआ। नवाब और मुगल बादशाह की सेनाओं की पराजय हुई। 3 मई, 1765 ई. को कड़ा में एक युद्ध और हुआ और इसके पश्चात् अवध का नवाब और मुगल बादशाह अंग्रेजों के कदमों में हो गये। मीरकासिम वहाँ से भाग गया और 1777 ई. में दिल्ली के निकट बहुत निर्धनता की स्थिति में उसकी मृत्यु हुई।

नोट

इलाहाबाद की सन्धि (Treaty of Allahabad)

बक्सर के युद्ध से पराजित होने से अवध के नवाब और मुगल सम्राट की शक्ति और प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। युद्ध की विजय से प्रेरित होकर क्लाइव जो दूसरी बार कम्पनी का गवर्नर बनकर भारत पहुँचा था, इलाहाबाद गया।



नोट्स वहाँ क्लाइव ने 16 अगस्त, 1765 ई. को मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय और अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जिसे 'इलाहाबाद की सन्धि' के नाम से पुकारा जाता है।

इस सन्धि की निम्न शर्तें थीं—

(क) शाहआलम के साथ—

- (1) शाहआलम ने क्लाइव को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी।
- (2) कम्पनी ने मुगल सम्राट को 26 लाख रुपया वार्षिक पेंशन देना स्वीकार कर लिया।
- (3) कम्पनी ने नवाब शुजाउद्दौला से कड़ा और इलाहाबाद के जिले लेकर शाहआलम को दे दिये।

(ख) शुजाउद्दौला के साथ—

- (1) अवध के नवाब को उसका राज्य वापस दे दिया गया।
- (2) नवाब शुजाउद्दौला ने कम्पनी को क्षतिपूर्ति के लिए 50 लाख रुपये दे दिये।
- (3) बनारस का राजवंश स्वीकार कर अवध राज्य के अधीन माना गया।
- (4) युद्ध के समय सब एक-दूसरे की मदद करेंगे।

(ग) बंगाल के नवाब के साथ—

- (1) बंगाल के नवाब से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी लेकर कम्पनी को दे दी गई।
- (2) कम्पनी ने नवाब को 53 लाख रुपया वार्षिक पेंशन देना स्वीकार किया।

युद्ध के परिणाम (Result of the Battle)

बक्सर का युद्ध प्लासी के युद्ध से अधिक महत्वपूर्ण था। इससे अंग्रेजी साम्राज्य की नींव हमेशा के लिए भारत में पड़ गयी। ब्रूम (Broome) ने लिखा था—“इस प्रकार बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध समाप्त हुआ जिस पर भारत का भाग्य निर्भर था और जो जितनी बहादुरी से लड़ा गया, परिणामों की दृष्टि से भी उतना ही महत्वपूर्ण था।”



उदाहरण प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का स्वामित्व दिया था परन्तु बक्सर के युद्ध ने अवध के नवाब और मुगल बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला तथा स्वयं मुगल बादशाह को भी अंग्रेजों की दया पर छोड़ दिया।

मुगल बादशाह शक्तिशाली न था परन्तु वह नाम का मुगल बादशाह अवश्य था। इस युद्ध से अंग्रेजों का यश सम्पूर्ण भारत में फैल गया। अब बंगाल का नवाब उनके हाथों की कठपुतली, अवध का नवाब उन पर निर्भर करने वाला मित्र और मुगल बादशाह उनका पेंशनर बन गया। अब अंग्रेजों के लिए दिल्ली का मार्ग साफ था और वे मराठों से संघर्ष के लिए तत्पर हुए जिस पर भारत का भाग्य निर्भर करता था। इस युद्ध के सम्बन्ध में मालेसन ने कहा था कि “चाहे आप इसे देशी तथा विदेशियों के बीच द्वन्द्व युद्ध समझें अथवा ऐसी सारगर्भित घटना जिसके परिणाम स्थायी तथा विशाल थे, बक्सर को सबसे निर्णायक युद्धों में गिना जायेगा।”

राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि सैनिक दृष्टि से भी बक्सर का युद्ध महत्वपूर्ण था। प्लासी का युद्ध शस्त्रों से नहीं बल्कि कूटनीति से जीता गया था, परन्तु बक्सर के युद्ध के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। अवध के नवाब और मुगल बादशाह की सम्मिलित सेना की संख्या 40,000 से 60,000 के बीच में थी जबकि अंग्रेजों की सेना में

नोट

केवल 7,072 सैनिक थे। यह युद्ध भीषणता से लड़ा गया और दोनों तरफ से काफी बड़ी संख्या में सैनिक और अधिकारी मारे गये थे। इसमें 847 अंग्रेज सैनिक और 2000 सैनिक संयुक्त सेना के हाथों मारे गये या घायल हुए। इस प्रकार यह युद्ध अंग्रेजों की सैनिक श्रेष्ठता और सफलता का प्रमाण था। बक्सर के युद्ध ने प्लासी के युद्ध के निर्णयों पर पक्की मुहर लगा दी। भारत में अब अंग्रेजों को चुनौती देने वाला कोई दूसरा नहीं बचा था।



क्या आप जानते हैं बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध 23 अक्टूबर, 1764 ई. में हुआ जिसमें अंग्रेजों से नबाब तथा मुगल बादशाह की सेना पराजित हुई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. नबाब के भारतीयों पर से व्यापार-कर समाप्त करने से अंग्रेजों को लाभ हुआ।
10. अंग्रेजों ने मुंगेर के किलेदार अरब अली खाँ को धन देकर मुंगेर जीत लिया।
11. अंग्रेजों को पटना की तरफ आता देख मीरकासिम ने अनेक अंग्रेजों एवं भारतीय बागियों को कत्ल करवा दिया।
12. इलाहाबाद संधि के अनुसार नबाब शुजाउद्दौला ने कंपनी युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में एक लाख रुपये दिये।

1.4 मीरजाफर का द्वितीय कार्यकाल और अंग्रेजी आधिपत्य

(Mir Jafar : Second Tenure and the British Rule)

जुलाई 1763 ई. में ही मीरजाफर को दुबारा बंगाल का नबाब बना दिया गया था। उसने अंग्रेजों के कहने से भारतीयों पर पुनः व्यापारिक कर लगा दिया और मीरकासिम से युद्ध करने के बदले में भी अंग्रेजों को धन दिया। नन्दकुमार को उसका मन्त्री बनाया गया यद्यपि कुछ समय पश्चात् ही अंग्रेज उस पर सन्देह करने लगे। मीरजाफर के समय में बंगाल में पुनः अव्यवस्था फैलने लगी। 5 फरवरी, 1765 ई. को मीरजाफर की मृत्यु हो गयी।

मीरजाफर की मृत्यु के पश्चात् कलकत्ता कौंसिल ने उसके दूसरे पुत्र नज्मुद्दौला को, जो अभी बच्चा ही था, नबाब बनाया। नवनियुक्त नबाब से अंग्रेजों ने एक सन्धि की जिसके द्वारा नबाब की सेना प्रायः समाप्त कर दी गयी और नबाब के पदाधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार अंग्रेजों ने ले लिया। इस प्रकार अंग्रेज एक प्रकार से बंगाल, बिहार और उड़ीसा के मालिक बन गये। उसी समय नन्दकुमार को मन्त्री के पद से हटा दिया गया क्योंकि वह मुगल बादशाह से नवनियुक्त नबाब के लिए सन्धि प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था जिसकी आज्ञा उसने अंग्रेजों से प्राप्त नहीं की थी। बंगाल के शासन की स्थिति दिन-प्रतिदिन दुर्बल होती गयी। कम्पनी के कर्मचारियों की बेईमानी और धनलोलुपता ने बंगाल के सूबे को ही नष्ट नहीं किया। वरन् अंत में कंपनी की स्थिति को भी खराब कर दिया। ऐसी स्थिति में कंपनी के डाइरेक्टरों ने क्लाइव को दुबारा बंगाल में अंग्रेज कंपनी का गवर्नर बनाकर भेजा। धीरे-धीरे बंगाल की नवाबी के सब अधिकार कंपनी के हाथ में चले गए और वारेन हेस्टिंग्स के शासनकाल तक नवाबी समाप्त कर दी गयी।



टास्क मीरजाफर (नबाब) की दुर्बलता पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

नोट

1.5 सारांश (Summary)

- मीरजाफर साहसहीन और अयोग्य व्यक्ति था। वह बंगाल का नाममात्र का शासक रहा। वास्तविक सत्ता कम्पनी के हाथों में थी। वास्तव में वह लार्ड क्लाइव के हाथ की कठपुतली मात्र था।
- 1759 ई. में डचों ने बंगाल पर आक्रमण किया। 'बेदरा (Battle of Bedara) के युद्ध' में डचों की पराजय हुई और उन्होंने अंग्रेजों को क्षतिपूर्ति के रूप में धन देना स्वीकार किया।
- फरवरी 1760 ई. में क्लाइव भारत से इंग्लैण्ड वापस गया और उसी वर्ष मीरजाफर को गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य किया गया। मीरजाफर को बंगाल के नवाब की गद्दी पर से हटाये जाने के निम्नलिखित कारण थे—
(क) मीरजाफर की दुर्बलता, (ख) सन्धि की शर्तों के अनुसार अंग्रेजों को धन देने में मीरजाफर की असमर्थता, (ग) नवाब के प्रति हॉलवेल का रुख, (घ) नवाब का डचों से पत्र-व्यवहार करना, (ङ) अंग्रेजों की धन प्राप्त करने की लालसा।
- मीरकासिम, मीरजाफर का दामाद था। वह 1756 ई. और उसके बाद के समय में हुए बंगाल के नवाबों में सर्वाधिक योग्य था।
- मीरकासिम की योग्यता ही उसके पतन का कारण बन गयी। मीरकासिम ने अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बनने से इन्कार कर दिया जिसे अंग्रेज सहन न कर सके जिसके कारण नवाब और अंग्रेजों के बीच झगड़े हो गये।
- अंग्रेजों ने अब मीरकासिम के विरुद्ध भी षड्यन्त्र करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने निश्चित किया कि पदच्युत नवाब मीरजाफर को पुनः गद्दी पर बैठाया जाये।
- जुलाई 1763 ई. में ही मीरजाफर को दुबारा बंगाल का नवाब बना दिया गया था। उसने अंग्रेजों के कहने से भारतीयों पर पुनः व्यापारिक कर लगा दिया और मीरकासिम से युद्ध करने के बदले में भी अंग्रेजों को धन दिया।

1.6 शब्दकोश (Keywords)

- अवाब—नवाब मीरकासिम द्वारा लगाये गये नवीन कर।
- सारगर्भित घटना—महत्वपूर्ण घटना।
- कूटनीति—छिपी हुई चाल (नीति), गुप्त नीति।

1.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- मीरजाफर तथा बंगाल के द्वितीय विद्रोह के कारणों का उल्लेख करें।
अथवा
मीरजाफर के नवाब पद से हटाये जाने के कारणों का उल्लेख करें।
- मीरकासिम एक योग्य एवं कुशल शासक था, इस कथन को स्पष्ट करें।
- नवाब बनने पर मीरकासिम ने राज्य-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए क्या-क्या उपाय किये?
- बक्सर युद्ध एवं युद्ध के कारणों की विवेचना करें।
- इलाहाबाद की संधि एवं बक्सर युद्ध के परिणामों की समीक्षा करें।
- मीरजाफर के द्वितीय कार्यकाल में अंग्रेजों का बंगाल पर आधिपत्य कैसे हुआ? वर्णन करें।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|------------------|----------------|--------------|
| 1. अयोग्य | 2. शाहआलम | 3. पराजय | 4. हॉलवेल |
| 5. (ख) दामाद | 6. (ग) सत्रह लाख | 7. (ग) यूरोपीय | 8. (ख) सत्ता |
| 9. असत्य | 10. सत्य | 11. सत्य | 12. असत्य। |

1.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
2. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
3. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
4. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
5. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
6. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
7. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-2 : प्रिन्सली राज्य : राजनीतिक संरचना (Princely States : Political Structure)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 2.1 राजनीतिक व्यवस्था (Political Settlements)
- 2.2 शासन-सुधार (Administration Reforms)
- 2.3 बंगाल का द्वैध-शासन (1765-1772 ई.)
[The Dual Government System of Bengal (1765-1772 A.D.)]
- 2.4 क्लाइव का मूल्यांकन (Evaluation of Clive)
- 2.5 सारांश (Summary)
- 2.6 शब्दकोश (Keywords)
- 2.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 2.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- अंग्रेजों द्वारा की गई राजनीतिक व्यवस्था को समझने में;
- क्लाइव द्वारा किए गए शासन-सुधार को समझने में;
- बंगाल का द्वैध-शासन एवं क्लाइव को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्लासी के युद्ध (1757 ई.) के बाद फरवरी 1760 में क्लाइव अस्वस्थता के कारण इंग्लैण्ड वापस चला गया। यद्यपि अंग्रेजी कम्पनी ने बंगाल में सत्ता प्राप्त कर ली थी और उत्तर भारत की राजनीति में बक्सर के युद्ध (1764 ई.) के बाद कम्पनी का एक महत्वपूर्ण स्थान हो गया था, तथापि बंगाल की आन्तरिक और राजनीतिक स्थिति असंतोषजनक ही बनी हुई थी। बंगाल का प्रशासन पूर्णतया गड़बड़ था। कम्पनी के कर्मचारी धन-लोलुपता में इतने लिप्त हो गये थे कि कम्पनी का व्यापार ठप्प होता जा रहा था और जनता पर अत्याचार हो रहा था। बक्सर के युद्ध में पराजित शक्तियों से अंग्रेजों के सम्बन्ध निश्चित नहीं थे। उन्होंने कोई समझौता न तो मुगल बादशाह से किया था और न ही अवध के नवाब से। बंगाल के नवाब से भी कोई स्थायी समझौता न था। इस अवस्था में कम्पनी के संचालकों ने लॉर्ड क्लाइव को ही उस साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए भारत भेजा क्योंकि उसी ने अंग्रेजी साम्राज्य की भारत में नींव रखी थी। लॉर्ड क्लाइव को कम्पनी ने भारत में अंग्रेजी प्रदेशों का मुख्य सेनापति और

नोट

गवर्नर बना कर भेजा। उसे कलकत्ता के 'सिलेक्ट कमेटी' का प्रेसीडेण्ट भी बनाया गया। इस कमेटी के चार अन्य सदस्य—मि. साइक्स, मि. सुमनेर, मि. वेरेलेस्ट और जनरल करनक रखे गये। नई व्यवस्था के अनुसार मई 1765 में क्लाइव दुबारा अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बनकर अपना पदभार ग्रहण करने कलकत्ता पहुँचा।

जिस समय क्लाइव गवर्नर बनकर आया उसके समक्ष अनेक राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक समस्याएँ थीं। बक्सर के युद्ध में पराजित सम्राट शाहआलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ सम्बन्ध निश्चित नहीं थे। बंगाल का नवाब अल्पायु था। अतएव बंगाल, बिहार और उड़ीसा के शासन का प्रबन्ध भी कम्पनी का ही उत्तरदायित्व बन गया था। इसके अतिरिक्त कम्पनी के कर्मचारियों में जो भ्रष्टाचार व्याप्त था, उसे भी समाप्त करने की आवश्यकता थी और सैनिक-सुधार भी उस समय आवश्यक बन गये थे। इसी कारण सरकार और दत्त ने लिखा है—“उसने एजियन के अस्तबल को साफ करने का निश्चय किया।” क्लाइव ने इन सभी कार्यों को सम्पन्न किया और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन कार्यों को करने में उसका प्रमुख उद्देश्य भारत में कम्पनी की सत्ता को दृढ़ करना था।

2.1 राजनीतिक व्यवस्था (Political Settlements)

सर्वप्रथम लॉर्ड क्लाइव ने बक्सर के युद्ध में पराजित शक्तियों के साथ सम्बन्ध निर्धारित करने का फैसला लिया। इसके लिए वह अवध गया तथा इलाहाबाद में नवाब वजीर शुजाउद्दौला से भेंट की। क्लाइव ने मुगल सम्राट शाहआलम, जो अंग्रेजी संरक्षण में था, से भी भेंट की।



क्या आप जानते हैं? क्लाइव ने अवध के नवाब और मुगल सम्राट के साथ अगस्त 1765 में सन्धियों पर हस्ताक्षर किये, जो इलाहाबाद की सन्धि के नाम से विख्यात है।

(अ) अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सन्धि

(Treaty with Nawab of Avadh, Shujaudaula)

बक्सर के युद्ध में शुजाउद्दौला की पराजय हुई थी और एक प्रकार से वह भी अंग्रेजों का कैदी था। इस अवसर पर अंग्रेज स्वयं अवध पर अधिकार कर सकते थे अथवा अवध को मुगल बादशाह शाहआलम को दे सकते थे जैसा कि वानसीटार्ट का इरादा था, परन्तु क्लाइव ने ऐसा नहीं किया। मुगल बादशाह को अवध देना व्यर्थ था क्योंकि वह बिना अंग्रेजों की सहायता के उस पर अपना अधिकार कायम नहीं रख सकता था। इसके अतिरिक्त मराठे निरन्तर अवध की सीमाओं पर आक्रमण करते जिससे अंग्रेजों को खतरा बना रहता। इसी प्रकार, यदि अंग्रेज स्वयं ही अवध को अपने अधिकार में ले लेते तो न केवल नवाब शुजाउद्दौला ही अंग्रेजों का स्थायी शत्रु बन जाता और मराठों के साथ मिल जाता अपितु मराठे भी अवध पर आक्रमण करने के लिए लालायित होते। इस कारण यहाँ पर भी क्लाइव ने कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। वह अवध गया और अवध के नवाब से इलाहाबाद के स्थान पर भेंट की तथा 16 अगस्त, 1765 को दोनों के मध्य 'इलाहाबाद की सन्धि' की। इस सन्धि में निम्नलिखित शर्तें सम्मिलित थीं—

- (i) शुजाउद्दौला को अवध के प्रदेश वापस दे दिये गये।
- (ii) नवाब ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए कम्पनी को 50 लाख रुपये देना स्वीकार किया।
- (iii) नवाब ने कड़ा और इलाहाबाद के जिले मुगल बादशाह शाहआलम को दे दिये।
- (iv) चुनार पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया गया।
- (v) बनारस और गाजीपुर की जागीर अंग्रेजों के संरक्षण में राजा बलवन्तसिंह और उनके परिवार को पैतृक जागीर के रूप में दे दी गयी।
- (vi) नवाब ने अपने राज्य की सीमा में अंग्रेजों को बिना कर दिये व्यापार करने की सुविधा प्रदान की; और

नोट

(vii) नवाब ने एक अतिरिक्त सन्धि द्वारा अपनी सेनाओं की सुरक्षा के लिए अंग्रेजों की सहायता लेना स्वीकार किया। कम्पनी उसे राज्य की सीमाओं की रक्षा हेतु सैनिक सहायता देगी, परन्तु इसके लिए सेना का खर्च नवाब को देना होगा।

इस प्रकार अवध के साथ की गयी सन्धि कम्पनी के लिए और भी अधिक लाभदायक थी। शुजाउद्दौला अंग्रेजों का मित्र बन गया जिससे अंग्रेजों की बंगाल की सीमाएँ मराठा आक्रमणों से सुरक्षित हो गयीं। अंग्रेजों ने उससे व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करके और उसे सैनिक सहायता के समझौते में सम्मिलित करके उसे अपने ऊपर आश्रित कर लिया।



नोट्स रैमजे म्योर ने लिखा है—“तब से अवध के साथ निकट-मित्रता के सम्बन्ध रखना अंग्रेजों की स्थायी नीति हो गयी जो मराठों की बढ़ती हुई शक्ति के मार्ग में एक ऐसी बाधा थी जो अंग्रेजों के लिए लाभदायक थी।”

(ब) मुगल सम्राट शाहआलम से समझौता

(Treaty with Mughal Emperor Shah Alam)

राजनीति क्षेत्र में क्लाइव को मुगल बादशाह, अवध के नवाब और बंगाल के नवाब से समझौते करने थे। बक्सर के युद्ध में पराजित होकर शाहआलम अंग्रेजों की दया पर निर्भर कर रहा था और एक प्रकार से अंग्रेजों का कैदी था। यद्यपि उसके पास न शक्ति थी, न भूमि और न प्रभाव परन्तु तब भी वह नाममात्र के लिए मुगल बादशाह अवश्य था जिसका उपयोग अंग्रेज कर सकते थे। क्लाइव के सामने कई विकल्प थे। **प्रथम** वह आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर सकता था, परन्तु इससे अंग्रेजों का उत्तरदायित्व एकदम बढ़ जाता जिसके निर्वहन की शक्ति उस समय उनमें न थी। इससे उनका संघर्ष मराठों से भी हो सकता था और ऐसी स्थिति में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के लिए भी संकट उपस्थित होने की सम्भावना थी। इस कारण क्लाइव ने ऐसा नहीं किया। **दूसरा विकल्प** यह हो सकता था कि मुगल बादशाह को दिल्ली जाने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता। इसमें भी एक कठिनाई थी। शाहआलम के दिल्ली जाते ही मराठे उसे अपने हाथों की कठपुतली बना लेते और अंग्रेज अपनी विजय से कोई लाभ प्राप्त करने की स्थिति में न रहते। इस कारण क्लाइव ने यह कार्य करना भी उचित न समझा। एक **तीसरा विकल्प** वान्सीटार्ट का सुझाव था और इसके लिए उसने मुगल बादशाह से वायदा भी कर दिया था। वान्सीटार्ट ने मुगल बादशाह को अवध देने का वायदा किया था। उसका ख्याल था कि कम्पनी की सीमाओं के निकट बादशाह की सीमाएँ होने से कम्पनी की अधिक सुरक्षा होगी। परन्तु इस मार्ग को क्लाइव ने अत्यन्त खतरनाक समझा और मुगल बादशाह को अवध देने से इन्कार कर दिया। मुगल बादशाह ने उस पर वचन-भंग का आरोप भी लगाया परन्तु क्लाइव ने कहा कि क्योंकि इस विषय में बादशाह से कोई लिखित सन्धि नहीं की गयी थी अतएव मौखिक वायदे का कोई मूल्य नहीं है। क्लाइव का विचार था कि यदि अवध मुगल बादशाह को दिया गया तो मराठे उसे अपने अधिकार में करने के लिए निरन्तर अवध पर आक्रमण करते रहेंगे जिससे अंग्रेजों को निरन्तर खतरा बना रहेगा। इस कारण उसने इस तीसरे विकल्प को भी स्वीकार नहीं किया।

इलाहाबाद की दूसरी सन्धि (अगस्त 1765) में मुगल सम्राट शाहआलम के और क्लाइव के मध्य सम्पन्न हुई। यहाँ भी क्लाइव ने अपनी कूटनीतिज्ञता और विवेक का परिचय देते हुए मध्य मार्ग अपनाया। इस सन्धि में निम्न शर्तें थीं—

- (i) अवध से कड़ा और इलाहाबाद के जिले लेकर मुगल बादशाह को दे दिये गये;
- (ii) 12 अगस्त, 1765 के शाही फरमान के अनुसार, मुगल बादशाह ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी स्थायी रूप से अंग्रेजों को दे दी;
- (iii) इसके बदले में अंग्रेजों ने मुगल बादशाह को 26 लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार किया; और
- (iv) अंग्रेजों ने हैदराबाद के उत्तर के जिलों ‘उत्तरी-सरकार’ को जागीर के रूप में मुगल बादशाह से प्राप्त कर लिया।

नोट

उपर्युक्त व्यवस्था से अंग्रेजों को पूर्ण लाभ था। मुगल बादशाह को अंग्रेजों के मित्र-राज्य अवध की सीमाओं के अन्तर्गत रहने के लिए बाध्य किया गया जिससे उसके मराठों के हाथों में फैसने की आशंका न रही और अंग्रेज आवश्यकतानुसार उसके नाम का प्रयोग अपने हित की पूर्ति के लिए कर सकते थे। एक प्रकार से क्लाइव ने सम्राट को कम्पनी का पेंशनर बना दिया और वह कम्पनी की 'रबर-स्टैम्प' के अतिरिक्त कुछ नहीं रहा।

(स) बंगाल के नवाब के साथ समझौता (Treaty with Nawab of Bengal)

मुगल बादशाह के साथ किये गये 12 अगस्त, 1765 ई. के समझौते के अनुसार अंग्रेजों को 26 लाख रुपये वार्षिक के बदले बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अर्थात् लगान लेने और असैनिक न्याय करने की शक्ति प्राप्त हुई। शान्ति-व्यवस्था और फौजदारी का न्याय अर्थात् 'निजामत के कार्य' उस समय भी नवाब के हाथों में रहे, जिसके व्यय के लिए अंग्रेजों ने नवाब को 52,86,13,190 रुपये देना स्वीकार किया। इस समझौते से इन सूबों में दोहरे या द्वैध-शासन स्थापित हुआ। यद्यपि अंग्रेजों ने सूबे के शासन के अधिकारी को दो भागों में बाँटकर केवल एक ही भाग को अपने हाथ में रखा था परन्तु वस्तुतः ये सूबे अंग्रेजों के हाथ में चले गये थे और नवाब नाममात्र का शासक रहा गया था क्योंकि फरवरी 1765 में नवाब मीरजाफर की मृत्यु के बाद उसके पुत्र नजमुद्दौला को अंग्रेजों ने नवाब की गद्दी पर बैठाया, किन्तु शर्त यह थी कि वह निजामत के कार्य पूर्णतया कम्पनी के हाथों में सौंप देगा। उसने दीवानी सम्बन्धी कार्य भी एक डिप्टी सूबेदार के हाथों में सौंप दिये, जिसे कम्पनी ने मनोनीत किया था। शासन का अधिकार उसी का था जिसके पास धन था और धन की सत्ता अंग्रेजों के हाथ में चली गयी थी। वस्तुतः बंगाल का नवाब अंग्रेजों का पेंशनर बन गया था।

इस प्रकार क्लाइव ने राजनीतिक समस्याओं को हल किया। निस्सन्देह, इसमें उसने अपनी कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया था। बक्सर के युद्ध ने अचानक अंग्रेजों के सम्मुख इतने मार्ग खोल दिये थे और स्वयं की शक्ति में वृद्धि करने की इतनी सम्भावनाएँ प्रस्तुत कर दी थीं कि उन सबका उत्तरदायित्व सँभालने की शक्ति अंग्रेज कम्पनी में नहीं थी। क्लाइव ने अपनी शक्ति की सीमाओं को देखते हुए ऐसा प्रबन्ध किया जिससे अंग्रेजों को विशेष उत्तरदायित्व न उठाना पड़े भारत तथा यूरोप में अंग्रेजों के विरुद्ध एकदम ईर्ष्या की भावना जागृत न हो जाए और अंग्रेज कम्पनी को अनावश्यक युद्धों में न उलझना पड़े। इनको छोड़कर जिस प्रकार भी अंग्रेजों के हितों की सुरक्षा सम्भव थी वह उसने इन राजनीतिक समझौतों के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया।



सावधानी

इन सभी समझौतों को करने में क्लाइव का उद्देश्य कम्पनी की सीमाओं को विस्तृत करने की बजाय बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं की पूर्ण सुरक्षा करना था जो अंग्रेज कम्पनी की शक्ति का मूल आधार था। इसमें सन्देह नहीं कि क्लाइव के इन समझौतों ने इस उद्देश्य की पूर्ति की थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. बक्सर के युद्ध में शुजाउद्दौला की हुई।
2. अवध के नवाब ने कड़ा और इलाहाबाद के जिले मुगल बादशाह को दे दिये।
3. नवाब मीरजाफर के बाद उसके नाबालिग पुत्र नजमुद्दौला को ने नवाब की गद्दी पर बैठाया।
4. बंगाल का नवाब सही अर्थों में अंग्रेजों का बन गया।

2.2 शासन-सुधार (Administration Reforms)

शासन-सुधार के सन्दर्भ में क्लाइव को राजनीतिक समझौतों की अपेक्षा अधिक कठिनाई उठानी पड़ी। इस सम्बन्ध में उसे असैनिक और सैनिक दोनों ही प्रकार के सुधार करने थे और जो सुधार उसने किये उनका विरोध हुआ, परन्तु अपनी दृढ़ता के कारण उसने इन कार्यों में भी सफलता प्राप्त की।

नोट

(अ) असैनिक सुधार (Non-army Reforms)

एक मुख्य समस्या कम्पनी के कर्मचारियों की थी। जिन परिस्थितियों में वे कार्य कर रहे थे उनमें उनका पूर्ण नैतिक पतन हो चुका था। उन्हें अपना स्वयं का व्यापार करने का अधिकार था जिसके कारण वे कम्पनी के व्यापार की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। वे 'दस्तकों' (Free Pass) को भारतीय व्यापारियों को बेचकर लाभ कमाते थे। उन्हें भारतीयों से उपहार और रिश्वत लेने की आदत पड़ गयी थी और बंगाल के नवाब को बदलना अत्यन्त लाभप्रद एवं उपहार प्राप्त करने का अवसर समझा जाता था। इस प्रकार अपनी धनलोलुपता के कारण वे उत्तरदायित्वहीन और भ्रष्टाचारी बन गये थे और कम्पनी के आदेशों के बावजूद भी उपहार आदि लेना बन्द नहीं कर रहे थे। इसके अतिरिक्त बंगाल में पुराने अंग्रेज कर्मचारियों की कमी थी, यहाँ तक कि सैनिकों को वेतन बाँटने वाला अधिकारी जिसके पास लगभग बीस लाख रुपया रहता था, एक क्लर्क ही होता था। क्लाइव ने इस स्थिति में सुधार करने का निश्चय किया। उसने आते ही निम्नलिखित सुधार किये—

- (i) कम्पनी के सभी सैनिक और असैनिक कर्मचारियों से उसने इस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करवाये कि वे भविष्य में कोई उपहार या रिश्वत नहीं लेंगे और शासन में ईमानदारी से कार्य करेंगे। इससे रिश्वतखोरी की प्रथा कम हो गई।
- (ii) उसने मद्रास से पुराने कर्मचारियों को बंगाल बुलाया और बंगाल के नवीन कर्मचारियों को मद्रास भेज दिया। इसका बहुत विरोध हुआ परन्तु क्लाइव की दृढ़ता के कारण यह विरोध समाप्त हो गया। इससे एक ओर जहाँ बड़ी संख्या में स्वार्थी कर्मचारियों को बंगाल से हटा दिया, वहीं दूसरी ओर मद्रास के कुछ योग्य कर्मचारी बंगाल आ गये जिससे बंगाल का प्रशासन सुधर गया।
- (iii) क्लाइव जानता था कि कम्पनी के कर्मचारी के भ्रष्टाचार का एक मुख्य कारण उनके द्वारा निजी व्यापार किया जाना है। वे 'दस्तक' को भारतीय व्यापारियों को बेचकर धन कमाते हैं। अतः क्लाइव ने कम्पनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार पर रोक लगा दी। परन्तु इन प्रतिबन्धों से जो हानि होने लगी उसकी क्षतिपूर्ति और उनकी आय में वृद्धि करने के लिए 'व्यापारिक एकाधिपत्य' की एक योजना बनायी। 10 अगस्त, 1765 ई. में एक 'व्यापार-सभा' या समिति (Society for Trade) की स्थापना की गयी जिसे तम्बाकू, सुपारी और नमक के व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया। उस व्यापार से जो लाभ होता था उसे विभिन्न सैनिक और असैनिक अंग्रेज अधिकारियों में उनके पद के क्रमानुसार बाँटने की व्यवस्था की गयी। परन्तु क्लाइव की इस योजना को डायरेक्टरों ने स्वीकार नहीं किया। इस कारण सितम्बर 1768 ई. में यह योजना स्थगित कर दी गई।
- (iv) क्लाइव इस बात को भी समझता था कि कर्मचारियों के घूस लेने और भ्रष्टाचार का एक कारण उनके वेतनों का कम होना भी है। इसलिए क्लाइव ने कम्पनी के कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि का प्रस्ताव रखा, किन्तु कम्पनी के संचालकों ने इसे अस्वीकृत कर दिया।

(ब) सैनिक सुधार (Army Reforms)

सैनिक सेवाओं के विषय में क्लाइव को और भी अधिक कठिनाई हुई। सैनिक अफसरों को जो भत्ते प्राप्त होते थे उनमें कमी करने के आदेश क्लाइव को डायरेक्टरों से प्राप्त हुए थे, परन्तु यह कार्य सरल न था। ये भत्ते कर्नाटक के युद्ध के समय में आरम्भ हुए थे जबकि चाँदा साहब और मुहम्मदअली ने क्रमशः फ्रान्सीसियों और अंग्रेजों को ये भत्ते (Allowances) दिये थे। बंगाल में भी ये भत्ते पहले नवाब के द्वारा दिये गये थे, परन्तु अब उन्हें कम्पनी को देना पड़ रहा था और एक प्रकार से ये भत्ते सैनिक अधिकारियों के वेतन के अंग बन गये थे। इस प्रकार, बंगाल के सैनिक मद्रास के सैनिकों से अधिक वेतन पाते थे। जनवरी 1766 में क्लाइव ने कम्पनी के डायरेक्टर्स की आज्ञानुसार यह 'दोहरा भत्ता' बन्द करने का आदेश दिया। इनके सम्बन्ध में क्लाइव ने निम्नलिखित नियम बनाये—

- (i) मुंगेर और पटना की छावनियों में रहने वाले अधिकारियों को आधा भत्ता दिया जायेगा (यह भत्ता कम्पनी को देना पड़ता था);
- (ii) जब सैनिक अधिकारी छावनी से बाहर परन्तु बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं के अन्तर्गत ही कार्य करने जायेंगे तो उन्हें पूरा भत्ता मिलेगा (यह भत्ता बंगाल के नवाब को देना था); और

नोट

- (iii) जब सैनिक अधिकारी बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं के बाहर कार्य करने जायेंगे तो उन्हें दुगना भत्ता दिया जायेगा। (यह भत्ता उस भारतीय नरेश के द्वारा दिया जाता था जिसकी सहायता के लिए अंग्रेजी सेना इन सूबों की सीमा के बाहर जाती थी।)

एक कैप्टन के लिए यह भत्ता क्रमशः 3, 6 और 12 रुपये प्रतिदिन होता था। अंग्रेज सैनिक अधिकारियों ने इसका तीव्र विरोध किया और अनेक अधिकारियों ने मिलकर अपने त्यागपत्र दे दिये। क्लाइव ने साहस से इसका मुकाबला किया और सभी त्यागपत्र स्वीकार कर लिये। उसने फौरन मद्रास के सैनिक अधिकारी बुलाये। क्लाइव की दृढ़ता के कारण यह 'श्वेत-विद्रोह' (White Mutiny) समाप्त हो गया। अनेक अफसरों ने माफी माँग ली। क्लाइव ने उनमें से कुछ को स्वदेश भेज दिया और अधिकांश को इस शर्त पर माफ कर दिया कि यदि अगले तीन वर्षों में उन्होंने पुनः ऐसा व्यवहार किया तो उन्हें मृत्युदण्ड दिया जायेगा।

(स) अवकाश-प्राप्त कर्मचारियों की पेंशन का प्रबन्ध

(Arrangement of pension for Retired Servicemen)

कम्पनी के कर्मचारियों को वृद्धावस्था में कोई पेंशन नहीं मिलती थी। इस कारण नौकरी से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् उनको बहुत कठिनाई होती थी। साथ ही उनके आश्रितों, विधवाओं, बच्चों को तो और भी कष्ट उठाने पड़ते थे। इसको भी दूर करने के कुछ प्रयत्न क्लाइव ने किये। मीरजाफर ने अपनी मृत्यु के अवसर पर व्यक्तिगत रूप से पाँच लाख रुपया क्लाइव को दिया था। क्लाइव ने उसे स्वीकार कर लिया और अपने नाम से एक फण्ड 'क्लाइव-कोष' (Clive's Fund) स्थापित किया। उस धन को व्यापार में लगाया और उससे होने वाली आय से अवकाशप्राप्त कर्मचारियों एवं उनके आश्रितों को पेंशन देने की व्यवस्था की गयी।

इस प्रकार क्लाइव ने अपने थोड़े से समय में विभिन्न शासन-सुधार किये। उसके सैनिक-सुधारों से कम्पनी के व्यय में कमी हुई, उसकी अवकाशप्राप्त कर्मचारियों को पेंशन की व्यवस्था भी लाभदायक सिद्ध हुई, परन्तु उसके असैनिक सुधार व्यर्थ हुए। कर्मचारियों ने ईमानदारी के प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर तो कर दिये परन्तु किसी ने भी उसे गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया। उपहार, बेईमानी, व्यक्तिगत व्यापार की बुराइयाँ आदि पहले की भाँति ही चलती रहीं। इसी प्रकार, तम्बाकू, सुपारी और नमक के व्यापार की उसकी एकाधिकार की योजना से बंगाल के निवासियों की इन आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई जबकि जिस उद्देश्य से इसे आरम्भ किया गया था उस उद्देश्य की पूर्ति में यह योजना तनिक भी सहायक नहीं हुई। इस प्रकार क्लाइव की सुधार-योजना बहुत सफल स्वीकार नहीं की जा सकती।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. क्लाइव की दृढ़ता के कारण विद्रोह समाप्त हो गया।
 (क) जन (ख) श्वेत
 (ग) राज्य (घ) शासन
6. जनवरी 1766 में क्लाइव ने 'दोहरा भत्ता' करने का आदेश दिया।
 (क) बंद (ख) शुरू
 (ग) स्थगित (घ) सामान्य
7. अवकाशप्राप्त कर्मचारियों की पेंशन-व्यवस्था भी सिद्ध हुई।
 (क) आरामदायक (ख) लाभदायक
 (ग) हानिप्रद (घ) गलत
8. मीरजाफर ने अपनी मृत्यु के समय व्यक्तिगत रूप से क्लाइव को रु. दिए थे।
 (क) दस लाख (ख) चार लाख
 (ग) पाँच लाख (घ) नौ लाख

2.3 बंगाल का द्वैध-शासन (1765-1772 ई.)

नोट

[The Dual Government System of Bengal (1765-1772 A.D.)]

जब क्लाइव दुबारा अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बनकर भारत आया उस समय मीरकासिम को गद्दी से उतार दिया गया था, मीरजाफर की मृत्यु हो चुकी थी और एक छोटा बच्चा नजमुद्दौला बंगाल का नवाब था। बक्सर के युद्ध में पराजित हो जाने के कारण अवध का नवाब शुजाउद्दौला अंग्रेजों की दया पर निर्भर था और मुगल बादशाह शाहआलम अंग्रेजों से सुरक्षा पाने के लिए उत्सुक था तथा उस सुरक्षा के बदले में अपनी नाममात्र की भारत की सम्प्रभुता का प्रयोग अंग्रेजों की इच्छानुसार करने को तत्पर था।

द्वैध-प्रणाली का अर्थ (The Meaning of Dual-System)

12 अगस्त, 1765 ई. के मुगल बादशाह के एक फरमान (आदेश-पत्र) के द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेज कम्पनी को दे दी गयी और इसके बदले में कम्पनी ने 26 लाख रुपया प्रतिवर्ष मुगल बादशाह को देना स्वीकार किया। साथ ही वसूल किये गये लगान में से 53 लाख रुपये बंगाल के नवाब को भी निजामत कार्य के लिये देने थे। इस प्रकार अंग्रेज कम्पनी इन सूबों के लिए मुगल बादशाह की ओर से दीवान बन गयी और इन सूबों से लगान वसूल करने तथा असैनिक न्याय की देखभाल करने का अधिकार उसे प्राप्त हुआ। निजामत अर्थात् शासन (शान्ति-व्यवस्था, बाह्य आक्रमण से रक्षा) करना और फौजदारी का न्याय बंगाल के नवाब के अधिकार में ही रहा।



नोट्स शासन को इन दो भागों में बाँटकर दो विभिन्न शक्तियों के हाथों में दे देने के कारण ही इस शासन को दोहरा शासन या 'द्वैध-शासन' (Dual Government) कहते हैं।

द्वैध-शासन के कारण (Causes of Dual-System)

क्लाइव ने इस विषय में डूप्ले के अनुभवों से लाभ उठाने का प्रयत्न किया था। जब दक्षिण की राजनीति में हस्तक्षेप करके डूप्ले ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक सत्ता को अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया था तब अंग्रेजों को अपने हितों की रक्षा करने के लिए डूप्ले के कार्यों में बाधा डालने की आवश्यकता हुई थी। इस कारण क्लाइव ने प्रत्यक्ष राजनीतिक शक्ति कम्पनी के हाथों में नहीं ली जिससे अन्य भारतीय नरेशों को कम्पनी से ईर्ष्या न हो। उसे यह भी मालूम था कि मुगल बादशाह के द्वारा दिये गये अधिकार का वास्तव में उस समय तक कोई मूल्य न था जब तक अंग्रेज कम्पनी अपनी शक्ति के प्रयोग से उसे लाभदायक न बनाये। परन्तु वह यह जानता था कि इस प्रकार मुगल बादशाह से यह अधिकार प्राप्त करके उसने इस अधिकार को कानूनी रूप प्रदान कर दिया था जिसका विरोध कानूनी आधार पर न तो भारत में हो सकता था और न किसी यूरोप के न्यायलय में। इस प्रकार कम्पनी के दीवानी के अधिकार को प्राप्त करने से न तो इंग्लैण्ड को यूरोप में कोई कठिनाई हो सकती थी और न ब्रिटिश पार्लियामेण्ट कम्पनी के कार्यों में हस्तक्षेप करने का बहाना तलाश कर सकती थी। इस प्रकार क्लाइव ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी को प्राप्त करके इन सूबों के आधिपत्य को इस ढंग से प्राप्त कर लिया कि न तो कम्पनी को किसी प्रकार की कानूनी कठिनाई हुई और न ही किसी प्रकार का शासन का उत्तरदायित्व कम्पनी पर आया, जबकि वे इन सूबों से आर्थिक लाभ पूरी तरह से प्राप्त कर सके।

द्वैध-शासन : व्यावहारिक रूप में (Dual-System : In Practice)

जब कम्पनी इन सूबों के लिए दीवान बन गयी तब उससे आशा की जाती थी कि कम से कम शासन के एक भाग का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व वह सँभालेगी अर्थात् कम्पनी स्वयं ही लगान वसूल करेगी, उसकी उचित व्यवस्था करेगी और असैनिक न्याय का प्रबन्ध करेगी, परन्तु क्लाइव की ऐसी इच्छा न थी। वह कम्पनी पर कोई भी प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व डालने को तैयार न था। इस कारण कम्पनी ने दो नाइब-दीवान नियुक्त किये—बंगाल के लिए मुहम्मद रजाखाँ और

नोट

बिहार के लिए राजा शिताबराय। ये नाइब-दीवान कलकत्ता में रहकर कार्य नहीं करते थे बल्कि क्रमशः मुर्शिदाबाद और पटना में रहकर कार्य करते थे। इस प्रकार कम्पनी ने अपना उत्तरदायित्व दो भारतीय अधिकारियों को सौंप दिया। दीवानी का कार्य तो ये अधिकारी करते थे जबकि कम्पनी की रुचि अधिक से अधिक आय प्राप्त करने में थी। वह आय कैसे होगी, इसका उत्तरदायित्व उसके इन दो नाइब-दीवानों पर था।

निजामत के अधिकार नवाब के हाथों में थे जिसके व्यय के लिए कम्पनी को 53 लाख रुपये की धनराशि नवाब को भी देनी थी। परन्तु स्पष्ट था कि नवाब इस विषय में कुछ भी नहीं कर सकता था क्योंकि उसके सूबों में सैनिक शक्ति कम्पनी की ही थी। आन्तरिक शान्ति और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए नवाब कम्पनी पर निर्भर था। इस कारण कानूनी तरीके से जो अधिकार नवाब को दिये गये थे, वास्तव में उनका प्रयोग भी कम्पनी ही कर सकती थी। इसके अतिरिक्त, क्योंकि बंगाल का नवाब अल्पायु था, अतएव कम्पनी ने नवाब की ओर से उसके कार्यों की देखभाल करने के लिए एक नाइब-निजाम की नियुक्ति की और नाइब-निजाम भी मुहम्मद रजाख़ाँ को ही नियुक्त किया गया जो कम्पनी की ओर से नाइब-दीवान भी था। इस प्रकार बंगाल, बिहार और उड़ीसा के शासन का उत्तरदायित्व वास्तव में अंग्रेज कम्पनी के कर्मचारी मुहम्मद रजाख़ाँ पर चला गया जो सूबे का नाइब-दीवान और नाइब-निजाम दोनों था। वही 1772 ई. तक इन सूबों के शासन के लिए उत्तरदायी हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण शक्ति के होते हुए और इन सूबों की समस्त आय पर अधिकार करके भी अंग्रेज कम्पनी ने शासन का कोई उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया। **सरकार और दत्त** के शब्दों में, “यह दोहरी प्रथा कम्पनी की उत्तरदायित्व नहीं ग्रहण करने की इच्छा का फल था।” यह द्वैध शासन की व्यवस्था 1772 में वारेन हेस्टिंग्स के आने तक चलती रही।

इस प्रकार दीवानी को प्राप्त करने के उपरान्त भी अंग्रेज कम्पनी ने उन सूबों की शासन-व्यवस्था को स्पष्टतः अपने हाथों में नहीं लिया। वास्तविक सत्ता कम्पनी की थी लेकिन शासन उस समय भी उन भारतीयों के हाथों में था जो कम्पनी के नियन्त्रण में थे परन्तु कम्पनी से दूर रहकर अपनी इच्छानुसार शासन करते थे। कम्पनी इन भारतीय कर्मचारियों पर हर सम्भव दबाव डाल सकती थी परन्तु फिर भी इन्हीं को शासन के दोषों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता था।



टिप्पणी क्लाइव द्वारा किये गये सैनिक-सुधार पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

द्वैध-प्रणाली के दोष (Demerits of Dual-System)

बंगाल का द्वैध-शासन प्रारम्भ से जहाँ कम्पनी को लाभदायक सिद्ध हुआ, वहीं बंगाल पर और अन्ततः कम्पनी पर इसके दुष्परिणाम पड़े। बंगाल में अराजकता की सी स्थिति थी। 1767 ई. में क्लाइव के वापस लौटने पर इस व्यवस्था के दोष स्पष्ट रूप से दिखने लगे। इसमें कम्पनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापार के दोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये क्योंकि अब उन पर बन्धन या अंकुश लगाने वाला कोई न था।



उदाहरण अंग्रेजों ने ‘दस्तकों’ का इतना अधिक दुरुपयोग किया कि न केवल राज्य की आय ही कम होने लगी बल्कि भारतीय व्यापारियों को अंग्रेजों के मुकाबले व्यापार करना असम्भव हो गया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सम्पूर्ण आन्तरिक व्यापार पर कम्पनी के कर्मचारियों का अधिकार हो गया और भारतीय व्यापारी नष्ट हो गये।

स्वयं क्लाइव ने कॉमन्स सभा में कहा था—“कम्पनी के व्यापारी एक व्यापारी की भाँति व्यापार न करके सम्प्रभु के समान व्यापार करते थे तथा उन्होंने ऐसे हजारों व्यापारियों के मुँह से रोटी छीन ली थी जो पहले व्यापार करते थे लेकिन अब भीख माँगने के लिए बाध्य हो गये थे।” इस व्यवस्था के निम्नलिखित दोष निकल कर सामने आये—

(अ) **उद्योग-धन्धों का हास**—इस शासन में भारतीयों के उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। कम्पनी ने अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग बंगाल के रेशम उद्योग को नष्ट करने के लिए किया। 1769 ई. में कम्पनी संचालकों ने कच्चे सिल्क के उत्पादन को बढ़ाने और रेशमी वस्त्र तैयार करने को समाप्त करने के आदेश कर्मचारियों

नोट

को दिये। इसी प्रकार सूती कपड़े का उद्योग भी नष्ट हो गया। कम्पनी के गुमाशते (प्रतिनिधि) भारतीय जुलाहों को एक निश्चित समय में निश्चित प्रकार का कपड़ा बनाने के लिए बाध्य करते थे और अपनी इच्छानुसार उन्हें मूल्य देते थे। अनेक कारीगरों के अँगूठे काट दिये गये क्योंकि वे गुमाशतों की माँग की पूर्ति ठीक समय पर न कर सके अथवा उनकी कीमत को स्वीकार न कर सके। अनेक कारीगर बंगाल छोड़कर चले गये। कुछेक ने व्यवसाय छोड़कर कृषि, मजदूरी करना प्रारम्भ कर दिया या संन्यासी और डाकू बन गये। बंगाल का मुख्य उद्योग कपड़ा था और इसी उद्योग को अपनी बेईमानी और अत्याचार के कारण अंग्रेजों ने नष्ट कर दिया।

- (ब) **कृषि का हास**—इस शासन के अंतर्गत कृषि नष्ट हो गयी। भूमि प्रति वर्ष उन ठेकेदारों को दे दी जाती थी जो अधिक-से-अधिक लगान देने का वायदा करते थे। क्योंकि वे जानते थे कि अगले वर्ष वह भूमि उन्हें प्राप्त हो भी सकती थी और नहीं भी, इस कारण वे उस भूमि से अधिक-से-अधिक लगान वसूल करना चाहते थे जिससे सरकार का हिस्सा चुकाने के पश्चात् उनका लाभ अधिकाधिक हो। कम्पनी भी अधिक से अधिक आय कमाना चाहती थी और ठेकेदारों से अधिक-से-अधिक माँग करती थी। इस प्रकार कम्पनी और ठेकेदारों की लगान की माँग निरन्तर बढ़ती गयी जिसका अन्तिम भार किसानों पर पड़ा। इस कारण कृषकों और कृषि की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती गयी। कम्पनी और ठेकेदार दोनों ही भूमि की उन्नति में रुचि नहीं रखते थे। अतएव उसमें उन्नति या सुधार का प्रश्न उपस्थित ही नहीं हुआ। किसान खेती छोड़कर भाग गये अथवा चोर बन गये तथा खेती के योग्य भूमि जंगल में परिवर्तित हो गयी।
- (स) **प्रशासनिक अव्यवस्था**—निजामत की कमजोरी से कानून और व्यवस्था पूर्णरूपेण ठप्प हो गई। नवाब में कानून लागू करने की और जनता को न्याय देने की क्षमता शेष नहीं रही थी, जबकि दूसरी ओर कम्पनी इस उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करती थी। ग्रामीण क्षेत्रों में डाकू और लुटेरे खुलकर घूमते थे। संन्यासी छापामार के रूप में घूमने लगे जिससे अराजकता जैसी स्थिति हो गयी थी। सभी कर्मचारी चाहे वे नवाब के हों या कम्पनी के, भ्रष्टाचार और धनलोलुपता की चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। 1858 ई. में **जॉर्ज कॉर्नवालिस** ने कहा था कि, “मैं निश्चयपूर्वक यह कह सकता हूँ कि 1765-84 ई. तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार से अधिक भ्रष्ट, झूठी और बुरी सरकार संसार के किसी भी सभ्य देश में नहीं थी।”

प्रबन्धकों की नियुक्ति (Appointment of Supervisors)

इन दोषों के कारण कम्पनी की आय में कमी हुई। उसे लगान से पर्याप्त आय नहीं हुई और उसके व्यापार को हानि हुई। 1769 ई. में इस स्थिति में सुधार करने के लिए कम्पनी ने अपनी तरफ से प्रबन्धकों (Supervisors) की नियुक्ति की। बंगाल को 30 जिलों में विभाजित किया गया तथा प्रत्येक जिले में एक अंग्रेज प्रबन्धक की नियुक्ति की गयी। प्रबन्धकों का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लगान वसूल करना था। उन्हें न्याय की देखभाल करने और किसानों को अत्याचार से बचाने का उत्तरदायित्व भी सौंपा गया, लेकिन इस व्यवस्था से कोई लाभ नहीं हुआ। इसके कई कारण थे। प्रबन्धकों को लगान या न्याय-व्यवस्था के लिए प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व नहीं दिया गया था। उन्हें केवल भारतीय कर्मचारियों के कार्य की देखभाल के लिए ही नियुक्त किया गया था। ये प्रबन्धक कम्पनी की कलकत्ता कौंसिल के अधीन न थे जो कम्पनी की सबसे बड़ी शक्ति थी बल्कि इन्हें मुर्शिदाबाद के रेजिडेण्ट के अधीन रखा गया था। इस प्रकार कम्पनी की वास्तविक शक्ति उस समय भी किसी भी प्रकार लगान से सम्बन्धित न थी। 1770 ई. में एक ‘लगान-समिति’ मुर्शिदाबाद के रेजिडेण्ट की सहायता के लिए और दूसरी पटना के रेजिडेण्ट की सहायता के लिए नियुक्त की गयी और ये लगान-समितियाँ इतनी अधिक शक्तिशाली हो गयीं कि इन्होंने कलकत्ता कौंसिल की भी परवाह करनी छोड़ दी। इसके अतिरिक्त प्रबन्धकों को व्यक्तिगत व्यापार करने की सुविधा दी गयी। इस कारण उन्होंने अपने अधिकारों का प्रयोग व्यक्तिगत व्यापार के लाभार्थ किया।

द्वैध-शासन के परिणाम (Results of Dual-System)

द्वैध-शासन के परिणाम बहुत हानिकारक हुए। उस काल में व्यक्तिगत व्यापार के दोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये। उस समय में किसानों, व्यापारियों और विभिन्न उद्योगों में भाग लेने वाले व्यक्तियों की बहुत हानि हुई। वस्तुतः

नोट

व्यापार, उद्योग और कृषि नष्टप्राय हो गये। इन्हीं दोषों के कारण 1770 ई. में भयंकर अकाल पड़ा जिसमें बंगाल की करीब एक-तिहाई जनता समाप्त हो गयी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस अकाल का एक कारण किसानों से अत्यधिक लगान लिया जाना था और दूसरा कारण कम्पनी के कर्मचारियों की अधिकतम धन एकत्रित करने की लालसा थी। परन्तु इससे स्वयं कम्पनी की स्थिति अच्छी न रही। अकाल के समय भी 'भूमि-कर' का संग्रह दृढ़ता के साथ किया गया। कम्पनी के कर्मचारियों ने दैनिक उपयोग की वस्तुओं के दाम बढ़ाकर लाभ कमाया जबकि जनता बहुत कष्ट में थी।

इस प्रकार, कम्पनी के कर्मचारी व्यक्तिगत व्यापार करके धनवान हो गये थे, परन्तु 1765 ई. में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के समृद्ध सूबों की वस्तुतः मालिक बनने के पश्चात् भी 1770 ई. में कम्पनी दिवालिये की स्थिति में पहुँच गयी। कम्पनी का व्यापार नष्ट हो गया और उसकी आय में भारी कमी हो गयी, यहाँ तक कि कम्पनी ने इंग्लैण्ड की बैंक से 6,00,000 पौण्ड का कर्ज माँगा। इस प्रकार क्लाइव का द्वैध-शासन पूर्णतः असफल हुआ और जब 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्स अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बनकर बंगाल आया तब वह इस द्वैध-शासन को समाप्त करने के स्पष्ट आदेश लेकर आया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. जिस समय क्लाइव दोबारा गवर्नर बनकर भारत आया उस समय मीरकासिम बंगाल का नवाब था।
10. 1765 में मुगल बादशाह के फरमान के द्वारा बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी अंग्रेज कंपनी को दे दी गयी।
11. द्वैध-शासन काल में भारतीयों के उद्योग-धंधे नष्ट हो गए।
12. द्वैध-शासन के परिणाम बहुत लाभदायक हुए।

2.4 क्लाइव का मूल्यांकन (Evaluation of Clive)

रॉबर्ट क्लाइव एक साधारण क्लर्क के रूप में भारत आया था। वह 1742 ई. में कम्पनी में क्लर्क के रूप में भर्ती हुआ था 1751 ई. में सेना में उसे कैप्टन नियुक्त किया गया और धीरे-धीरे अपनी योग्यता के कारण वह कम्पनी के गवर्नर के पद तक (1757-60 ई.) पहुँच गया और उसकी सेवाओं के कारण उसे लॉर्ड के पद से विभूषित किया गया। क्लाइव में व्यक्ति की दृष्टि से अनेक गुण एवं अवगुण थे। वह साहसी, कूटनीतिज्ञ, कर्मठ, परिश्रमी और राष्ट्रभक्त था, परन्तु वह झूठा, धोखेबाज और रिश्तखोर भी था। तब भी कुल मिलाकर एक बात अवश्य कही जा सकती है कि उसे ब्रिटेन के गौरव में विश्वास था और उसने भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित करने में महत्वपूर्ण योग दिया। अंग्रेज इतिहासकारों ने उनकी प्रशंसा में अनेक बातें लिखी हैं। अर्ल ऑफ चेथम ने उसे 'ईश्वर द्वारा भेजा गया सेनापति' बताया था और मैकाले लिखता है—“हमारे टापू ने शायद ही किसी ऐसे व्यक्ति को जन्म दिया हो जो युद्ध और विचार-विमर्श में उससे बढ़कर हो।” परन्तु ये कथन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहे गये हैं। अर्काट के घेरे के अवसर पर क्लाइव ने साहस और दृढ़ता का परिचय अवश्य दिया था, परन्तु केवल यही उसे एक महान सेनापति सिद्ध नहीं करता। इसी प्रकार, प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की विजय का कारण क्लाइव का सेनापतित्व न होकर क्लाइव की षड्यन्त्रकारी योग्यता थी। इसी प्रकार, क्लाइव को एक योग्य शासन-प्रबन्धक भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। के.एम. पणिक्कर के शब्दों में, “1765 ई. से 1772 ई. तक कम्पनी द्वारा स्थापित बंगाल का राज्य एक डाकू-राज्य (Robber State) था।” इसका दोष भी मुख्यतः क्लाइव पर जाता है। स्पष्ट रूप से यह भी कहा जा सकता है कि क्लाइव दूरदर्शी न था। तत्कालीन परिस्थितियों का जो हल उसने निकाला था, उसमें स्थायित्व न था। इस कारण क्लाइव को ब्रिटेन का महानतम व्यक्ति स्वीकार करना अथवा उसे महान सेनापति स्वीकार करना सर्वथा

नोट

असम्भव है। एक व्यक्ति की दृष्टि से भी अमीचन्द से उसका व्यवहार, सिराजुद्दौला के विरुद्ध उसका षड्यन्त्र, मीरजाफर से उसका विभिन्न उपहार स्वीकार करना आदि सम्मानीय कार्य स्वीकार नहीं किये जा सकते।

परन्तु एक बात निस्सन्देह स्वीकार की जा सकती है कि क्लाइव भारत में अंग्रेजी राज्य का संस्थापक था। उसके साधन नैतिक अथवा आदर्शात्मक न थे, परन्तु वह प्रथम अंग्रेज था जिसने अंग्रेज कम्पनी को भारत में पहली बार राजनीतिक अधिकार दिलाये जिससे बाद में भारत में अंग्रेजी राज्य का निर्माण सम्भव हो सका। जिस समय उसने अपना कार्य आरम्भ किया था उस समय डूप्ले अपने प्रभाव की चरम सीमा पर था। डूप्ले ने हैदराबाद के निजाम से कृष्णा नदी के दक्षिण के भू-क्षेत्र में दीवानी के अधिकार प्राप्त कर लिये थे, अपने लिए नवाब की उपाधि प्राप्त कर ली थी और हैदराबाद तथा कर्नाटक में वह अपने समर्थकों को निजाम और नवाब बनाने में प्रायः सफल हुआ था। उस समय त्रिचनापल्ली के भाग्य ने, जहाँ मुहम्मदअली घिरा हुआ था, सम्भवतः दक्षिण में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों के भाग्य का निर्णय कर दिया होता। ऐसे अवसर पर जबकि फ्रान्सीसियों का प्रभुत्व अपनी चरम सीमा पर था और अंग्रेजों का प्रभाव निम्नतर स्तर पर था, क्लाइव ने अपना कार्य आरम्भ किया। उसने अर्काट का घेरा डाला और उसे जीत लिया तथा 53 दिन तक उसकी सुरक्षा करके दक्षिण में त्रिचनापल्ली, मुहम्मदअली और अंग्रेजों के भाग्य को बदल दिया। उसने दक्षिण में डूप्ले और फ्रान्सीसियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक दिया।

बंगाल में भी उसका कार्य उस समय आरम्भ हुआ था जबकि नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर अधिकार कर लिया था और अंग्रेज अपनी सुरक्षा हेतु फुल्ला द्वीप में भाग गये थे। क्लाइव ने कलकत्ता पर पुनः अधिकार किया, नवाब से अलीनगर की सन्धि की, हिन्दू सेठों और मीरजाफर से मिलकर षड्यन्त्र किया और अन्त में प्लासी के युद्ध में नवाब को परास्त करके बंगाल के भावी नवाब मीरजाफर को अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बना दिया। सिराजुद्दौला के पश्चात् बंगाल के सभी नवाब अंग्रेज कम्पनी के हाथ के खिलौने थे और जब नवाब मीरकासिम ने इसका विरोध किया तो उसे गद्दी छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। स्पष्ट था कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा की राजनीतिक सत्ता, वास्तव में, अंग्रेजों के हाथों में जा चुकी थी। सम्भवतः, स्वयं क्लाइव ने भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित करने का स्वप्न नहीं देखा था, परन्तु उसने ऐसे कार्य अवश्य किये थे जिनके कारण उसके उत्तराधिकारी भारत में अंग्रेजी राज्य का निर्माण कर सके। उसकी भूमिका बंगाल में ‘सम्राट-निर्माता’ (King-Maker) से कम नहीं थी। **अल्फ्रेड लायल** ने लिखा है—“भारत में साम्राज्य की स्थापना के लिए अंग्रेज सर्वाधिक उत्साही, साहसी और कभी भी पराजय स्वीकार न करने वाले व्यक्ति (क्लाइव) के ऋणी हैं।” प्लासी के युद्ध ने बक्सर के युद्ध की आधारशिला का कार्य किया था और जब तक क्लाइव दुबारा कम्पनी का गवर्नर होकर भारत आया तब तक फ्रान्सीसी तो क्या बंगाल का नवाब, अवध का नवाब और मुगल बादशाह का वजीर शजाउद्दौला और स्वयं मुगल बादशाह शाहआलम भी अंग्रेजों की दया के पात्र बन चुके थे। यह सब क्लाइव द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों के कारण ही सम्भव हुआ था। इसके अतिरिक्त कम्पनी के कर्मचारियों की सेवाओं में सुधार और अवध के नवाब तथा मुगल बादशाह के साथ किये गये समझौते भी उसकी कूटनीतिक योग्यता के प्रमाण थे।

कभी-कभी यह विचार प्रकट किया गया है कि क्लाइव ने डूप्ले के अनुभवों का लाभ उठाया था। डूप्ले से उसने भारतीय नरेशों की दुर्बलता समझी और उसकी राजनीति में हस्तक्षेप करके कम्पनी को प्रभावशाली बनाने का तरीका सीखा। डूप्ले के अनुभव से ही उसने यह सबक सीखा कि कम्पनी का प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना लाभप्रद नहीं होगा। उसी के अनुभव से उसने राजनीति में धीरे-धीरे बढ़ना सीखा। इस विचार में कुछ सत्यता अवश्य है परन्तु इस आधार पर हम नहीं कह सकते कि क्लाइव ने डूप्ले के अनुभवों से ही भारतीय राजनीति की शिक्षा ग्रहण की थी। क्लाइव में तत्कालीन परिस्थितियों को समझने की बुद्धि थी। अतएव डूप्ले से उसने जो कुछ सीखा, यह उसकी योग्यता का प्रमाण था। इसके अतिरिक्त, उसके स्वयं के विचार भी थे जो परिस्थितियों के अनुसार विकसित होते चले गये। क्लाइव के सम्मुख ऐसी भी अनेक परिस्थितियाँ आयी थीं जिनका हल उसे डूप्ले के अनुभवों से प्राप्त नहीं हो सका था। उन समस्याओं का हल उसने अपने ही कौशल से निकाला था। क्लाइव, निस्सन्देह, साहसी था और वह अपनी दुर्बलताओं को भी समझता था। इसी कारण जब इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट ने उस पर भ्रष्टाचार, झूठ आदि के आरोप लगाये तब उसने उन्हें स्वीकार किया, परन्तु उसने कहा कि यह सब कुछ

नोट

उसने राष्ट्र की भलाई के लिए किया था। **बर्क** (Burke) ने कहा था—“उसने महान कार्यों की नींव डाली। लॉर्ड क्लाइव ने गहरे पानी में प्रवेश किया जिसके तल का उसे ज्ञान न था। उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक पुल बनाया जिस पर लँगड़े घूम सकते थे और अन्धे अपना मार्ग तलाश कर सकते थे।” निःस्सन्देह, क्लाइव के कार्य ब्रिटेन के हित में रहे। इस कारण अंग्रेजों द्वारा उसका सम्मान किया जाना स्वाभाविक था, यह अन्य बात है कि भारतीयों के लिए वह एक नवीन दासता का प्रारम्भकर्ता था।

2.5 सारांश (Summary)

- जिस समय क्लाइव गवर्नर बनकर आया उसके समक्ष अनेक राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक समस्याएँ थीं। बक्सर के युद्ध में पराजित सम्राट शाहआलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ सम्बन्ध निश्चित नहीं थे।
- क्लाइव ने अवध के नवाब और मुगल सम्राट के साथ अगस्त 1765 में सन्धियों पर हस्ताक्षर किये, जो **इलाहाबाद की सन्धि** के नाम से विख्यात है।
- शासन-सुधार के सन्दर्भ में क्लाइव को राजनीतिक समझौतों की अपेक्षा अधिक कठिनाई उठानी पड़ी। इस सम्बन्ध में उसे असैनिक और सैनिक दोनों ही प्रकार के सुधार करने थे और जो सुधार उसने किये उनका विरोध हुआ, परन्तु अपनी दृढ़ता के कारण उसने इन कार्यों में भी सफलता प्राप्त की।
- 12 अगस्त, 1765 ई. के मुगल बादशाह के एक फरमान (आदेश-पत्र) के द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेज कम्पनी को दे दी गयी और इसके बदले में कम्पनी ने 26 लाख रुपया प्रति वर्ष मुगल बादशाह को देना स्वीकार किया। साथ ही वसूल किये गये लगान में से 53 लाख रुपये बंगाल के नवाब को भी निजामत कार्य के लिये देने थे।
- अंग्रेज कम्पनी इन सूबों के लिए मुगल बादशाह की ओर से दीवान बन गयी और इन सूबों से लगान वसूल करने तथा असैनिक न्याय की देखभाल करने का अधिकार उसे प्राप्त हुआ।
- शासन को इन दो भागों में बाँटकर दो विभिन्न शक्तियों के हाथों में दे देने के कारण ही इस शासन को दोहरा शासन या **‘द्वैध-शासन’** (Dual Government) कहते हैं।
- द्वैध-शासन के परिणाम बहुत हानिकारक हुए। उस काल में व्यक्तिगत व्यापार के दोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये। उस समय में किसानों, व्यापारियों और विभिन्न उद्योगों में भाग लेने वाले व्यक्तियों की बहुत हानि हुई।

2.6 शब्दकोश (Keywords)

- **श्वेत विद्रोह**—क्लाइव द्वारा बंगाल में सैनिकों के ‘दोहरा भत्ता’ बंद करने के विरोध में अंग्रेज सैनिक अधिकारियों द्वारा त्यागपत्र दिया जाना।
- **गुमाश्ते**— कम्पनी के प्रतिनिधि।
- **डाकू राज्य**— जहाँ लूट-खसोट एवं अराजकता फैली हो।

2.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. क्लाइव ने 1765 ई. में इलाहाबाद संधि किसके साथ की तथा इसके क्या परिणाम हुए?

अथवा

मुगल बादशाह शाहआलम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा बंगाल के नवाब से क्लाइव के क्या राजनीतिक समझौते हुए?

नोट

2. क्लाइव के द्वारा किये गये शासन-सुधारों का वर्णन करें।
3. क्लाइव द्वारा स्थापित बंगाल के द्वैध-शासन से आप क्या समझते हैं?
4. द्वैध शासन के दोष एवं परिणामों की विवेचना कीजिए।
5. क्लाइव का मूल्यांकन या चरित्र-चित्रण करें।
6. क्लाइव भारत में अंग्रेजी राज्य का संस्थापक था। इस कथन की समीक्षा करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|------------|----------------|-----------------|
| 1. पराजय | 2. शाहआलम | 3. अंग्रेजों | 4. पेंशनर |
| 5. (ख) श्वेत | 6. (क) बंद | 7. (ख) लाभदायक | 8. (ग) पाँच लाख |
| 9. असत्य | 10. सत्य | 11. सत्य | 12. असत्य। |

2.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
6. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।

नोट

इकाई-3 : प्रायद्वीपीय भारत में राजनीतिक तथा प्रशासनिक संस्थाएँ (Political and Administrative Institutions of Peninsular India)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 3.1 राज्य का सिद्धांत (Theory of State)
- 3.2 राजपद (Rajpada)
- 3.3 शासक और उसके मंत्री (King and its Minister)
- 3.4 केंद्रीय सोपानतंत्र (Central Hierarchy)
- 3.5 प्रांतों के अध्यक्ष तथा सामंत शासक (Head of States and Feudalism)
- 3.6 स्थानीय प्रशासन (Local Administration)
- 3.7 भूमि तथा राजस्व प्रशासन (Land and Revenue Administration)
- 3.8 सारांश (Summary)
- 3.9 शब्दकोश (Keywords)
- 3.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 3.11 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- राज्य के सिद्धांत एवं राजपद को जानने में;
- शासक और उसके मंत्री एवं केन्द्रीय सोपान तंत्र को जानने में;
- स्थानीय प्रशासन, राजस्व प्रशासन तथा पुलिस एवं न्याय प्रशासन को जानने में;
- सैनिक संगठन एवं उसके यंत्रजाल को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

ऋग्वेदकालीन प्रशासनिक संस्थाओं के राजनीतिक संगठन और स्वरूप में उत्तरकाल में परिवर्तन हो गए। यह पंजाब और उत्तर पश्चिम में सप्त सिंधु के देश से मध्यदेश की ओर आर्यों के प्रभाव के प्रसार तथा राज्य क्षेत्र के विस्तार

नोट

का परिणाम था। इस विस्तृत नए राज्य क्षेत्र में कानून तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक विशाल आधार वाले प्रशासनिक यंत्रजाल और एक दक्ष अधिकारी तंत्र (नौकरशाही) की आवश्यकता थी। जब कालक्रम में कुछ एक गणतंत्रीय राज्य उठ खड़े हुए, जिससे राजा की शक्तियों पर परोक्ष रीति से रोक लगाने की सुविधा हो गई, तब प्रशासन में जनता अधिक भाग लेने लगी।

जैसा कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से प्रकट है, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचारकों की प्रशासनिक यंत्रजाल के विकास में बहुत रुचि थी। उन्होंने प्रशासन के सब पक्षों—वित्तीय, सैन्य संबंधी और न्यायिक पक्षों—की और शासक की शक्तियों तथा कृत्यों की और प्रांतीय शासकों तथा सामन्तों (वासाल) के साथ उसके संबंधों की पड़ताल की। विधि (कानूनी) ग्रंथों और विभिन्न कालों तथा राजवंशों के उत्कीर्ण लेखों से प्रकाशन के अन्य कई पक्षों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। यह पूछा जा सकता है कि उस समय कानून का शासन था या जंगल का अथवा समुद्र का (मत्स्य न्याय)। समूचे देश के लिए प्रशासन की कोई एक ही पद्धति बता पाना कठिन है, क्योंकि प्रशासन के सब पक्षों के बारे में संबंधित जानकारी को विविध विचारकों के ग्रंथों से संगृहीत करना होगा। इन ग्रंथों में राजनीति, दंडनीति (प्रशासन और दंड) विषयक ग्रंथ तथा विभिन्न कालों के शासकों के उत्कीर्ण लेख सम्मिलित हैं। फिर, यह तो ठीक है कि भारत में पाश्चात्य अर्थों में राजनीतिक चिंतन की विचारधाराओं का अभाव रहा, फिर भी यहाँ ऐसे राजनीतिक विचारक अवश्य हुए, जिनकी रचनाओं ने राज्य के संगठन और उसके कामकाज को चलाने के विषय में व्यावहारिक सलाह प्रदान की। वैदिक साहित्य से प्रासंगिक रूप से प्राक्-बुद्ध काल के राजनीतिक जीवन तथा संस्थाओं के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है और बौद्ध जातकों से बौद्ध काल के, जो मोटे तौर पर छठी शताब्दी ईसा से शुरू हुआ, प्रशासन के बारे में बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, जिसका सही काल अनिश्चित है, राज्य के विज्ञान पर सबसे प्राचीन ग्रंथ है और इससे हमें प्रशासन के विस्तार का भी पता चलता है। हो सकता है कि इस ग्रंथ का वर्तमान रूप चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु तथा प्रधानमंत्री कौटिल्य द्वारा पहले लिखे गए ग्रंथ का रूपांतर हो। यह प्रशासन की पद्धति का, जिस रूप में लेखक ने उसकी परिकल्पना की है, सविस्तार अध्ययन है। इस प्रकार यह ग्रंथ, भले ही इसका काल कोई सा भी क्यों न हो, शासन (सरकार) और उसके यंत्रजाल के नियंत्रण के, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संगठन के, युद्ध के संचालन के तथा अन्य संबंधित विषयों के बारे में विस्तृत अनुदेश प्रदान करता है। महाकाव्य साहित्य—महाभारत के शांतिपर्व और वाल्मीकि की रामायण—में भी प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था के विषय पर पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। लगता है कि राजनीति तथा मानवीय आचार के विषय में कई असंबद्ध अंश बाद में प्रक्षिप्त किए गए हैं। गुप्तकाल तथा मध्यकाल के बीच में भी राज्य व्यवस्था से संबंधित अन्य बहुत से ग्रंथ लिखे गए। इनमें संभवतः गुप्तकाल में हुए कामन्दक का 'नीतिसार', ग्यारहवीं शताब्दी के जैन ग्रंथकार सोमदेव सूरी का 'नीतिवाक्यामृत', और शुक्र का 'नीतिशास्त्र' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से अंतिम पुस्तक को कुछ विद्वान बहुत बाद की रचना मानते हैं। राजनीतिक जीवन तथा विचार के विषयों में विशेष रूप से लिखी गई इन रचनाओं के अलावा ऋग्वेद के पश्चात् लिखे गए विपुल प्राचीन भारतीय साहित्य में से और उत्कीर्ण लेखों से भी बहुत-सी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मनु, नारद और विष्णु की तथा उनके परवर्ती काल की स्मृतियों से भी काफी जानकारी मिलती है।

राज्य के मामलों, शासन के कृत्यों और उसके संगठन के संबंध में प्राचीन भारतीय जीवन और विचार का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, विशेष रूप से राज्य के सिद्धांत के दैवीय अधिकार और सामाजिक संविदा के सिद्धांतों के और उसके (राज्य के) अनेक तत्वों (सप्तांग)—राजत्व, उसका विकास, राज्याभिषेक का ब्यौरा, निर्वाचन का तत्व, राजा की शक्तियाँ, नियंत्रण और संतुलन की पद्धति इत्यादि—के संदर्भ में किया जा सकता है। अध्ययन के अन्य क्षेत्रों में मंत्रिमंडल की कार्यपद्धति, प्रशासनिक सोपान तंत्र, प्रांतों के अध्यक्षों तथा अर्धसामंतीय शासकों की स्थिति, भूमि और उसका प्रशासन, सार्वजनिक वित्त, अपराध और दंड, दीवानी न्याय, गुप्तचर व्यवस्था स्वल्पतंत्रीय (ओलिगार्किकल) और गणतंत्रीय राज्य तथा उनका संगठन, नागरिक तथा ग्रामीण स्थानीय प्रशासन, सैनिक प्रशासन, और अंत में इसका एक सारांश सम्मिलित है। इन सब बातों की समुचित जानकारी प्राप्त करने के बाद अब हम राजनीतिक जीवन और संस्थाओं के इन सब पक्षों का अध्ययन प्राचीन भारत के विभिन्न कालों में उनके व्यावहारिक प्रयोग के संदर्भ में कर सकते हैं।

नोट

3.1 राज्य का सिद्धांत (Theory of State)

राज्य का सिद्धांत राजपद के मूल के साथ जुड़ा हुआ है। राज्य को एक ऐसे स्वाधीन संगठित समुदाय के रूप में, जिस पर अपने सदस्यों को बाह्य आक्रमण से बचाने और उनके कल्याण की देखभाल करने का दुहरा दायित्व है, इन कृत्यों को करने के लिए किसी एक अधिकरण को चुनना था। स्वभावतः राजा ही ऐसा था, जो इस जिम्मेदारी को उठा सकता था। उसके पद को पवित्रता प्रदान करने के लिए उस पर दिव्यता का एक प्रभामंडल आरोपित करना आवश्यक था। राजा का जन्म युद्ध के कारण हुआ। इस प्रकार राज्य और राजपद का विकास अराजकता और युद्ध की बुराइयों की अनिवार्यता के कारण और मानव चरित्र की स्वाभाविक दुष्टताओं के फलस्वरूप हुआ। वैदिक साहित्य तथा स्मृतियों में राजत्व और राज्य के दैवीय मूल और सामाजिक संविदा के सिद्धांतों के लिए साक्ष्य प्राप्त होता है। इनमें से पहला सिद्धांत ब्राह्मण ग्रंथों में (काल, 1000-800 ईसा पूर्व) खोजा जा सकता है। यहाँ राजपद को दैवीय स्वीकृति प्रदान की गई है और पार्थिव राजाओं को अमर देवताओं के शासक इन्द्र के तुल्य कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में दिए गए अनुष्ठानों में भी पार्थिव राजा की दैवीय नियुक्ति का विचार ध्वनित होता है। यह संकल्पना इन सभी युगों में चलती आई है। इस प्रकार मनु ने अपनी स्मृति (धर्मशास्त्र) में कहा है कि शिशु राजा को भी सामान्य मनुष्य मात्र समझकर उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य रूप में एक महान देवता होता है। किंतु कुछ सम्राटों ने अपेक्षाकृत अधिक विनम्रता दिखाई थी। अशोक (काल, 268-332 ईसा पूर्व) को देवताओं का प्रिय (देवानां प्रिय) कहा जाता था और कनिष्क (काल, 78-123 ईस्वी) तथा गुप्तवंश के शासक चंद्रगुप्त द्वितीय (काल, 380-413 ईस्वी) को देवपुत्र की उपाधि मिली थी।

राजा के दैवीय मूल का सिद्धांत बहुत समय तक प्रचलित रहा और प्राचीन भारत के हिंदू शासक ऐसी उपाधियाँ धारण करते रहे, जो उनके दैवीय वंश में उत्पन्न होने की द्योतक थीं। उनकी मूर्तियाँ एक प्रकार की देवमूर्तियों की दीथी (देवकुल) में रखी जाती थीं। प्राचीन काम्बोज देश (आधुनिक कम्बोडिया) में जो दक्षिण-पूर्वी एशिया में हिंदू संस्कृति का केंद्र था, देवराज का संप्रदाय (पंथ) पूर्वजों की पूजा से और मृत शासकों की प्रतिमाएँ स्थापित करने से संबंधित था। किंतु शासक को यह उच्च स्थिति देने के साथ-साथ सामाजिक संविदा का सिद्धांत भी विकसित हुआ था। बौधायन-सूत्र के अनुसार राजा को अपने प्रजाजनों की रक्षा करनी होती थी और इसके लिए प्रतिफल के रूप में वह उसकी उपज का षष्ठांश लेता था। यह बात महाभारत में और कौटिल्य द्वारा भी भलीभाँति कही गई है। जनता द्वारा राजा के निर्वाचन और अपने प्रजाजनों की रक्षा और सुरक्षा का पक्का प्रबंध करने के लिए प्रतिफल के रूप में उसे उपज का षष्ठांश और व्यापारिक माल का दशांश दिए जाने से शासक के, जो राज्य का एक अंग था, संविदात्मक अधिकार और कर्तव्य ध्वनित होते हैं। वस्तुतः वह उन लोगों पर, जिनसे मिलकर राज्य बनता था, शासन करने का अधिकरण था और वह दुर्बल का सबल द्वारा शोषण से रक्षा करने के लिए कानून (दंड) का शासन स्थापित करता था। यदि वह अपने इस कर्तव्य का पालन न करे, तो लोग शासक के विरुद्ध विद्रोह कर सकते थे। महाभारत में सचमुच ही शासक के अत्याचारी होने की दशा में विद्रोह की अनुमति दी गई है। वस्तुतः इस प्रकार की बीसियों उदाहरण हैं, जिनमें शासकों को अपनी त्रुटियाँ-दुराचार, धृष्टता और कर्तव्य की उपेक्षा-का भारी मूल्य चुकाना पड़ा। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के परामर्शदाताओं के रूप में कार्य करने और राजा पर धर्मशास्त्रों का नियंत्रण रहने के कारण लोकमत एक ऐसी प्रबल शक्ति होता था, जिसको आसानी से दबाया नहीं जा सकता था। शासक सदैव लोगों की नब्ज को परखता रहता था और कभी भी जानबूझकर उन्हें रुष्ट नहीं करता था। लोग भी अनुभव करते थे कि उनकी सुरक्षा और उनका अस्तित्व भी राजा पर निर्भर है; उसके बिना कानून (दंड या धर्म) लुप्त हो जाएगा और उसके साथ ही संसार नष्ट हो जाएगा। इस प्रकार शासक लोगों की सुरक्षा का सबसे बड़ा साधन था।



नोट्स

कामन्दक के शब्दों में, यदि राजा अच्छा मार्गदर्शक न रहे, तो लोग उसी प्रकार पूर्णतया नष्ट हो जाएंगे जैसे कर्णधार के बिना नाव नष्ट हो जाती है।

वस्तुतः राज्य के सात अंगों अर्थात् तत्वों में, जो शासन का आधार है, राजा सबसे प्रमुख था। अन्य छह अंग थे-मंत्री (अमात्य), दुर्ग, राज्य क्षेत्र (राष्ट्र), राजकोष (कोष), सेना (बल), और मित्र राज्य (मित्र)। अंतर्राज्यीय संबंधों की

सैद्धांतिक नींव या मंडल अर्थात् घेरों का सिद्धांत, जिसकी रूपरेखा कौटिल्य तथा प्राचीन भारत के अन्य राजनीतिक विचारकों ने प्रस्तुत की थी। उससे शक्ति-संतुलन बनाए रखने की व्यवस्था हो जाती थी।

3.2 राजपद (Rajpada)

राजपद के उद्गम की रूपरेखा तो ऊपर दी जा चुकी है किंतु राजपद के विकास, अभिषेक, शक्तियों और कृत्यों तथा जनता के साथ संपर्क पर विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि राजा नैतिक तथा भौतिक व्यवस्था का प्रतीक था और उसे दिव्यता का एक प्रभामंडल पहना दिया गया था, अतः राजपद से संबंधित सब अनुष्ठानों में बड़ी गंभीरता रहती थी। राज्याभिषेक संस्कार सबसे महत्वपूर्ण संस्कार था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अनुष्ठान का उद्देश्य परमोच्च (पैरामाउंट) शक्ति प्रदान करना था। कभी-कभी दो राज्याभिषेक भी होते थे, जैसे युधिष्ठिर के हुए थे—एक तो विभिन्न दिशाओं में विजय यात्राओं (दिग्विजय) के बाद राजसूय यज्ञ के अंग के रूप में अधीनस्थ राजाओं की उपस्थिति में हुआ था और दूसरा महाभारत के युद्ध के पश्चात्। कभी कभी राज्याभिषेक समारोह कुछ समय के लिए स्थगित भी कर दिया जाता था। अशोक का राज्याभिषेक तब तक नहीं हुआ, जब तक कि राज्यारोहण के बाद उसके विजय अभियानों के चार वर्ष नहीं बीत गए। जैसा कि चीनी यात्री ह्यू ऐन्त्सांग ने लिखा है, हर्ष शीलादित्य के मामले में भी राज्याभिषेक इसी प्रकार स्थगित हुआ था। साधारणतया सभी शासकों का राज्याभिषेक होता था और उसी प्रकार उनके मान्य उत्तराधिकारियों का भी। राज्य के कुछ विशेष मंत्रियों का भी अभिषेक हुआ करता था (मूर्धाभिषेकता अमात्याः) राजपुरोहित के लिए एक विशेष संस्कार (समारोह) हुआ करता था। परमोच्चता के अभिलाषी शासक राजसूय यज्ञ किया करते थे। यह अपेक्षाकृत एक बड़ा यज्ञ था, जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण में है। राज्याभिषेक और राजसूय में सारभूत अन्तर यह था कि राज्याभिषेक का किया जाना तो राज्य का आवश्यक कृत्य था और इसमें धार्मिक अनुष्ठान भी होते थे, परंतु राजसूय एक ऐच्छिक धार्मिक अनुष्ठान था, जो एक विशेष उद्देश्य से किया जाता था और इसमें राज्याभिषेक संस्कार भी सम्मिलित होता था। शासक पवित्रकारी स्नान करता था और पुरोहित उस पर जल छिड़कते थे। इसके बाद अभिषेक संस्कार से पहले या संस्कार के समय राज्य के अनेक मंत्रियों की नियुक्ति की जाती थी। अभिषेक संस्कार के समय रत्नियों (रत्नों) की, एक रानी की, एक हाथी की, एक सफेद घोड़े की, एक सफेद बैल की, एक श्वेत छत्र इत्यादि की उपस्थिति आवश्यक थी। यह विश्वास किया जाता था कि राजसूय यज्ञ में, या राज्याभिषेक संस्कार में वरुण देवता पार्थिव शरीर में प्रकट होता है। यह यज्ञ एक वर्ष या इससे भी अधिक समय तक चलता था और इसके साथ कई अन्य यज्ञ चलते रहते थे। शासक लोग जिन अन्य यज्ञों को करते थे, वे थे वाजपेय अर्थात् 'शक्ति का पान'; इसका उद्देश्य शासक को नवयौवन प्रदान करना था—उसकी शारीरिक तथा आत्मिक शक्ति को बढ़ाना और अश्वमेध, जो और भी विस्तृत समारोह था; इसका उद्देश्य राजा के राज्य का विस्तार करना और राज्य के लोगों को सुख तथा समृद्धि प्राप्त कराना था। कालक्रम में राजपद के आसपास एक विस्तृत प्रतीकवाद विकसित हो गया; यह बात महाराजाधिराज (बड़े-बड़े राजाओं का राजा), परमभट्टारक, परमदैवत, सर्वराजोच्छेद (सब शत्रुओं और शासकों का नाशकर्ता), चतुर्दधि सलिला-स्वादितायस (पृथ्वी के चारों भागों के जलों के यश का स्वाद लेने वाला), स्वर्ग को जीतने का इच्छुक (दिवं जयति) आदि बड़ी सुन पड़ने वाली उपाधियों से स्पष्ट है। परवर्ती काल में परमदैवत (देवताओं का भक्त) उपाधि का स्थान परमेश्वर (भगवान) उपाधि ने ले लिया।

राजपद केवल क्षत्रियों तक ही सीमित नहीं था। पुष्पमित्र, शुंग और कदंबों जैसे ब्राह्मण शासकों, हर्ष और गुप्तों जैसे वैश्य शासकों—हालांकि उनको क्षत्रिय मान लिया गया था—और यहाँ तक कि नन्दों, बंगाल के पालों और मध्यकाल में वारंगल के काकतीयों जैसे शूद्रों के राजा होने के अनेक उदाहरण हैं। राजपद निर्वाचन द्वारा भी प्राप्त हो सकता था, जैसे कि गोपाल को हुआ था। मनु के टीकाकार मेघातिथि ने भी शासकों पर वैधता की मुहर लगा दी है, भले ही उनकी जाति कुछ भी क्यों न हो। उसके विचार इस सिद्धांत पर आधारित हैं कि राजपद लोगों की सुरक्षा के साथ-साथ राज्य की सुरक्षा के लिए भी आवश्यक है और जो भी लोगों की रक्षा करता है, उसी को राजा (नृप) कहा जाता है। इस टीकाकार ने राजा की शक्तियों के प्राधिकार की कुछ सीमाएं निर्धारित कर दी हैं उसके कथनानुसार, राजा ने अपने प्रजाजनों द्वारा पालन के लिए जो कानून (धर्म) नियत किया है, उसका स्वरूप एक

नोट

कार्यपालक प्रबंध का सा है और वह प्रथा के प्रतिकूल नहीं हो सकता। राजा को जातियों (वर्णों) पर कोई प्राधिकार प्राप्त नहीं है। शासक को प्रथागत कानून की मर्यादा बनाए रखने के लिए बाध्य करने और उसकी शक्तियों पर प्रतिबंध लगाने के लिए स्मृति के मूलभूत सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है।

राजा का काम बाह्य आक्रमण से राज्य की रक्षा करना और आंतरिक अराजकता और अव्यवस्था से लोगों के प्राणों, संपत्ति तथा परंपरागत प्रथाओं की रक्षा करना था। वह जाति-प्रमुखों (कास्ट रूलर्स) की तथा सामाजिक व्यवस्था की रक्षा का पक्का प्रबंध करता था और विधवाओं तथा अनाथों को शरण देता था। सबल द्वारा दुर्बल के शोषण तथा उत्पीड़न की भी वह रोकथाम करता था। वह अपने प्रजाजनों की भौतिक तथा नैतिक प्रगति तथा समृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता था। कौटिल्य के शब्दों में, 'राजा का सुख उसकी प्रजा के सुख में है और उसका भला वह नहीं है, जो उसे भला लगता है, अपितु वह है, जो उसकी प्रजा को भला लगता है।' राजा का व्रत है कार्य के लिए तत्परता और कर्तव्य का पालन। सभी विचारकों का कथन है कि शासक को तुरंत न्याय करना चाहिए और उसे सदैव प्रजाजनों के लिए सुलभ होना चाहिए।

राजपद साधारणतया पुरुषों के लिए और वह भी क्षत्रिय जाति के पुरुषों के लिए आरक्षित रहता था। परंतु ऐसे कई उदाहरण हैं, जिनमें स्त्रियाँ सिंहासन पर बैठीं, या उन्होंने अपने पुत्रों की अभिभाविका के रूप में कार्य किया। उदाहरण के लिए, वाकाटक वंश की रानी प्रभावती गुप्त और कश्मीर की रानी दिहा।



उदाहरण काकतीयों की परोपकारिणी रानी रुद्रम्मा अपने पिता प्रताप रुद्रदेव के बाद सिंहासन पर बैठी थी और मौखरि वंश की रानी राज्यश्री ने अपने भाई हर्ष के साथ मिल कर राज्य का भार संभाला था।

सिंहासन पर उत्तराधिकार ज्येष्ठाधिकार के नियम से होता था, किंतु कभी-कभी शारीरिक असमर्थता या नैतिक स्खलन के कारण ज्येष्ठ पुत्र के दावे की उपेक्षा भी कर दी जाती थी। कभी-कभी शासक अपने उत्तराधिकारी को नामित (मनोनीत) कर देता था। उदाहरण के लिए, समुद्रगुप्त को उसके पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने नामित किया था। राजकुमारों को राजनीति का प्रशिक्षण दिया जाता था और कभी-कभी वे संयुक्त शासकों के रूप में शासन कार्य में भाग लेते थे। उत्तर-पश्चिम के इंडोपार्थियन शासकों और चोलों में भी यह एक बिल्कुल सामान्य बात थी। कभी कभी लोभी और दुष्ट राजकुमार सिंहासन प्राप्त करने के लिए अपने पिता को मार डालते थे; उदाहरण के लिए, मगध में अजातशत्रु से शुरू करके एक के बाद एक, पांच पितृवध हुए। इसलिए राजनीति के ग्रंथों में राजाओं को अपने पुत्रों और पत्नियों, दोनों के षड्यंत्रों से सावधान रहने को कहा गया है, 'क्योंकि राजकुमार केकड़ों की तरह अपने माता-पिता को खा डालते हैं।' तदनुसार राजकुमारों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखा जाता था और उनपर निरंतर दृष्टि रखी जाती थी कि कहीं वे अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह न कर दें। कभी-कभी पिता अपने पुत्रों के लिए अपना सिंहासन त्याग देते थे और उनमें से कुछ एक ने तो प्रयाग (इलाहाबाद) तीर्थ में जाकर आत्महत्या भी कर ली थी। कहा जाता है कि चंद्रगुप्त ने अनशन करके प्राण त्याग दिए थे और चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम ने, जब उसकी शक्ति क्षीण हो चली तब, तुंगभद्रा में डूबकर प्राण दे दिए।

कभी-कभी बड़े भाई के बाद उत्तराधिकार छोटे भाई को मिलता था और जब सब भाइयों की मृत्यु हो जाती थी, तब सबसे बड़े भाई का सबसे बड़ा पुत्र अपने चाचा का उत्तराधिकारी बनता था। उत्तराधिकार की यह पद्धति मुख्यतया उज्जैन के शक क्षत्रपों में प्रचलित थी। जब कोई शासक पुत्रहीन हो जाता था तब मंत्री, प्रतिष्ठित व्यक्ति, राजसभासद और राजपुरोहित की अध्यक्षता में धार्मिक नेता मिलकर उसका उत्तराधिकारी चुनते थे। जब मगध के पितृघाती शासकों के कारण लोगों का धैर्य समाप्त हो गया और लोगों के मन में उनके प्रति आदर न रहा, तब काशी से ब्राह्मण मंत्री शिशुनाग को राजसिंहासन पर बैठने के लिए बुलाया गया था। हर्ष को कान्यकुब्ज के सामंतों ने सिंहासन पर बैठने के लिए निर्मंत्रित किया था और इसी प्रकार पालवंश के संस्थापक गोपाल को निर्मंत्रित किया गया था, जो बंगाल का राजा चुना गया था। दक्षिण में बालक राजा नंदिवर्मन (735-797 ईश्वी) को सामंतों और मंत्रियों की सभा द्वारा शासक नियुक्त किया गया था। इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. राज्य का सिद्धांत के मूल के साथ जुड़ा हुआ है।
2. राजा के मूल का सिद्धांत बहुत समय तक प्रचलित रहा।
3. संस्कार सबसे महत्वपूर्ण संस्कार था।
4. परमोच्चता के अभिलाषी शासक यज्ञ किया करते थे।

3.3 शासक और उसके मंत्री (King and its Minister)

राजा अपने मंत्रियों द्वारा शासन करता था, जिनकी एक परिषद् बनी होती थी या जो सलाहकारों के एक समूह के रूप में कार्य करते थे। कौटिल्य के शब्दों में, “शासन केवल (मंत्रियों की) सहायता से ही संभव है।” इसलिए राजा को परामर्श ध्यान से सुनना चाहिए। ये मंत्री शासक को वरिष्ठ राजनेताओं में से चुने होते हैं। सलाहकारों के एक छोटे-से निकाय के रूप में वे मुख्यतया राजा को सलाह और सहायता देते थे, परंतु उसकी ओर से शासन नहीं करते थे। किंतु उनकी शक्तियाँ कहीं भी स्पष्ट रूप से निरूपित नहीं की गईं। कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के बारे में एक विशेष अध्याय रखा है, जिसका शीर्षक है मन्त्राधिकारः। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य-प्रशासन में मंत्रियों और मंत्रिपरिषद्, इन दो निकायों के कुछ ऐसे कृत्य थे, जो परस्पर व्यापी (ओवरलैपिंग) थे। लगता है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की अपेक्षा मंत्रियों की स्थिति अधिक ऊँची और वेतन कहीं अधिक होता था। मंत्रिपरिषद् के सदस्य बहुत संभवतः अमात्यों या सिविल सेवकों में से उनकी दक्षता और निष्ठा के आधार पर चुने जाते थे। इस परिषद् में, जैसाकि अशोक के उत्कीर्ण लेखों में लिखा है, बारह अमात्य होते थे। सब आवश्यक मामलों में राजा अपने विश्वस्त सलाहकारों से परामर्श करता था और अपनी मंत्रिपरिषद् को बुलाता था। इस परिषद् का निश्चय शासक के लिए बाध्यकारी नहीं था और वह अपने विवेक से कार्य करता था क्योंकि सब निश्चय राजा द्वारा किए जाते थे, इसलिए मंत्रियों के उत्तरदायित्व की कोई व्यवस्था नहीं थी। मंत्रियों का समूह या मंत्रिपरिषद् केवल सलाहकार के रूप में कार्य करते थे। स्ट्रैबो द्वारा उद्धृत मैगस्थनीज के कथनानुसार, “इन सलाहकारों और परामर्शदाताओं से मिलकर एक विशेष वर्ग बनता था।” एरियन के शब्दों में, “इस वर्ग में से प्रांतों से राज्यपाल, राजप्रतिनिधि (डिपुटी), कोषाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, नौसेनाध्यक्ष, व्ययनियंत्रक और कृषि-अधीक्षक नियुक्त होते थे।”

मंत्री या परामर्शदाता के पद का सूत्र इससे पहले के कालों में भी खोजा जा सकता है। अपने वर्तमान रूप में, महाकाव्यों में मंत्रगृह अर्थात् मंत्रणागृह का उल्लेख है, जहाँ शासक प्रतिदिन मंत्रियों से-व्यक्तिशः और सामूहिक रूप से परामर्श करने के लिए जाता था।



सावधानी वशिष्ठ ने कहा है कि जिस राजा के आस पास गिद्ध जैसी तीक्ष्ण दृष्टि वाले सेवक रहते हैं, वह ब्रह्मा से भी उत्कृष्ट होता है, परंतु यदि उसके ये सेवक गिद्ध की भाँति लालची हों, तो वह राजा श्रेष्ठ नहीं माना जाएगा। राजा से गिद्ध की तरह लोभी होने की आशा नहीं की जाती।

इसके अतिरिक्त यह कहा गया है कि सिंहों के साथी केवल सिंह ही हो सकते हैं। यदि कोई सिंह अपनी सहायता के लिए कुत्तों की एक टोली रख ले, तो वह अपने कर्तव्यों को कभी पूरा नहीं कर सकता। इसलिए इस ग्रंथ में मंत्री के लिए अनेक अर्हताओं का विधान किया गया है। उसे आयु और बुद्धि की दृष्टि से परिपक्व, विनम्र, पक्षपातरहित, ईर्ष्यारहित, बहुश्रुत और निष्पाप होना चाहिए। उसे अपने कार्य में प्रवीण होना चाहिए और कभी असंतुष्ट नहीं होना चाहिए। वह शेखीखोर नहीं होना चाहिए। मंत्री राजा को सलाह देते थे और उनके आदेशों को कार्यान्वित भी करते थे। रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले उत्कीर्ण लेख में मतिसचिवों अर्थात् सलाहकार मंत्रियों, कर्मसचिवों अर्थात् कार्यपालक मंत्रियों का उल्लेख है। मंत्रियों की संख्या विभिन्न ग्रंथों में अलग अलग नियत की गई है, किंतु कौटिल्य

नोट

का कथन है कि यह राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार होनी चाहिए। इस संबंध में मनु ने आनुवंशिक नियुक्तियां करने पर जोर दिया है। महाभारत के शांतिपर्व में कहा गया है कि विभिन्न जातियों का प्रतिनिधित्व करने वाले सैंतीस सचिवों की नियुक्ति की जानी चाहिए—चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत। वैश्यों की असाधारण रूप से बड़ी संख्या से अनुमान होता है कि बहुत संभवतः व्यावसायिक तथा व्यापारिक हितों को काफी बड़ा प्रतिनिधित्व दिया गया था। सामान्यतया वाणिज्य-विषयक मामलों में सलाह लेने के लिए राजा श्रेणियों (गिल्ड) के अध्यक्षों को निर्मात्रित करता था, जिनकी संख्या अठारह (अष्टादश) होती थी। हो सकता है कि ऐसा किन्हीं विशेष अवसरों पर किया जाता हो। प्रतीत होता है कि मंत्रियों की आदर्श संख्या आठ मानी जाती थी।

भीष्म ने शांतिपर्व में कहा है कि राज्य का मूल मंत्रियों द्वारा दिए जाने वाले नीति के परामर्शों में है और राज्य की उन्नति भी इन परामर्शों से ही होती है। आशा की जाती थी कि शासक द्वारा अपनाई गई नीति के परिणाम अच्छे होंगे। इस प्रकार यह तय किया गया था कि शासक को सलाह तो सदा लेनी चाहिए, परंतु अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के साथ अत्यधिक अंतरंग या क्षमाशील नहीं होना चाहिए। विद्वान लोगों का कथन है कि राजा यदि शक्तिशाली भी हो, तो भी उसे इन चार लोगों से कभी परामर्श नहीं करना चाहिए : क्षुद्रबुद्धि, दीर्घसूत्री, प्रमादी और चाटुकार। अतः राजा को सलाह दी गई है कि वह अपने मंत्रियों से पृथक्-पृथक् और उसके बाद संयुक्त रूप से परामर्श करे। मनु का कथन है कि सब की सलाह सुनने के बाद और उस पर अपने सबसे प्रतिष्ठित मंत्री से विचार-विमर्श करने के बाद उसे यह निश्चय करना चाहिए कि क्या करना है। किंतु, मंत्रिपरिषद् संस्था के उद्गम का सूत्र खोज पाना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि साधारणतया वैदिक काल से ही मंत्रियों का राजा के साथ साहचर्य रहा था भले ही उनके लिए इस विशेष 'मंत्री' शब्द का प्रयोग न किया जाता होगा। वस्तुतः सेनापति, पुरोहित और ग्रामीणी (गांव का मुखिया) राजा के सहायक रहे प्रतीत होते हैं और हो सकता है कि उत्तर वैदिक काल के रत्नियों (रत्नों) से भी वह परामर्श करता हो। अन्य लोगों से पृथक्, अपने आपमें मंत्रियों की नियुक्ति बाद के काल की वस्तु प्रतीत होती है। मंत्रिपरिषद् या उच्च परामर्शदाता राजा को केवल सलाह देते थे। वे उसकी ओर से शासन नहीं करते थे। कभी-कभी मंत्रिपरिषद् बड़ी शक्तियां अपने हाथ में ले लेती थीं और शासक की अनुपस्थिति में राजकाज करती थीं। राजतरंगिणी में उल्लेख है कि अन्तःपरिषद् (प्रीवी कौंसिल) ने राजा को अपदस्थ कर दिया था और एक अन्य उल्लेख यह है कि उसने शासक द्वारा किए गए अपने उत्तराधिकारी के नाम का निषेध (वीटो) कर दिया था। ये मामले अवश्य ही अपवाद स्वरूप रहे होंगे, क्योंकि हिंदू राजा की ही बात सदा चलती थी और वह अकेला ही अपने मंत्रियों का चयन करता था। मंत्रियों के परिवारों की राजा के प्रति निष्ठा पर बहुत जोर दिया जाता था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ परिवारों के लोग क्यों कई पीढ़ियों तक मंत्री बनते रहते थे। उदाहरण के लिए, धर्मपाल के मंत्री गंग के बाद उसका पुत्र दर्भपाणि मंत्री बना था। गंग का वर्णन करते हुए उसे देवताओं के मंत्री एवं गुरु बृहस्पति से भी बड़ा बताया गया है और दर्भपाणि वेदों में पारंगत था। सोमेश्वर, केदारमित्र और गुरव मिश्र, तीनों एक ही परिवार के थे और उन्होंने भी पाल शासकों की सेवा में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसी प्रकार चंदेलों के अधीन गौतम अक्षपाद और लक्ष्मीधर के परिवारों ने भी बहुत समय तक अच्छी सेवा की। लक्ष्मीधर के परिवार के लोग तीन पीढ़ियों तक महामंत्री बने रहे।

मंत्रियों के कृत्य कभी भी एकरूप नहीं रहे और न कभी उनका उचित रीति से नियंत्रण किया गया था, हालांकि मंत्रियों की अलग अलग कोटियां (पदक्रम) होती थीं और कभी कभी तो मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के पदों की नामावली और पारिभाषिक शब्दावली भी भिन्न होती थीं। महामंत्री—मुख्यमंत्री का पद निःसंदेह उनमें सबसे ऊंचा होता था। यह बहुत संभव है कि राजा गुप्त विषयों के बारे में केवल उस अकेले से ही विचार-विमर्श करता हो, जिससे बात फैलने न पाए। परंतु प्रतीत होता है कि व्यापक प्रश्नों पर समूची मंत्रिपरिषद् के सम्मुख विचार होता था। इस परिषद् के अन्य सदस्यों में पुरोहित भी होता था, जो बहुत प्रभावशाली होता था और उसका प्रभाव पूर्वमध्य काल तक भी बना रहा। सनिधाता और समाहर्ता अर्थात् कोषाध्यक्ष और मुख्य कर संग्रहकर्ता वित्तीय पक्ष के प्रतिनिधि थे। गुप्तकाल के उत्कीर्ण लेखों में जिस मंत्री को सन्धिविग्रहिक कहा गया है, वह भी उतना ही महत्वपूर्ण था, क्योंकि वह युद्धों में राजा के साथ जाता था। उत्तर भारत के हिंदू शासकों की प्रशासन पद्धतियों में भी उसका स्थान है। कानूनी सलाह प्राड्विवाक देता था; उसका महत्त्व मध्यकालीन हिंदू राज्यों में और भी अधिक था। सेनापति सैनिक

नोट

सलाहकार होता था और लगता है कि मंत्रिपरिषद् का सचिव महाक्षपटलिक अर्थात् मुख्य अभिलेखपाल (चीफ रिकार्ड कीपर) होता था। मौर्य सम्राट अशोक ने परिसा अर्थात् मंत्रिपरिषद् की चर्चा की है, जिसमें उसके शासन अर्थात् मौखिक आदेशों तथा महामात्रों को सौंपे गए अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श होता था। परिषद् में हुए विचार के परिणामों की सूचना सम्राट द्वारा नियुक्त पतिवेदक (संस्कृत प्रतिवेदक) अर्थात् प्रेक्षक सम्राट तक पहुंचाते थे। इससे अनुमान होता है कि सम्राट की उपस्थिति आवश्यक नहीं थी। किंतु गुप्तकालीन राजनीतिक विचारक कामन्दक ने शासक द्वारा मंत्रिपरिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करने का और मंत्रिपरिषद् के कृत्यों का भी उल्लेख किया है। उसके ग्रंथ नीतिसार में मंत्रिपरिषद् के स्वरूप और कार्यविधि पर एक अध्याय है, जिसका शीर्षक है— मन्त्र-विकल्पप्रकरणानि। गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों में मंत्रिपरिषद् का उल्लेख नहीं है, किंतु मंत्री शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। प्रतीत होता है कि मंत्री और सचिव की पदस्थिति (स्टेटस) मंत्रियों की सी होती थी, जब कि एक अन्य शब्द अमात्य का भी उल्लेख मिलता है। एक उत्कीर्ण लेख में महामंत्री को, जिसे सचिव कहा गया है, राजा का तीसरा नेत्र बताया गया है (तृतीयमेव चक्षुः)। कई अभिलेखों में कुमारामात्य शब्द भी मिलता है। इसका अर्थ 'कनिष्ठ (कैडेट) मंत्री' अथवा राजकुमारों का कार्यभारी मंत्री' किया गया है। इस पदाधिकारी का उल्लेख बाद के अभिलेखों में भी है।

दक्षिण भारतीय प्रशासन पद्धति उत्तर भारत की पद्धति से बहुत भिन्न नहीं थी; उसकी नामावली अवश्य भिन्न थी। पल्लवों के उत्कीर्ण लेखों में कहा गया है कि शासक लोग अपने मंत्रियों से, जिन्हें अमात्य या अमाइच्च कहा जाता था, सलाह लेते थे। पल्लव राजा मल्ल के उत्कीर्ण लेखों में मात्रों का जो कौटिल्य के महामात्रों या मंत्रियों के तुल्य हैं, साधारण मंत्रियों और मंत्रिमंडल (मंत्रिपरिषद्) का भी उल्लेख है। मंत्रिमंडल के वास्तविक गठन का या उसके मंत्रियों की संख्या का कोई उल्लेख नहीं है। जहां तक अर्हताओं का प्रश्न है, मंत्री से आशा की जाती थी कि वह नन्दिर्वर्मन द्वितीय के प्रधानमंत्री ब्राह्मण श्रीराय की भांति मेधावी, सुहृत् मधुर स्वभाव का, विद्वान और उच्च कुल का हो। आनुवंशिक नियुक्तियों के भी उल्लेख हैं। नन्दिर्वर्मन तृतीय का मुख्यमंत्री, नाम्पा, जिसका वर्णन करते हुए उसे अग्रदत्त परिवार के आकाश का शरत्चंद्र कहा गया है, इस प्रकार का उदाहरण है, जिसके पूर्वज पल्लवों के मंत्री रहे थे। मंत्रियों को उपाधियां भी दी जाती थीं; जैसे उदाहरण के लिए, नाम्पा को इराइयुर उदैयन-इराइयुर का स्वामी—कहा गया है जो बहुत संभवतः उस प्रदेश का अध्यक्ष था। ये मंत्री कार्यकारी कृत्यों को करते थे और शासक को सलाह देते थे। आध्यात्मिक सलाहकार, जिसे पौत्र कहा जाता था, अर्थात् प्राचीन काल का पुरोहित भी अंतरंग मंडल का सदस्य होता था और वह मुख्यमंत्री भी हो सकता था, जैसे नन्दिर्वर्मन द्वितीय का धार्मिक विषयों का मंत्री श्रीराज था।

3.4 केंद्रीय सोपानतंत्र (Central Hierarchy)

प्राचीन भारत में केंद्रीय सोपान तंत्र मंत्रिपरिषद् और प्रशासन के अध्यक्षों से मिलकर बना होता था, किंतु इन दोनों के बीच सीमा खींच पाना कठिन है। मंत्रिपरिषद् आधुनिक अर्थ में मंत्रिमंडल (कैबिनेट) नहीं होती थी; और न अलग व्यक्तियों को अलग विभाग ही सौंपे जाते थे। इस सलाहकार निकाय के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं थी। प्रशासनिक पदाधिकारी, उदाहरण के लिए कौटिल्य के अमात्य और सचिव, मिलकर एक सोपानतंत्र बनते थे। मैगास्थनीज के सभासद (कौंसिलर) सातवीं जाति माने जाते थे। संख्या में थोड़ी यह जाति अपनी बुद्धिमत्ता और न्याय के लिए विख्यात थी। इस वर्ग से राज्य के प्रशासनिक यंत्रजाल के लिए पदाधिकारी प्राप्त होते थे। वैदिक काल से शुरू करके केंद्रीय सोपानतंत्र का विकास क्रमशः हुआ था; ऋग्वेद में उल्लिखित तीन पदाधिकारी बढ़कर पंचविश ब्राह्मण के आठ वीर या तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के अग्रता के क्रम में थोड़े से अंतर के साथ, अठारह रत्नी बन गए। इनमें से प्रमुख थे ब्राह्मण या पुरोहित, सेनानी या परवर्ती काल का सेनापति, संग्रहिता-सारथी या कोषाध्यक्ष भागदुघ-कर संग्रह करने वाला या भोजन बांटने वाला और क्षत्री अर्थात् प्रतिहार। महाकाव्यों में राज्य के अठारह पदों का उल्लेख है, जिन्हें तीर्थ कहा जाता था इनमें मंत्री-प्रधान सलाहकार, पुरोहित, मुख्य पुरोहित, युवराज, चमूपति-सशस्त्र सेनाओं का अध्यक्ष, द्रव्यसंचयकृत मुख्य भाण्डागारिक, विनियोजक-मुख्य

नोट

कार्यपालक, प्रदेष्टा-मुख्य न्यायाधिपति, जो धर्माध्यक्ष अर्थात् न्यायाधीक्षक से भिन्न होता था, दण्डपाल-दुर्गों का अध्यक्ष और राष्ट्रान्तपालक-सीमांतों का रक्षक सम्मिलित थे। सार्वजनिक निर्माणकार्यों से संबंधित पदाधिकारी जैसे मुख्य इंजीनियर (कार्य निर्माणकृत) और मुख्य अरण्यपाल (अटवीपालक) भी इस सूची में दिखाई पड़ते हैं। ईसा पूर्व की छठी-पांचवीं शताब्दी में पाणिनि ने दो पारिभाषिक शब्दों-आयुक्तक और नियुक्तक का प्रयोग किया है, जो क्रमशः सामान्य पदाधिकारियों और विशेष कार्यों के लिए नियुक्त पदाधिकारियों के द्योतक हैं। विभागों के अध्यक्षों को अध्यक्ष कहा जाता था, जिनकी संख्या कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में 25 दी गई है। इस ग्रंथ से प्राप्त होने वाली जानकारी बहुत कुछ सर्वांगसंपूर्ण है और यह कह पाना कठिन है कि इसका संबंध मौर्यों के प्रशासनिक यंत्रजाल से है या यह केवल सैद्धांतिक रूप में प्रस्तुत की गई है। इस ग्रंथ के अनुसार समाहर्ता और सन्निधाता-करों का संग्रह करने वाला और कोष का अध्यक्ष तथा अक्षपटलाध्यक्ष महालेखापाल महत्वपूर्ण केंद्रीय पदाधिकारी थे, जिनका वार्षिक वेतन 24,000 पण होता था। कुषाणों के प्रशासनिक सोपान तंत्र में दंडनायक और महादंडनायक दो पदाधिकारी और जुड़े, किंतु गुप्तों की केंद्रीय कार्यपालिका अधिक विस्तृत थी। इसमें सांघिविग्रहिक-सैनिक अभियानों का कार्यभारी मंत्री, पहली बार दिखाई पड़ता है। अन्य पदाधिकारी, जिनमें कुषाणकालीन दण्डनायक भी सम्मिलित था, महाबलाधिकृत और उसका निम्नतर प्रतिरूप और महाक्षपटलाधिकृत-अभिलेखों और लेखों के अध्यक्ष थे। महाबलाधिकृत सेनाओं का अध्यक्ष होता था जो महासेनापति के तुल्य था; उसके नीचे कई सेनाध्यक्ष होते थे-महासेनापति-घुड़सवारों का अध्यक्ष, महापीलुपति-गज सेना का अध्यक्ष; इनके अलावा सेनापति और बलाधिकृत होते थे, जो पद में उससे नीचे होते थे। प्रतीत होता है कि महाप्रतिहार राजमहल के कर्मचारियों का अध्यक्ष था। उत्कीर्ण लेखों में उल्लिखित कई पदाधिकारी ऐसे हैं, जिनका संबंध केंद्र और प्रांत दोनों से जुड़ सकता था। इस प्रकार थोड़ा सा उत्तरकाल के मल्लसुरुल उत्कीर्ण लेख में उपरि भी सम्मिलित किया गया है, जो प्रांत का अध्यक्ष अथवा केंद्र में विविध प्रकार के कृत्यों को, जिनमें दूतक का कृत्य अर्थात् राजकीय मंजूरी की सूचना देने का कृत्य भी सम्मिलित था, करने वाला मंत्री था; कुमारामात्य-राजकुमारों की सेवा में रहने वाला मंत्री, जिसका संबंध केंद्र से भी था, कर्तारिक-मुख्यकार्यपालक तदायुक्तक-राजकोष अधिकारी, हिरण्यसामुदायिक-मुद्रा अधिकारी और चौरोधरणिक-पुलिस का अध्यक्ष भी थे। महाप्रतिहार मुख्य प्रतिहार होता था। कभी-कभी एक ही व्यक्ति को कई पद दे दिए जाते थे। उदाहरण के लिए हरिषेण, जिसका पद खाद्यान्नपाकिक का था, महादंडनायक, सांघिविग्रहिक और कुमारामात्य भी था। कभी-कभी एक ही पद पिता से पुत्र को प्राप्त हो जाता था (अन्वय प्राप्त) जैसा कि हरिषेण और वीरसेन साबा तथा अनेक अन्य के बारे में हुआ था। पदोन्नति के रूप में एक से दूसरे पद पर हस्तांतरण भी हो जाता था, जैसे पृथ्वीसेन को, जो कुमारामात्य और मंत्री था, बाद में पदोन्नति करके महाबलाधिकृत बना दिया गया था।

उत्तर भारत में परवर्ती काल में केंद्रीय पदाधिकारियों की सूची बहुत बड़ी हो गई और कई पदों का दर्जा ऊंचा कर दिया गया था। हर्ष के अधीन इस प्रकार के पदाधिकारियों में थे महासांघिविग्रहिक-सैनिक अभियानों का सर्वोच्च मंत्री, महाबलाधिकृत-सेनाओं का प्रधान सेनापति, महाप्रतिहार, महाक्षपटलिक-मुख्यलेखापाल और महाप्रमातृ-महासर्वेक्षक। हर्ष के एक उत्कीर्ण लेख में एक महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत महासामंत, महाराज भाण का उल्लेख है, जो एक प्रांताध्यक्ष था, जिसकी सेवाओं का उपयोग केंद्र में कर लिया गया था। इस प्रकार का एक अन्य उदाहरण महाक्षपटलाधिकृत सामंत महाराज ईश्वर गुप्त का है। पाल वंशीय उत्कीर्ण लेखों से भी कुछ पदों का दर्जा ऊंचा किए जाने का अनुमान होता है क्योंकि उनमें 'महा' उपसर्ग लगा है और कश्मीर के कर्कोट राजा ललितादित्य ने भी ऐसा ही किया था। कई दानपत्रों में उच्च पदाधिकारियों को पंच-महाशब्द प्रदान किए जाने का उल्लेख है। इस शब्द का यह भी अर्थ निकल सकता है कि उन्हें पांच बड़े पद प्रदान किए गए थे, जिनमें 'महा' उपसर्ग लगा होता था। कानून तथा व्यवस्था को बनाए रखने, चोरों को पकड़ने और उन्हें दंड देने का काम कई पदाधिकारियों को सौंपा जाता था। ये थे चौरोधरणिक और दंडपाशिक। प्रतिहारों के शासन में केंद्रीय पदाधिकारियों में मर्यादाधुर्य और कोट्टपाल भी थे, जिनका अर्थ क्रमशः 'सीमांत का अग्रणी या अध्यक्ष' और दुर्ग का रक्षक है। ग्वालियर के एक उत्कीर्ण लेख में ऐसा उल्लेख है कि इस पद पर नियुक्ति आनुवंशिक होती थी।

दक्षिण में केंद्रीय पदाधिकारी बहुत कुछ इसी नमूने पर होते थे। केवल उनके पदनामों में कुछ अंतर था। हिरहदगल्ली में प्राप्त शिवस्कंदवर्मन के प्राचीनतम पल्लव अभिलेखों में राजकुमार, सेनापति, राष्ट्रिक-बहुत संभवतः केंद्र द्वारा

नियुक्त किए गए प्रांतों के अध्यक्ष, देशाधिकृत, अर्थात् जिलों के अध्यक्ष और मंडविन या मंडपिक—चुंगी संग्रह करने वाले या राजस्व अधिकारी का उल्लेख है। समाचारांतक और बड़ामानुष, दोनों का वर्णन इस प्रकार है कि वे राजा के आदेश से भेजे गए पदाधिकारी होते थे। बहुत संभवतः ये संवाददाता होते थे और समाचारों को राजा तक पहुंचाते थे। आंध्रों, वाकाटकों और पूर्वकालीन पल्लवों के पास अपने प्रशासनिक संगठनों में जोड़ने के लिए नई वस्तु कुछ नहीं थी। स्थानीय परंपरागत तत्वों को शासन से संयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ती प्रतीत होती है और यह उत्तर काल में और भी स्पष्ट हो गई थी, जैसा कि उत्तरकालीन पल्लव व्यवस्था में पाए जाने वाले अलुमगमत्तर, जिसका अर्थ बहुत संभवतः 'गांव की कार्यकारिणी समिति का सदस्य' होता था, और अलुमगणम जैसे पारिभाषिक शब्दों से प्रकट है। कसकुडी पट्टिकाओं में वायिकेल्लार—सचिव, सर्वेक्षण अधिकारी तथा दंडनायक (मजिस्ट्रेट) कोडुक्कपिल्लई—उपहार या दान के अध्यक्ष का तथा एक अन्य अभिलेख में कोषाध्यक्ष नाम के पदाधिकारियों का उल्लेख है। प्रतीत होता है कि मध्यम प्रावस्था में प्रशासनिक पदाधिकारियों के पदनाम संस्कृत तथा स्थानीय तमिल, दोनों भाषाओं में होते थे। अंतिम प्रावस्था में, जो मोटे तौर पर ईसा की सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक रही, राष्ट्रकूटों और चालुक्यों जैसे शासक वंशों ने उत्तर भारतीय शासक वंशों की भांति अपने पदाधिकारियों के पदनाम केवल संस्कृत भाषा में ही रखे, परन्तु चोलों ने, जो बाद में आए और मध्यकाल तक बने रहे, अपने पदाधिकारियों के लिए केवल तमिल पदनामों का ही प्रयोग किया। हमें सांघिविग्रहिक और महासांघिविग्रहिक अर्थात् सैनिक अभियानों का अध्यक्ष मंत्री और सर्वोच्च मंत्री, धर्माधिकरण—अर्थात् मुख्य न्यायाधिपति, पुरोहित तथा महापुरोहित के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह कहा जा सकता है कि केंद्रीय पदाधिकारियों में प्रधानमंत्री के अलावा विदेश मंत्री, मुख्य न्यायाधिपति, सेनाओं का प्रधान सेनापति, कोषाध्यक्ष, राजस्व मंत्री या उस विभाग का अध्यक्ष और मुख्य पुरोहित होते थे। उच्च पदाधिकारियों को पंचमहाशब्द प्रदान किए जाते थे, जैसे कि उत्तर भारत में किए जाते थे। इससे अनुमान होता है कि उत्तर भारत और दक्षिण भारत के प्रशासनिक संगठन में तथा भर्ती की विधि में मुश्किल से ही कोई अंतर था।

3.5 प्रांतों के अध्यक्ष तथा सामंत शासक (Head of States and Feudalism)

प्राचीन भारतीय प्रशासन में प्रांत के अध्यक्ष की, जिसे राष्ट्रिक कहा जाता था, स्थिति बहुत कुछ एक सी ही बनी रही है। प्रांत के राज्यपाल का पूर्वतम ऐतिहासिक उल्लेख रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले उत्कीर्ण लेख में मिलता है। राजा चंद्रगुप्त मौर्य के प्रांतीय राज्यपाल (राष्ट्रिक) ने, जिसका नाम वैश्य पुष्यगुप्त था, एक बांध बनवाया था। अशोक के काल में उस प्रांत का अध्यक्ष यवनराज तुषस्प था। इस मौर्य शासक के उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि उस समय चार वाइसराय (राजप्रतिनिधि) होते थे, जिनके मुख्यालय तक्षशिला, उज्जैन, तोशाली और सुवर्णगिरि में थे। संभवतः जूनागढ़ साम्राज्य के पश्चिमी प्रभाग के अंतर्गत था। राजवंश के राजकुमारों को वाइसराय नियुक्त किया जाता था। हो सकता है कि तुषस्प, जो स्थानीय राज्यपाल था, कोई सामंत शासक रहा हो, जो पश्चिमी प्रांत के अध्यक्ष के अधीन प्रशासन को संभालता हो। साम्राज्य के इन चार प्रभागों के अलावा कुछ गौण प्रभाग भी थे, जो महामात्रों या महामात्रों के—जिसका अर्थ 'सम्राट के आयुक्त' किया गया है; अधीन थे, अशोक की कुछ लघु राजाज्ञाएं अन्य कई स्थानों के अलावा सारनाथ, कौशांबी, विराटनगर (वैराट, जयपुर) में और दक्षिण में ब्रह्मगिरि (मैसूर देश) और येरागुड्डी (हैदराबाद जिला) में भी मिली हैं। इनमें से अंतिम में राजुक का आयुक्त अर्थात् प्रभाग के अध्यक्ष के रूप में उल्लेख है, जो सम्राट का आदेश लोगों तक और राष्ट्रिकों तक पहुंचाता था। इससे प्रांत के अध्यक्ष की स्थिति और नीची हो जाती है, जो जूनागढ़ के उत्कीर्ण लेख को देखते हुए एक विचित्र उल्टी—सी बात लगती है। राजकुमार वाइसराय महामात्रों की स्थिति वाले अपने पदाधिकारियों की नियुक्ति स्वयं ही करते थे। राजुक और प्रादेशिक, जो अर्थशास्त्र के प्रदेष्टा के समरूप थे, अन्य पदाधिकारी थे, जिनके कृत्य बहुत कुछ अनिरूपित से थे। प्रतीत होता है कि इनमें से पहले का संबंध तो राजस्व के कार्य से था और पिछला कार्यपालिका तथा न्यायविभाग का अध्यक्ष था। वह सबसे वरिष्ठ पदाधिकारी होता था और उसे हर पांच वर्ष बाद निरीक्षण के लिए दौरे पर जाना पड़ता था। भारत-ग्रीकों, पार्थियनों और शकों और उनके बाद कुषाणों ने प्रांतीय अध्यक्षों को क्षत्रप और महाक्षत्रप नाम देने की ऐकमैनियन पद्धति अपना ली, परंतु वे इन प्रभागों को सत्रपी नहीं कहते थे और न कहीं उनकी संख्या का ही उल्लेख

नोट

है। फिर भी, यह विदेशी पद्धति कुषाण काल के अंत तक चलती रही। इन दो प्रशासनिक उपाधियों के अलावा खरोष्ठी उत्कीर्ण लेखों में दो अन्य उपाधियां भी प्राप्त होती हैं, वे हैं मेरीडार्क, जो बहुत संभवतः जिला अधिकारी की द्योतक है और स्ट्रेटेगस, जो सेनापति या राज्यपाल की सूचक है। इस संबंध में यह कह देना उचित होगा कि छोटे पद से बड़े पद पर पदोन्नति व्यक्ति की अपनी योग्यता पर या उसके स्वाधीनता प्राप्त कर लेने पर निर्भर होती थी। रुद्रदामन ने महाक्षत्रप की उपाधि स्वयं अपने अधिकार से प्राप्त की थी (स्वयमधिगत)।

किंतु गुप्तों के शासन में प्रांतीय ढांचे का रूप बदल गया। इस काल के उत्कीर्ण लेखों से अनुमान होता है कि प्रशासन का भुक्ति अर्थात् प्रांत विषय या मण्डल अर्थात् जिला और वीथी का—परगने में विकेंद्रीकरण हो गया था। प्रांत के अध्यक्ष की, जिसे गोप या उपरिक कहा जाता था, नियुक्ति गुप्त राजा करता था। इस पद के लिए वे सबसे योग्य व्यक्ति चुने जाते थे जो इस पद का भार वहन कर सकते थे। कहा जाता है कि जूनागढ़ का पर्णदत्त राज्यपालों में सर्वोत्तम था और सारा सौराष्ट्र उसके अधीन था। इस प्रांताध्यक्ष ने अपने पुत्र चक्रपालित को नगर का अध्यक्ष (नगराध्यक्ष) नियुक्त किया था। कभी-कभी एक ही परिवार के लोग अनेक शासकों के अधीन रह कर प्रांत के अध्यक्ष बनते जाते थे। इस प्रकार पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का अध्यक्ष उपरिक महाराज जयदत्त था; उसके बाद कुमार गुप्त के शासन में उपरिक चित्तदत्त और उसके बाद बुधगुप्त के शासन में ब्रह्मदत्त और जयदत्त प्रांत के अध्यक्ष बने। यहाँ तक कि जब मालवा हूणों के अधिकार में आ गया, तब उन्होंने भी इस व्यवस्था को बदला नहीं और उन्होंने पहले राज्यपाल मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु को अपना राज्यपाल नियुक्त किया। प्रांत की राजधानी को अधिकरण कहा जाता था और उनमें प्रांत का सचिवालय होता था। बसाढ़ (वैशाली जिला, मुजफ्फरपुर) में मिली कई मुहरों में प्रांतीय पदाधिकारियों का उल्लेख है। इनमें कुमारामात्य—जो बहुत संभवतः राजकुमार वाइसराय से संलग्न मुख्यमंत्री होता था, रणभांडाधिकरण—सैनिक राजकोष का कार्यालय या रसद तथा संभरण विभाग का अध्यक्ष, दण्डपाशाधिकरण—पुलिस का प्रमुख, विनयस्थिति—स्थापक—कानून तथा व्यवस्था का मंत्री भटाश्वपति—मुख्य सैन्य अधिकारी या नैतिक मर्यादाओं का प्रतिपालक, महाप्रतिहार, मुख्य प्रतिहार महादण्डनायक—महान दण्डधारी, अर्थात् मुख्यन्यायाधिपति या पुलिस अधीक्षक सम्मिलित थे। राजा गोपचंद्र के, जिसने गुप्त सम्राटों के बाद बंगाल में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था, मल्लसुरल के ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख में भी वर्धमान भुक्ति (वर्दवान) के कई प्रांतीय पदाधिकारियों का उल्लेख है। इनमें कर्तारिक—मुख्य कार्यपालक, कुमारामात्य—‘राजकुमार की सेवा में नियुक्त मंत्री’, चौरोधरणिक—पुलिस का प्रमुख, उपरिक—‘राज्यपाल’, औद्रंगिक—‘कर संग्रहकर्ता’, औरणस्थानिक—किसी भोग अर्थात् प्रभाग का कार्यभार संभालने वाला पदाधिकारी भी सम्मिलित थे। इस सूची में सम्मिलित किए गए अन्य पदाधिकारी थे : विषयपति—जिले का अध्यक्ष, जिसका संबंध स्थानीय प्रशासन से था, तदायुक्तक—‘राजकोष अधिकारी’, हिरण्यसामुदायिक—‘मुद्रा अधिकारी’, पटियालक—पट्टल अर्थात् एक जिले या समुदाय का अध्यक्ष और आवस्थिक—‘विश्राम-गृह अधीक्षक’। इस सूची में निश्चित रूप से कुछ केंद्रीय पदाधिकारी या प्रांतों में उनके प्रतिरूप अधिकारी और कुछ एक जिलों से संबंधित पदाधिकारी भी सम्मिलित हैं।

प्रांतों के प्रमुख या सामंत शासक, जिनकी निष्ठा केंद्रीय शासन के प्रति होती थी, अपनी स्वतंत्रता घोषित करने में या अपनी सुविधा के अनुसार अपनी निष्ठा बदल लेने में विलंब नहीं करते थे। मगध के उत्तरकालीन गुप्तशासक और बंगाल में गोपचंद्र का परिवार इसके उदाहरण हैं। शुरू में वलभी के मैत्रक गुप्त शासकों के अधीन उच्च पदाधिकारी थे, परन्तु अपनी निष्ठा का दिखलावा त्याग देने के बाद वे स्वतंत्र हो गए। उनके पदाधिकारियों का अपना अलग समूह था। इनमें कुछ नये शब्द भी दिखाई पड़ते हैं, जैसे उदाहरण के लिए, ध्रुवाधिकरणिक और अनुत्पन्नदान—समुद्राहक, जो क्रमशः राजस्व के और प्रजाओं द्वारा स्वेच्छा से दिए गए उपहारों का संग्रह करने के अध्यक्ष थे। उनके अपने सामंत (राजस्थानीय) होते थे और मैत्रक अभिलेखों में उल्लिखित विषयपति और राष्ट्रपति प्रांतीय अध्यक्ष होते होंगे। नियुक्ति के मामलों में आनुवंशिकता का ध्यान रखा जाता था, जैसे मुख्यसचिव (दिविरपति) के मामलों में। अनहिल का पिता स्कन्दभट्ट भी उसी पद पर काम करता रहा था और वह सैन्य अभियानों के मंत्री (संधिविग्रहिक) के रूप में भी काम करता रहा था। हर्ष के समय में सामंतों और महासामंतों का भी जिक्र है। ये शब्द एक सोपानतंत्र में कोटिक्रम के सूचक हैं। ये पालों और प्रतिहारों के शासन में भी बने रहे। सामंतों के द्योतक दो अन्य शब्द पालों, वर्मनों और बंगाल के सेनों के अभिलेखों में दिखाई पड़ते हैं। ये शब्द हैं राजा, रणक और

नोट

राजारणक, जो सामंतों की कोटियों के सूचक हैं। इन सामंतों की स्थिति बहुत ऊँची होती थी और कभी-कभी उन्हें नयाचार में राजकुमारों से भी अग्रस्थान दिया जाता था।

दक्षिण में आंध्रों के अपने सामंत होते थे, जो महाभोग और महारथी कहलाते थे। अभिलेखों में महारथियों की पत्नियों को महारथिनी कहा गया है। यह सामंत पद्धति उत्तर काल में भी बनी रही और विदेशी आक्रमण के समय देश के लिए अभिशाप सिद्ध हुई। इन सामंतों को कुछ वित्तीय दायित्व पूरे करने पड़ते थे और एक निश्चित संख्या में सैनिक और घोड़े देने होते थे। विद्रोहियों या प्रतिद्वंद्वियों के विरुद्ध सैनिक अभियानों में तथा दूर के युद्धों में उन्हें अपने अधिराजों (सुजरेन) के साथ जाना पड़ता था। ऐसा न करने पर उनकी जागीरें जब्त की जा सकती थीं। इन सामंतों की स्वाधीनता और उनको प्राप्त शक्ति इस बात पर निर्भर थी कि उनका अधिराज शासक कितना सबल अथवा दुर्बल है। कभी-कभी सामंतों को मंत्री बना दिया जाता था और मंत्रियों को भी पदोन्नति करके सामंत शासक बना दिया जाता था। कभी-कभी ये दोनों पद एक में ही घुलमिल जाते थे। शक्तिशाली सामंत शासक वंश का तख्ता भी पलट सकते थे, जैसे राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग ने अपने चालुक्य अधीश्वर के वंश को उखाड़कर उसे सामंत बना लिया था। उसके दो सौ वर्ष बाद चालुक्यों ने अपनी परमोच्चता फिर प्राप्त कर ली और वह ढाई सौ वर्ष से भी अधिक समय तक बनी रही।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

- राजपद साधारणतया पुरुषों और वह भी जाति के पुरुषों के लिए आरक्षित रहता था।
(क) ब्राह्मण (ख) क्षत्रिय
(ग) वैश्य (घ) शूद्र
- कौटिल्य के अनुसार, '..... केवल (मंत्रियों के) सहायता से ही संभव है।'
(क) राजा (ख) राज्य
(ग) शासन (घ) सेना
- भीष्म के अनुसार, 'राज्य का मूल द्वारा दिए जाने वाले नीति के परामर्श में है।'
(क) पुरोहितों (ख) मंत्रियों
(ग) सेनाओं (घ) प्रजाओं
- स्थानीय प्रशासन की सबसे छोटी इकाई था।
(क) राज्य (ख) प्रांत
(ग) नाडु (घ) ग्राम

3.6 स्थानीय प्रशासन (Local Administration)



क्या आप जानते हैं? स्थानीय प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम था और उसका मुखिया ग्रामणी, ग्रामिक या ग्रामपाल कहलाता था।

ऋग्वेद में पुरोहित और सेनापति के अतिरिक्त ग्रामणी का भी उल्लेख है, जिससे इस पद के महत्त्व और इसकी पुरातनता का अनुमान होता है। ग्रामणी की शक्तियाँ और कृत्य, और यहाँ तक कि उसकी नियुक्ति की विधि भी विभिन्न कालों में कुछ सीमा तक अलग-अलग रही प्रतीत होती है। दस गांवों का एक समूह एक दशी के अधीन, बीस का विंशी के अधीन, सौ का शतेश के अधीन और अंत में एक हजार गांवों का समूह सहस्रेश के अधीन होता

नोट

था, जिससे अनुमान होता है कि प्रशासनिक संगठन दशमलव पद्धति पर था। इन पदाधिकारियों को वेतन सदैव वस्तुओं के रूप में दिया जाता था ; प्रायः उन्हें अपने निर्वाह के योग्य पर्याप्त भूमि प्रदान की जाती थी। सामान्यतया यह पद आनुवंशिक होता था किंतु नियुक्ति के समय शासक लोकमत का भी ध्यान रखता होगा। साहित्य ग्रंथों तथा उत्कीर्ण लेखों में ग्रामाधिपति और ग्रामभोजक जैसे अन्य कई शब्द भी प्राप्त होते हैं, परंतु वे सब ग्राम के मुखिया के लिए ऊपर लिखे गए शब्दों के पर्यायवाची हैं। प्रत्येक गांव में अन्य पदाधिकारी भी होते थे और महाभारत के सभापर्व के अनुसार उनकी संख्या पांच होती थी। मुखिया को सलाह देने के लिए गांव के बड़े-बूढ़ों (ग्रामवृद्ध) की एक परिषद् भी होती थी। कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' में ग्राम प्रशासन से संबंधित दो महत्वपूर्ण पदाधिकारियों गोप और स्थानिक का उल्लेख है। इनमें से पहले की नियुक्ति बहुत संभवतः पांच से दस गांवों तक के किसी छोटे से क्षेत्र के शासक द्वारा की जाती थी। वह अपने अधिकार क्षेत्र के अंदर लेखों (हिसाब-किताब) और पंजीकृत भूमि विलेखों का अभिलेख रखता था। स्थानिक समाहर्ता अर्थात् राजस्व संग्रह करने के अध्यक्ष के अधीन रहकर कर उगाहता था। **कौटिल्य** के कथनानुसार, स्थानिक के अधीन आठ सौ गांव, द्रोणमुख के अधीन चार सौ, खर्वट या खर्वटिक के अधीन दो सौ और संग्रहण के अधीन दस गांव होते थे। ये कर्मचारी राजस्व के संग्रहकर्ता के प्रति, जिसे समाहर्ता कहा जाता था, उत्तरदायी होते थे। ग्राम के प्रशासन और ग्रामपरिषद् के कार्यभाग का और भी सविस्तार विवरण, विशेष रूप से काफी उत्तरकाल का विवरण दक्षिण भारत से प्राप्त होता है, जिस पर इस अध्याय के अंत में विचार किया जाएगा।

नगर का प्रशासन, जिनके अपने कर्मचारीगण और अपनी परिषद् होती थी, इससे भिन्न था। प्रशासन के इस पक्ष का पूर्वतम ऐतिहासिक उल्लेख मैगस्थनीज के विवरण से प्राप्त होता है, जो पाटलिपुत्र में मौर्यशासक के यहाँ ग्रीक राजदूत था। कौटिल्य ने भी पाटलिपुत्र का नाम लिए बिना नगर प्रशासन के कर्मचारियों का उल्लेख किया है। नगर के महापौर या प्रीफेक्ट को नागरिक या नागरक कहा जाता था। वह कानून और व्यवस्था बनाए रखता था और अकाल के दिनों में खाद्य के वितरण का प्रबंध करता था। उसकी सहायता के लिए दो अधीनस्थ कर्मचारी होते थे—गोप और स्थानिक, इनके कृत्य ठीक वही होते थे, जो ग्राम प्रशासन में इनके प्रतिरूपों के होते थे। मैगस्थनीज ने तीस सदस्यों के एक बोर्ड का उल्लेख किया है, जो पांच-पांच सदस्यों की छः समितियों में बंटा होता था। ये समितियाँ औद्योगिक कलाओं, विदेशियों की देखभाल, महत्वपूर्ण आंकड़ों, व्यापार, वाणिज्य और बिक्री कर की देखभाल करती थीं। महान शास्त्रकार **मनु** के कथनानुसार, शहर (नगर) ऊंचे पद वाले विशेष अधिकारियों के अधीन होते थे; इन पदाधिकारियों का पुलिस और गुप्तचरों पर अधिकार होता था। इस कार्यालय का अध्यक्ष सर्वार्थचिंतक अर्थात् 'सबका हितैषी' कहलाता था।

गुप्तकाल के अभिलेखों से प्राप्त आधार सामग्री से गांव और जिले के स्तर पर स्थानीय प्रशासन का विस्तृत विवरण उपलब्ध हो जाता है। जिले (विषय) का अध्यक्ष विषयपति कहलाता था और उसका कार्यालय कहलाता था अधिकरण। कई जिलों से मिल कर एक प्रांत (भुक्ति) बनता था। प्रांत का अध्यक्ष शासक से स्वीकृति लेकर जिले के अध्यक्ष की नियुक्ति करता था और कभी-कभी जिले के अध्यक्ष की नियुक्ति सीधे शासक द्वारा की जाती थी। इन अभिलेखों में विभिन्न स्तरों के कर्मचारियों के नाम दिए गए हैं। जिले के अध्यक्ष की सहायता के लिए एक गैर सरकारी सलाहकार परिषद् होती थी, जिसमें उस स्थान के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व रहता था; उदाहरण के लिए, वाणिज्यिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला मुख्य साहूकार (नगरश्रेष्ठी), व्यापारिक मंडली का नेता (सार्थवास), मुख्य ऐल्डरमैन अर्थात् पौरमुख्य (प्रथम कुलिक) और मुख्य लिपिक (प्रथम कायस्थ) भूमि के अनुदान की मंजूरी देने के लिए औपचारिक आवेदन से लेकर राज्य की भूमि की बिक्री या पट्टे पर देने से संबंधित प्रलेख के पंजीकरण तक के लिए एक विशेष कार्यविधि नियत थी। इस सलाहकार निकाय के अतिरिक्त जिला प्रशासन से संबंधित अन्य अनेक कर्मचारियों का भी अभिलेखों में जिक्र है। उनमें से प्रमुख थे राहदारी और चुंगी से राज्य को मिलने वाली राशियों के संग्रह का अध्यक्ष (शौल्किक), कृषि की उपज में राजा के अंश को उगाहने का अध्यक्ष (भांडागाराधिकृत), और अन्य करों के संग्रह का अध्यक्ष (उत्खेतयिता)। उनमें वनों और जंगलों के अध्यक्ष (गौल्मिक) भी थे। अभिलेखपाल को महाक्षपटलिक कहा जाता था और उसके अधीन कई लिपिक (दिविर) काम करते थे। जिला कार्यालय में नियुक्त अधीक्षक सर्वाध्यक्ष कहलाते थे। नगर प्रशासन की एक अलग इकाई होती थी, भले ही वह प्रांत

नोट

की राजधानी भी क्यों न हो; उदाहरण के लिए, गिरिनगर पर्णदत्त के अधीन सौराष्ट्र की राजधानी था और पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित नगर का अध्यक्ष था। नगर के अध्यक्ष को पुरपाल या नगर रक्षक कहा जाता था। कभी-कभी उसका पदनाम उस नगर के नाम पर रख दिया जाता जैसे दशपुरपाल। एक उत्कीर्ण लेख में पुरपालौपरिक अर्थात् महापौर-राज्यपाल का उल्लेख है और एक अन्य में महापौर (आर्य नगरश्रेष्ठी) की अध्यक्षता में बनी नगर परिषद् (अधिष्ठान अधिकरण) का।

परगने (सब डिविजन) के, जिसे वीथी कहा जाता था, प्रशासन के संबंध में कुछ जानकारी उपलब्ध है। विषयों के अंतर्गत इस प्रकार के कई परगनों का उल्लेख है। वीथी का अध्यक्ष आयुक्तक होता था और उसकी सहायता के लिए गैर सरकारी लोगों की एक परिषद् होती थी, जिसमें वीथिमहत्तर अर्थात् बड़े-बूढ़े और कुटुंबी अर्थात् किसान गृहस्थ होते थे। इस परिषद् के कर्मचारी वर्ग में साधारणतया अभिलेखपाल (पुस्तपाल) लिपिक (कायस्थ) और समुदाय के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक गैर सरकारी सदस्य (कुलिक) होता था। आयुक्तक-परगने के अध्यक्ष-के कृत्य बहुत कुछ वही होते थे जो विषयपति अर्थात् जिले के अध्यक्ष होते थे।

हर्ष और उसके समकालीन राजाओं के समय तो स्थानीय प्रशासन में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ, किंतु ईसा की आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक के काल-प्रतिहार काल में कुछ रोचक विकास हुए। जिला प्रशासन की इकाइयों के रूप में मंडलों और विषयों के अतिरिक्त दो अन्य पारिभाषिक शब्दों पथक और भूमि का भी उल्लेख है। सदा की भांति विषय का अध्यक्ष तो विषयपति ही होता था जब कि भुक्ति का अध्यक्ष होता था उपरिक। इससे नीचे उतरते हुए क्रम में दो अन्य इकाइयाँ हैं नय और वीथी, जो दोनों जिले (विषय) के अंदर परगनों की सूचक हैं। इनके नीचे सदा की भांति गांव होते थे। विषय व्यवहारियों, अर्थात् जिला सलाहकारों, जो वरिष्ठ लिपिक होते थे, ज्येष्ठ कायस्थों और उस इलाके के अन्य बड़े-बूढ़ों (महामहत्तरों) का भी उल्लेख मिलता है।

प्रतिहारों के अधीन, नगर प्रशासन में सरकारी और गैर-सरकारी, दोनों ही तत्व सम्मिलित होते थे। स्थानीय निकाय के कई नाम प्रचलित थे : उत्तरसभा, गोष्ठी, पंचकुल और सौवियक। स्थानीय निकाय के पांच सदस्यों को प्रांत का अध्यक्ष मनोनीत करता था और वे विचार-विमर्श के लिए नगर प्रशाल (टाउन हाल) में एकत्रित होते थे, जिसे मंडपिक कहा जाता था। एक उत्कीर्ण लेख में श्रेष्ठियों और सार्थवाहों का सौवियकों के बोर्ड के सदस्यों के रूप में स्थानीय प्रशासन से संबंध जोड़ा गया है, जबकि एक अन्य उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि उस स्थान की सभादूतक अर्थात् संदेशवाहक, दण्डपाशिक अर्थात् पुलिस अधिकारी और चतुर्वेदी ब्राह्मणों से मिलकर बनी थी। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि लोकहित से संबंधित मामलों में और निजी या धार्मिक कार्यों के लिए अपेक्षित भूमि या भवनों के क्रय या विक्रय से संबंधित मामलों में गैर सरकारी लोगों का साहचर्य स्थानीय प्रशासन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी। यह साहचर्य दक्षिण भारत में; विशेष रूप से चोलों के शासन में, जिनमें प्रशासनिक विकेंद्रीकरण अपेक्षाकृत अधिक था, स्पष्ट और प्रमुख है। इस प्रकार यहाँ पल्लवों, चोलों तथा दक्षिण के कुछ अन्य राजवंशों के अभिलेखों के आधार पर दक्षिण भारत में स्थानीय प्रशासन का समुचित अध्ययन कर लेना आवश्यक होगा।

पल्लवों का शासन काल लगभग सन् 300-900 ईस्वी तक का रहा; इस बीच उनके शासन में कुछ व्यवधान भी पड़े और उनके राज्य का आकार घटता-बढ़ता रहा। उनके शासन में एक राष्ट्रिक, बहुत संभवतः जिले का या सिविल राज्यपाल और एक देशाधिकृत अर्थात् किसी जिले का अध्यक्ष या किसी छोटे प्रशासनिक मंडल का अध्यक्ष होता था। दक्षिण के अन्य इससे पहले के राजवंशों के अभिलेखों में स्थानीय इकाइयों के अध्यक्षों के रूप में देशाधिपति, विषयपति और आयुक्तक का उल्लेख है। यहाँ पहली बार विषयमहत्तरों अर्थात् जिले के बड़े-बूढ़ों (वरिष्ठ लोगों) का उल्लेख मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि वे जिला प्रशासन में एक सलाहकार निकाय के रूप में कार्य करते थे। बाद के काल में प्रशासनिक इकाइयों और उनके अध्यक्षों के संस्कृत नामों के स्थान पर स्थानीय भाषाओं के नाम प्रचलित हुए। इस प्रकार विषय के स्थान पर नाडु और कोट्टम शब्द आ गए। नाडु गांव से बड़ा परंतु कोट्टम से छोटा होता था। एक अन्य शब्द उर या उरार किसी स्थान के विद्वान एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों की सभा का द्योतक था, जिसका संबंध स्थानीय प्रशासन से होता था या वस्तुतः स्वयं यह सभा ही निर्वाचित सदस्यों की समितियों द्वारा

नोट

प्रशासन को चलाती थी। एक अन्य शब्द अल्वार जो अलुनगणचार का तत्स्थानी था, शासक समुदाय का द्योतक था। गांव की सभा अर्थात् स्थानीय निकाय सभा या महासभा कहलाती थी और वह मंदिर के धर्मस्व, सिंचाई और कृषि का प्रबंध करती थी। एक निकाय के रूप में, यह सभा ग्राम प्रशासन को संभालने वाली अनेक समितियों, अर्थात् वरियामों का नियंत्रण करती थी। पल्लव अभिलेखों में इन वरियामों के सदस्यों की अर्हताओं और उनके निर्वाचन की विधि के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती, परंतु चोलों के ग्राम संगठन के बारे में यह जानकारी उपलब्ध है। परांतक प्रथम के काल के उत्तरामेरूर उत्कीर्ण लेखों से (काल सन् 919 और 921 ईस्वी) इस विषय पर रोचक प्रकाश पड़ता है। उसमें गांव तीस वार्डों में बंटा होने और प्रबंधक निकाय में प्रत्येक वार्ड का एक प्रतिनिधि होने का उल्लेख है। निर्वाचित होने के अभिलाषी उम्मीदवार के लिए दोनों प्रकार की अर्हताएं नियत थीं, विद्या संबंधी अर्थात् वेदों का ज्ञान और संपत्ति का स्वामित्व—डेढ़ एकड़ भूमि, जिसका कर दिया जाता हो, या मकान। आयु सीमा 35 से 70 के बीच नियत की गई थी। इसके अतिरिक्त, उम्मीदवारों से आशा की जाती थी कि वे ईमानदार और चरित्रवान हों, उन्हें समितियों के काम की कार्यविधि का ज्ञान हो और वे उससे पहले तीन वर्षों में निर्वाचित न हुए हों। निर्वाचित लाटरी द्वारा होता था। विधिवत अर्हता प्राप्त लोगों के नाम ताड़पत्र के बने टिकटों पर उत्कीर्ण करके एक बर्तन में डाल कर गड़मड़ कर दिये जाते थे; उसके बाद लाटरी से नाम निकाल कर निर्वाचन किया जाता था। निर्वाचित समितियों द्वारा गांव प्रशासन की पद्धति बहुत समय तक चलती रही।

3.7 भूमि तथा राजस्व प्रशासन (Land and Revenue Administration)

वैदिक काल से लेकर उत्तर भारत में हिंदू शासन की समाप्ति तक भूमि और उसकी समस्याओं पर सदा ही शासकों का ध्यान रहा था। इसमें संदेह नहीं कि उनकी रुचि भूमि में राजस्व प्राप्त करने में थी, जो कुल उपज के एक अंश के रूप में निर्धारित किया जाता था। इसके बदले में उन्हें किसान को सुरक्षा प्रदान करनी होती थी और भूमि को सुधारने तथा कृषि की उपज को बढ़ाने में आवश्यक सहायता देनी होती थी। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र के प्रशासन का संबंध भूमि और उसके सुधार से, सिंचाई द्वारा कृषि में सुधार से, भूमि के संक्रमण (ऐलिनेशन) और विक्रय की कार्यविधि से, सूखा और अकाल के समय राजकीय सहायता से और राजस्व उगाहने की प्रक्रिया तथा अन्य कृषि संबंधी गतिविधियों से था। ऐसी हालत में इस संदर्भ में ग्रामीण व्यवस्था के अंतर्गत लोगों की दशा का और उन पर पड़ने वाले वित्तीय बोझ के समाघात (प्रभाव) का भी सामान्य सर्वेक्षण करने का उपक्रम दिया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में दो पारिभाषिक शब्द आते हैं—बलि और शुल्क। इनमें से पहला शब्द—जो ऋग्वेद में कई बार आया है—शासक को दी जाने वाली भेंट देवताओं को अर्पित किए जाने वाले चढ़ावे के अर्थ में प्रयुक्त किया हुआ है। शुल्क—जिसका मूलतः ऋग्वेद में अर्थ कीमत था—धर्मशास्त्रों के अनुसार कर का वाचक है। ऐसा प्रतीत होता है कि कर बहुत अधिक थे, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में कई बार राजा का इस रूप में उल्लेख है कि वह प्रजा को खाए जा रहा है। संग्रहिता, जो प्रशासन के रत्नियों में से एक था और जो कौटिल्य के समाहर्ता के तुल्य था, कर—संग्रह का; या परवर्ती काल में भूमि-राजस्व का अध्यक्ष था। भागदुघ को, जो एक अन्य रत्नी था, कृषि की उपज में राजा का अंश (भाग) उगाहने का काम सौंपा गया था। बाद के काल में कर—संग्रह की पद्धति को सुचारू बना दिया गया था। धर्मशास्त्रों के अनुसार उपज में राजा का भाग षष्ठांश नियत किया गया था, परंतु उसे अन्य कर लेने का भी हक था, जिनकी एक लंबी सूची गौतम ने अपनी स्मृति में दी है। किंतु आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में कुछ श्रेणियों के लोगों को करारोपण से छूट दी गई है। इसके अतिरिक्त, शासक पर एक प्रकार का संविदात्मक कर्तव्य भी लादा गया है। महाकाव्यों तथा विधिग्रंथों के अनुसार, शासक से आशा की जाती थी कि वह अपने प्रजाजनों की रक्षा करे। क्योंकि कर—संग्रह की विधि से कभी-कभी करदाता को कठिनाई होती थी, अतः महाभारत में और स्मृतियों में कहा गया है कि राजा को मधुमक्खी के समान बर्ताव करना चाहिए, जो फूल को नष्ट किए बिना उसमें से मधु ले लेती है। आपात काल में लोगों पर अतिरिक्त और यहाँ तक कि अधिक भारी कर भी लगाए जा सकते हैं। जातकों में राजस्व प्रशासन से संबंधित अनेक पदाधिकारियों का उल्लेख है। इनमें रज्जुक अथवा रज्जुगहकामाच्च—‘रस्सी थामने वाला मंत्री’ अर्थात् भूमि का सर्वेक्षक, द्रोणमापक—जो सूखी छड़ी से माप करता था; ग्रामभोजक, जो बलिपतिगहक,

नोट

निम्नलिखित; और बलिसाधकों की सहायता से करें तथा सरकार की प्राप्य राशियों के संग्रहकर्ता थे, सम्मिलित थे। भांडागारिक और हिरन्मिक क्रमशः अन्न भंडारों और राजकोषागार के अध्यक्ष होते थे।

मौर्यों के शासन में राजस्व तथा करों को संग्रह करने की व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह संगठित थी और उसमें राज्य के राजस्व को बढ़ाने के लिए नए स्रोत भी थे। राजा की अपनी भूमि से होने वाली उपज सीता कहलाती थी और भोग, लोगों की निजी भूमि से होने वाली आय में राजा के भाग का द्योतक था। सामान्यतया राजा का भाग उपज का षष्ठांश (षड्भाग) होता था, परंतु मैगास्थनीज के कथनानुसार, इसे आपात काल में बढ़ा कर चतुर्थांश भी किया जा सकता था या राजा की इच्छा होने पर इसे घटा कर अष्टमांश भी किया जा सकता था, जैसा कि अशोक ने बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी गांव के लिए किया था। 'अर्थशास्त्र' में आय की अन्य मदों का भी उल्लेख है: पिंड कर, एक स्थिर लघु कृत (कम्प्यूटिड) कर, जो गांव को समय-समय पर देना पड़ता था; सेनाभक्तम्, जो सेना द्वारा उस प्रदेश पर, जिसमें से वह गुजरती थी, लगाया गया एक दंडात्मक कर था। बलि और कर के अतिरिक्त, नाव शुल्कों (तार-दया) और पैठों पर लगाए जाने वाले करों (पट्टनम) तथा राहदारी करों का भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख है। कर संग्रह करने वाले अधिकरण केंद्रीकृत थे। समाहर्ता, जो राजस्व को उगाहने के काम का अध्यक्ष था और सन्निधाता, जो उसे लेकर राजकोष में रखता था, राजस्व-प्रशासन से संबंधित मुख्य पदाधिकारी थे। सिंचाई की सुविधाओं के उल्लेख से अनुमान होता है कि कृषि का उत्पादन बढ़ाने में राज्य की रुचि थी। मैगास्थनीज सिंचाई विभाग की कार्य-पद्धति से प्रभावित हुआ था। यह विभाग जलकपाटों (स्लूस) को नियंत्रित करता था, जिससे जल का समुचित वितरण हो सके। रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले उत्कीर्ण लेख में इसकी कार्यपद्धति की एक झलक दिखाई पड़ती है। किसानों को सिंचाई उप-कर (उदकभागम्) देना पड़ता था, जो सिंचाई के प्रकार के अनुसार उपज के चतुर्थांश से लेकर तृतीयांश तक होता था। यह कर कुछ अधिक ही प्रतीत होता है; इससे किसानों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता होगा उनके पास अपने निर्वाह के लिए कम ही कुछ बचता होगा। योजना-निर्माण तथा कृषि भूमि के बंदोबस्त के भी कुछ उल्लेख हैं। अकृष्य भूमि (खेती के अयोग्य भूमि) पशुओं के चरने के लिए, आरक्षित वनों तथा वनवासियों की बस्तियों के लिए छोड़ दी जाती थी। राज्य का उद्देश्य केवल गांवों का ही नहीं, अपितु ग्रामीणों के सामुदायिक जीवन का भी विकास करना होता था।

शुंगों, भारत-ग्रीकों, भारत-पार्थियनों और कुषाणों के अधीन वितीय प्रशासन के संबंध में तो बहुत जानकारी उपलब्ध नहीं है, किंतु गुप्तों के शासनकाल के वितीय प्रशासन के विषय में कुछ नई जानकारी उपलब्ध है। प्रतीत होता है कि गुप्तों ने उचित नियंत्रण तथा अच्छे प्रशासन के लिए राज्य का राजस्व संग्रह करने के लिए प्रभावी कदम उठाए थे इस संबंध में कामन्दक ने ठीक ही कहा है कि आय के स्रोतों की प्रचुरता और व्यय की मदों की न्यूनता समृद्धि की कुंजी है। इस राजनीतिक विचारक ने, जिसे गुप्तों का समकालीन माना जाता है, प्रशासन के वितीय पक्ष का चित्रण किया है। राजस्व की मदों में वृद्धि तो हुई ही होगी, साथ ही कुछ पुराने पदनामों के स्थान पर नए पदनाम आ गए थे; उदाहरण के लिए, मौर्य काल के सीता और भाग के स्थान पर भाग और भाग-भोग शब्द आ गए थे। उपरिक और उदंग जैसे कुछ अन्य शब्द भी दिखाई पड़ते हैं, जो क्रमशः अस्थायी और स्थायी काश्तकारों द्वारा भुगतान के सूचक हैं। राज्य भूमि के हस्तांतरण तथा उसके अन्य संक्रामण पर और विभिन्न प्रकार की भूमियों की बिक्री पर पंजीकरण-शुल्क भी लेता था। अग्रहारिक भूमि का लगान संग्रह करता था और शौल्किक राहदारी का और गौल्मिक वनों तथा जंगलों के शुल्क का संग्रह करता था। राहदारी शुल्क व्यवसायियों, साहूकारों और व्यापारियों पर लगता था, हालांकि शुल्क-दर की कोई वैसी सूची उपलब्ध नहीं है, जैसी अर्थशास्त्र में मिलती है। प्रमाता और सीमाप्रमाता भूमि का सर्वेक्षण करने के और शुल्क का निर्धारण करने के लिए भूमि की सीमाएँ नियत करने के अध्यक्ष थे। उत्तर गुप्तकाल के एक उत्तरकालीन उत्कीर्ण लेख में कर-संग्रहों के अध्यक्ष राजकोष-अधिकारी को तदायुक्तक कहा गया है। हर्ष के काल में इस पद्धति में कोई परिवर्तन हुआ प्रतीत नहीं होता। उसके दो अनुदानों में तुल्य मेय अर्थात् वस्तुओं के भार और माप के आधार पर लगाए जाने वाले करों, और भाग-भोग-कर-हिरण्यदि, अर्थात् स्वर्ण के रूप में या नकद या वस्तु रूप में दिए जाने वाले उपज के अंश का उल्लेख है; यह उपज के परंपरागत षष्ठांश से अलग है; इसके अलावा नौका घाटों तथा रोक-केंद्रों (बैरियर स्टेशन) से प्राप्त होने वाले शुल्कों का भी उल्लेख है। भोग अर्थात् उपज में राज्य के अंश का संग्रह करने के लिए उत्तरदायी व्यक्ति को भोगिक या

नोट

भोगपति कहा जाता था। इस भोगपति शब्द का उल्लेख विभिन्न कालों के अभिलेखों में है और उसका पद काफी ऊंचा होता था।

दक्षिण में आंध्रों और वाकाटकों और आरंभिक पल्लवों के शासन में, आरंभिक अवस्थाओं में विद्यमान वित्तीय प्रशासन पद्धति का अलग से मूल्यांकन करने की आवश्यकता नहीं है। पल्लव अभिलेखों में ग्रामभोजक का उल्लेख है, जो कोई राजस्व पदाधिकारी या सामंत के रूप में किसी गांव की आय का उपभोग करने वाला होता होगा। मध्यम प्रावस्था में, जिसके अंतर्गत पल्लवों और चालुक्यों का प्रशासन आता है, करारोपण तथा वित्तीय ढांचे के बारे में प्राप्त जानकारी काफी व्यापक है। पल्लवों के शासन में भूमि का सर्वेक्षण किया जाता था। कृषि योग्य भूमि धारण की निम्नलिखित तीन पद्धतियों में से किसी एक के अंतर्गत रह सकती थी। पयानिलम, जिसमें भूमि की उपज जमींदार और किसान में आधी-आधी बंट जाती थी; अदाइनिलम, जिसमें राजा का भाग (अदाइ), उपज के 1/6 या 1/10 या उसके बराबर नकद राशि के रूप में नियत होता था; और कराइनिलम, जो समय-समय पर काश्तकारों (मारी) में पुनः वितरित कर दिया जाता था। भूमि के दान के संबंध में राजा का आदेश (तिरुमुगम) जिले के अध्यक्ष के नाम और कभी-कभी उस नाडु (नट्टार) के पदाधिकारियों की सभा के नाम भेजा जाता था। इन आदेशों की तफसीलें तैयार करने और उस स्थान के लोगों में उनकी उद्घोषणा करने के काम को कोन-ओलाइ या अराइ-ओलाई कहा जाता था। पल्लव अभिलेखों में भूमि (इल्वार) से प्राप्त होने वाले राजस्व के अतिरिक्त राजस्व की अन्य कई मदों का भी उल्लेख है। इनमें फलों के वृक्षों पर लगने वाले कर (कल्लालकणम्), कपास पर लगने वाले कर (पंडगलि), पेड़ लगाने के लिए अनुज्ञाशुल्क (कुवलइ नाडुवरि) और अनेक परिहार सम्मिलित हैं, जिनकी वहां एक लंबी सूची दी गई है। इनमें व्यक्ति के पेशे पर लगने वाले कर (इलम्मुचि), विवाह पर लगने वाले कर (कल्याणवकणम्), कृषि भूमियों पर उपकर (एक्कोरो) तथा अन्य अनेक कर सम्मिलित हैं। इन स्रोतों से प्राप्त सारा राजस्व राजकोष में जमा कर दिया जाता था।

राष्ट्रकूटों के शासन में करारोपण काफी ऊंचा था। भूमि का लगान स्थायी रूप से नियत कर दिया गया था और कर-संग्रह तीन मौसमी फसलों के अनुसार तीन किस्तों में; अगस्त-सितम्बर, अक्टूबर-नवम्बर और फरवरी-मार्च में किया जाता था। किसी विशेष कारण से; जैसे सूखा इत्यादि के कारण कर निलंबित किए जा सकते थे। नियमित करों में, उदंग (जिसे भाग-भोग भी कहा जाता था) उपरि, शुल्क और सिद्धाय भी सम्मिलित थे। बलात् करारोपण (विष्टि) भी होता था। आय की विविध मदों में, बेकार पड़ी भूमि से, खानों और नमक से, गड़े हुए खजानों आदि से होने वाली आय भी थी। कर संग्रह के लिए सरकारी अधिकरण अवश्य ही गांव का मुखिया तथा स्थानीय परिषदें रही होंगी। भवन-कर तथा नौका-घाट शुल्कों से भी राज्य की आय होती थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. वैदिक साहित्य में दो पारिभाषिक शब्द आते हैं—बलि और शुल्क।
10. राष्ट्रकूटों के शासन में करारोपण काफी कम था।
11. पल्लवों के शासन में भूमि का सर्वेक्षण किया जाता था।
12. उपज (भोग) में राज्य के अंश का संग्रह करने वाला ग्रामिक कहा जाता था।

3.8 सारांश (Summary)

- राज्य का सिद्धांत राजपद के मूल के साथ जुड़ा हुआ है। राज्य को एक ऐसे स्वाधीन संगठित समुदाय के रूप में, जिस पर अपने सदस्यों को बाह्य आक्रमण से बचाने और उनके कल्याण की देखभाल करने का दुहरा दायित्व है, इन कृत्यों को करने के लिए किसी एक अधिकरण को चुनना था। स्वभावतः राजा ही ऐसा था, जो इस जिम्मेदारी को उठा सकता था।

नोट

- राजा के दैवीय मूल का सिद्धांत बहुत समय तक प्रचलित रहा और प्राचीन भारत के हिंदू शासक ऐसी उपाधियाँ धारण करते रहे, जो उनके दैवीय वंश में उत्पन्न होने की द्योतक थीं। किंतु शासक को यह उच्च स्थिति देने के साथ-साथ सामाजिक संविदा का सिद्धांत भी विकसित हुआ था।
- राज्याभिषेक संस्कार सबसे महत्वपूर्ण संस्कार था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अनुष्ठान का उद्देश्य परमोच्च (पैरामाउंट) शक्ति प्रदान करना था।
- राजा अपने मंत्रियों द्वारा शासन करता था, जिनकी एक परिषद् बनी होती थी या जो सलाहकारों के एक समूह के रूप में कार्य करते थे। कौटिल्य के शब्दों में, 'शासन केवल (मंत्रियों की) सहायता से ही संभव है।'
- प्राचीन भारत में केंद्रीय सोपान तंत्र मंत्रिपरिषद् और प्रशासन के अध्यक्षों से मिलकर बना होता था। मंत्रिपरिषद् आधुनिक अर्थ में मंत्रिमंडल (कैबिनेट) नहीं होती थी; और न अलग व्यक्तियों को अलग विभाग ही सौंपे जाते थे। प्रशासनिक पदाधिकारी, उदाहरण के लिए कौटिल्य के अमात्य और सचिव, मिलकर एक सोपानतंत्र बनते थे।
- भारत-ग्रीकों, पार्थियनों और शकों और उनके बाद कुषाणों ने प्रांतीय अध्यक्षों को क्षत्रप और महाक्षत्रप नाम देने की ऐकमैनियन पद्धति अपना ली, परंतु वे इन प्रभागों को सत्रपी नहीं कहते थे और न कहीं उनकी संख्या का ही उल्लेख है। फिर भी, यह विदेशी पद्धति कुषाण काल के अंत तक चलती रही।
- स्थानीय प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम था और उसका मुखिया ग्रामणी, ग्रामिक या ग्रामपाल कहलाता था। नगर के महापौर या प्रीफेक्ट को नागरिक या नागरक कहा जाता था। वह कानून और व्यवस्था बनाए रखता था और अकाल के दिनों में खाद्य के वितरण का प्रबंध करता था। उसकी सहायता के लिए दो अधीनस्थ कर्मचारी होते थे।
- वैदिक काल से लेकर उत्तर भारत में हिंदू शासन की समाप्ति तक भूमि और उसकी समस्याओं पर सदा ही शासकों का ध्यान रहा था। उनकी रुचि भूमि में राजस्व प्राप्त करने में थी, जो कुल उपज के एक अंश के रूप में निर्धारित किया जाता था। इसके बदले में उन्हें किसान को सुरक्षा प्रदान करनी होती थी और भूमि को सुधारने तथा कृषि की उपज को बढ़ाने में आवश्यक सहायता देनी होती थी।

3.9 शब्दकोश (Keywords)

- **क्षुद्र बुद्धि**—नीच प्रकृति वाला, ओछा।
- **दीर्घसूत्री**—हर काम में देर लगाने वाला, देर से काम करने वाला।
- **प्राड्विवाक**—राजा का कानूनी सलाहकार।
- **परिसा**—मंत्रिपरिषद् जिसमें राज्य के महत्वपूर्ण विषय पर विचार-विमर्श होता था।
- **महाक्षपटलिक**—मुख्य अभिलेखपाल।

3.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. प्रायद्वीपीय भारत में प्रशासनिक संस्थाओं के राजनीतिक संगठन और स्वरूप का वर्णन करें।
2. राज्य का सिद्धांत क्या है? समझाएँ।
3. राजपद क्या है? विस्तृत विवेचना करें या विस्तार से समझाएँ।
4. राज्य के शासन में शासक तथा मंत्री के कर्तव्य एवं कार्यों (विभिन्न प्राचीन ग्रंथों के अनुरूप) का वर्णन करें।
5. प्राचीन भारत के केन्द्रीय सोपान तंत्र को विस्तार से समझाएँ।

नोट

6. प्राचीन भारतीय प्रशासन में प्रांतों के अध्यक्ष एवं सामंत शासक की भूमिका एवं कार्यों का वर्णन करें।
7. प्राचीन भारतीय प्रशासन में स्थानीय प्रशासन के स्वरूप एवं कार्यों की विवेचना करें।
8. प्राचीन भारत के भूमि तथा राजस्व प्रशासन का उल्लेख करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|-----------------|-------------|------------------|--------------|
| 1. राजपद | 2. दैवीय | 3. राज्याभिषेक | 4. राजसूय |
| 5. (ख) क्षत्रिय | 6. (ग) शासन | 7. (ख) मंत्रियों | 8. (घ) ग्राम |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य | 12. असत्य। |

3.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
6. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
7. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
8. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-4 : उत्तर-भारत में प्रशासनिक एवं संस्थात्मक प्रणाली (Administrative and Institutional Systems in North-India)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 4.1 उत्तर-भारत में वर्चस्व का संघर्ष (Struggle for Supremacy in North-India)
- 4.2 पाल साम्राज्य (Pal Empire)
- 4.3 प्रतिहार (Pratihara)
- 4.4 राष्ट्रकूट (Rashtrakuta)
- 4.5 राजनीतिक विचार और संगठन (Political Thought and Organisation)
- 4.6 सारांश (Summary)
- 4.7 शब्दकोश (Keywords)
- 4.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 4.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- उत्तर-भारत में वर्चस्व के संघर्ष को समझने में;
- पाल साम्राज्य, प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट को जानने में;
- राजनीतिक विचार तथा संगठन को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सातवीं सदी में हर्ष के साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत, दक्कन और दक्षिण भारत में अनेक बड़े राज्य पैदा हुए। उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य और हर्ष के साम्राज्य के समान कोई भी राज्य गंगा की पूरी वादी को अपने नियंत्रण में लाने में सफल नहीं रहा। गंगा की वादी की जनसंख्या और दूसरे संसाधन ही वे आधार थे जिनके सहारे गुप्त राजाओं और हर्ष ने अपना नियंत्रण गुजरात पर स्थापित किया था जो अपने समृद्ध बंदरगाहों और निर्मित वस्तुओं के कारण विदेशी व्यापार के लिए महत्वपूर्ण था। मालवा और राजस्थान, गंगा वादी और गुजरात के बीच की अनिवार्य कड़ी थी। उत्तर भारत में किसी भी साम्राज्य की भौगोलिक सीमाएँ इसी प्रकार निरूपित होती थीं। दक्षिण भारत में चोल, कृष्णा-गोदावरी डेल्टा और कावेरी डेल्टा को अपने नियंत्रण में लाने में सफल रहे। दक्षिण भारत में उनके वर्चस्व का आधार यही था।

नोट

ईस्वी 750 और 1000 के बीच उत्तर भारत और दक्कन में जो बड़े-बड़े राज्य उत्पन्न हुए, वे थे पाल साम्राज्य, जो नवीं सदी के मध्य तक पूर्वी भारत पर छाया रहा; प्रतिहार साम्राज्य, जो दसवीं सदी के मध्य तक पश्चिम भारत और गंगा की ऊपरी वादी पर राज्य करता रहा और राष्ट्रकूट साम्राज्य, जो दक्कन पर राज्य करता रहा तथा विभिन्न कालों में उत्तर और दक्षिण भारत के इलाकों को भी नियंत्रित करता रहा। हालाँकि ये साम्राज्य आपस में लड़ते रहते थे, पर इनमें से हर एक ने बड़े-बड़े क्षेत्रों में स्थिर जीवन की परिस्थितियाँ प्रदान कीं, कृषि का विस्तार किया, तालाबों और नहरों का निर्माण कराया तथा कला और साहित्य को संरक्षण प्रदान किया जिनमें मंदिर भी शामिल थे। इन तीनों में राष्ट्रकूट साम्राज्य सबसे लंबा चला। यह अपने काल का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य ही नहीं था बल्कि आर्थिक और सांस्कृतिक मामलों में उसने उत्तर और दक्षिण भारत के बीच पुल का काम भी किया।

4.1 उत्तर-भारत में वर्चस्व का संघर्ष (Struggle for Supremacy in North-India)

हर्ष की मृत्यु के बाद का काल राजनीतिक अव्यवस्था का काल था। कश्मीर के राजा ललितादित्य ने कुछ समय तक पंजाब को अपने नियंत्रण में रखा। उसका नियंत्रण कन्नौज पर भी रहा जिसे हर्ष के दिनों से ही उत्तर भारत में प्रभुसत्ता का प्रतीक माना जाता था—आगे चलकर यही स्थिति दिल्ली की हो गई। कन्नौज पर नियंत्रण का मतलब गंगा की ऊपरी वादी तथा उसके व्यापार और समृद्ध कृषि संसाधनों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेना भी था। ललितादित्य ने बंगाल अर्थात् गौड़ पर भी हमला किया और उसके शासक को मार डाला। पर पाल और गुर्जर-प्रतिहार वंशों के उदय के साथ उसकी शक्ति समाप्त हो गई।

पाल और प्रतिहार बनारस से लेकर दक्षिण बिहार तक के क्षेत्र पर नियंत्रण के लिए आपस में टकराते रहे। इस क्षेत्र में भी समृद्ध संसाधन थे तथा साम्राज्य से संबंधित अपनी सुविकसित परंपराएँ थी। दक्कन के राष्ट्रकूटों से भी प्रतिहारों का टकराव होता रहा।

4.2 पाल साम्राज्य (Pal Empire)

पाल साम्राज्य की स्थापना संभवतः 750 ई. में गोपाल ने की थी जब उस क्षेत्र में व्याप्त अराजकता को समाप्त करने के लिए क्षेत्र के अग्रणी व्यक्तियों ने उसे राजा चुन लिया। शाही परिवार तो दूर, गोपाल किसी ऊँचे परिवार में भी नहीं जन्मा था और उसके पिता संभवतः एक सैनिक थे। गोपाल ने अपने नियंत्रण में बंगाल का एकीकरण किया और मगध (बिहार) तक को अपने अधीन ले आया। 770 ई. में गोपाल का पुत्र धर्मपाल राजा बना जिसने 810 ई. तक शासन किया। कन्नौज और उत्तर भारत पर नियंत्रण के लिए पालों, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों का त्रिपक्षीय संघर्ष उसके शासनकाल का मुख्य तत्व था। प्रतिहार राजा गौड़ (बंगाल) पर चढ़ आया लेकिन कोई निर्णय हो सके, इसके पहले ही प्रतिहार राजा को राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने हरा दिया और वह राजस्थान के रेगिस्तान में शरण लेने के लिए बाध्य हो गया। फिर ध्रुव दक्कन लौट गया। इसके कारण धर्मपाल के लिए मैदान खाली हो गया। उसने कन्नौज पर कब्जा कर लिया और एक शानदार दरबार लगाया जिसमें पंजाब, पूर्वी राजस्थान आदि के अधीनस्थ शासकों ने भाग लिया। कहा जाता है कि धर्मपाल का शासन भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा की आखिरी हद तक फैला हुआ था और संभवतः मालवा और बरार भी उसमें शामिल थे। स्पष्ट रूप से इसका मतलब यह है कि इन क्षेत्रों के शासकों ने धर्मपाल की अधिराजी स्वीकार कर ली थी।

धर्मपाल का विजयकाल 790 और 800 ई. के बीच माना जा सकता है, लेकिन धर्मपाल उत्तर भारत में अपनी सत्ता को स्थायी नहीं बना सका। नागभट्ट द्वितीय के काल में प्रतिहारों की शक्ति का पुनरुत्थान हुआ। धर्मपाल पीछे हटा मगर मुंगेर के पास हरा दिया गया। बिहार और आज का पूर्वी उत्तर प्रदेश पालों और प्रतिहारों के बीच टकराव का कारण रहा, हालाँकि बंगाल के अलावा बिहार भी अधिकतर पालों के ही नियंत्रण में रहा।

उत्तर में मिली असफलता ने पाल शासकों को दूसरी दिशाओं में प्रयास करने के लिए बाध्य कर दिया। धर्मपाल का बेटा देवपाल 810 ई. में गद्दी पर बैठा और उसने चालीस वर्षों तक शासन किया। उसने अपना नियंत्रण

प्रागज्योतिषपुर (असम) और उड़ीसा के कुछ भागों पर भी स्थापित किया। संभवतः आधुनिक नेपाल का एक भाग भी पालों के अधीन आ चुका था।

इस तरह आठवीं सदी के मध्य से लेकर नवीं सदी के मध्य तक, लगभग सौ वर्षों तक, पूर्वी भारत पर पाल राजाओं का वर्चस्व रहा। कुछ समय तक उनका नियंत्रण बनारस तक फैला रहा। उनकी शक्ति की गवाही सुलेमान नाम के एक अरब सौदागर ने दी है जो नवीं सदी के मध्य में भारत आया था और उसने यहाँ का वृत्तांत लिखा है। वह पाल राज्य को रुहमा या धर्मा (धर्मपाल का संक्षेप) कहता है। इसके अनुसार पाल राजा का अपने पड़ोसी प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों से युद्ध चलता रहता था पर उसकी सेना उसके विरोधियों की सेनाओं से अधिक थी। वह हमें बतलाता है कि 50,000 हाथियों की सेना लेकर चलना पाल राजा का कायदा था और उसकी सेना में 10,000-15,000 व्यक्ति 'कपड़ों की सफाई और धुलाई में' लगे रहते थे। अगर इन आँकड़ों में अतिशयोक्ति हो तो भी हम मान सकते हैं कि पालों के पास एक बड़ी सेना थी। लेकिन हमें यह नहीं पता कि उनकी एक विशाल स्थायी सेना थी या उनकी सेना अधिकतर सामंतों पर आधारित होती थी। पालों के बारे में तिब्बती वृत्तांत भी हमें सूचनाएँ देते हैं हालाँकि ये सत्रहवीं सदी में लिखे गए थे। उसने विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी स्थापित किया जिसकी प्रसिद्धि नालंदा से कुछ ही कम थी। यह मगध में गंगा के किनारे मनमोहक वातावरण के बीच एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित था। पालों ने अनेक विहार बनवाए जिनमें बौद्ध भिक्षुओं की बड़ी संख्या रहती थी।



नोट्स

तिब्बती वृत्तांत अनुसार, पाल शासक बौद्ध ज्ञान-विज्ञान और धर्म के महान संरक्षक थे। पूरे पूर्वी जगत में प्रसिद्ध रह चुके नालंदा विश्वविद्यालय का धर्मपाल ने पुनरुत्थान किया और उसका खर्च पूरा करने के लिए उसने 200 गाँव अलग कर दिए थे।

तिब्बत से भी पाल शासकों के गहरे सांस्कृतिक संबंध थे। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वानों शांतरक्षित और दीपांकर (उर्फ अतिस) को तिब्बत निर्मात्रित किया गया और उन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म के एक नए रूप को प्रचलित किया। फलस्वरूप अनेक तिब्बती बौद्ध अध्ययन के लिए नालंदा और विक्रमशिला आए। यँ तो पाल शासक बौद्ध मत के संरक्षक थे, पर शैव और वैष्णव मतों को भी उन्होंने संरक्षण दिया। उन्होंने उत्तर भारतीय ब्राह्मणों की एक बड़ी संख्या को, जो भागकर बंगाल पहुँचे थे, दान दिए। उनकी आबादी के कारण पश्चिम बंगाल में कृषि का प्रसार हुआ तथा अनेक पशुपालक और खाद्य-संग्राहक समुदाय स्थायी रूप से बसकर खेती करने लगे। बंगाल की बढ़ती समृद्धि दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों, अर्थात् बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा आदि के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक संपर्क बनाने में भी सहायक हुई। दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन के साथ व्यापार बहुत लाभदायक था जिससे पाल साम्राज्य की समृद्धि में बढ़ोत्तरी हुई। इन देशों के साथ व्यापार के कारण बंगाल में सोना और चाँदी का भंडार भी बढ़ा। शैलेंद्र शासक जो बौद्ध थे तथा मलाया, जावा, सुमात्रा और पड़ोसी द्वीपों पर राज्य करते थे, उन्होंने पालों के दरबार में अनेक राजदूत भेजे। उन्होंने नालंदा में एक मठ बनाने की अनुमति भी माँगी तथा उसके रख-रखाव के लिए पाल राजा देवपाल से पाँच गाँव देने की प्रार्थना भी की। यह प्रार्थना मान ली गई। इसे दोनों के बीच घनिष्ठ संबंध का पक्का सबूत माना जा सकता है। इस काल में फ़ारस की खाड़ी क्षेत्र के साथ भी व्यापार बढ़ा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. हर्ष की मृत्यु के बाद का काल राजनीतिक का काल था।
2. पाल साम्राज्य की स्थापना 750 ई. में ने की थी।
3. का शासन भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा की आखिरी हद तक फैला हुआ था।
4. तिब्बत से भी पाल शासकों के गहरे संबंध थे।

नोट

4.3 प्रतिहार (Pratihara)

लंबे समय तक कन्नौज पर शासन करने वाले प्रतिहारों को गुर्जर-प्रतिहार भी कहते हैं। अधिकांश विद्वान मानते हैं कि वे गुर्जरों के वंशज थे, जाटों की तरह घुमक्कड़ पशुपालक और योद्धा थे। प्रतिहारों ने मध्य और पूर्वी राजस्थान में अनेक रजवाड़े स्थापित किए। मालवा और गुजरात पर नियंत्रण के लिए राष्ट्रकूटों से वे टकराते रहे, और बाद में कन्नौज के लिए भी, जिसका मतलब गंगा की ऊपरी घाटी पर नियंत्रण पाना था। प्रतिहारों की राजधानी पहले भनिमाल में थी। उन्हें नागभट्ट प्रथम के काल में प्रमुखता मिली।



सावधानी

नागभट्ट ने सिंध के अरब शासकों का, जो राजस्थान, गुजरात, पंजाब आदि पर अधिकार जमाने का प्रयास कर रहे थे, जमकर विरोध किया। अरब गुजरात की ओर तेजी से बढ़े पर गुजरात के चालुक्य राजा के हाथों 738 ई. में उनकी निर्णायक पराजय हुई। हालाँकि छोटी-मोटी अरब घुसपैठें जारी रहीं, पर उसके बाद अरब वास्तविक खतरा नहीं रह गए।

प्रतिहार राजाओं के गंगा के ऊपरी वादी और मालवा पर नियंत्रण करने के आरंभिक प्रयासों को राष्ट्रकूट शासक ध्रुव और गोपाल तृतीय ने नाकाम कर दिया। राष्ट्रकूटों ने 790 ई. में और फिर 806-07 ई. में प्रतिहारों को हराया। किंतु इसके बाद वे दक्कन लौट गए और पालों के लिए मैदान खुला छोड़ गए। संभवतः मालवा और गुजरात पर वर्चस्व रखना ही राष्ट्रकूटों का प्रमुख उद्देश्य था।



क्या आप जानते हैं प्रतिहार साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक और इस वंश का महानतम शासक भोज था।

भोज के आरंभिक जीवन या सत्तारोहण के समय के बारे में हम अधिक नहीं जानते। उसने प्रतिहार साम्राज्य का पुनर्निर्माण किया तथा 836 ई. के आसपास कन्नौज को वापस जीत लिया जो लगभग एक सदी तक प्रतिहार साम्राज्य की राजधानी रहा। भोज ने पूरब में पाँव फैलाने की कोशिश की, पर पाल राजा देवपाल ने उसे हराकर आगे बढ़ने से रोक दिया। फिर वह मध्य भारत, दकन और गुजरात की ओर मुड़ गया। इससे राष्ट्रकूटों के साथ प्रतिहारों का संघर्ष फिर से शुरू हो गया। नर्मदा किनारे हुई एक खूनी लड़ाई के बाद भोज मालवा के एक अच्छे-खासे भाग पर और गुजरात के कुछ भागों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने में सफल रहा, पर दक्कन में वह आगे नहीं बढ़ सका। इसलिए उसने फिर उत्तर की ओर अपनी निगाह घुमाई। एक शिलालेख के अनुसार उसका राज्य सतलुज नदी के पश्चिमी तट तक फैला हुआ था। अरब यात्रियों से हमें पता चलता है कि प्रतिहार शासकों के पास भारत की सर्वोत्तम घुड़सवार सेना थी। उन दिनों मध्य एशिया और अरब प्रदेश से घोड़ों का आयात भारत के व्यापार का एक महत्वपूर्ण मद था। देवपाल के मरने और पाल साम्राज्य के कमजोर पड़ने के बाद भोज ने पूर्व में भी अपना साम्राज्य फैलाया। कथाओं में भोज का नाम मशहूर है। संभवतः आरंभिक जीवन में भोज के दुस्साहसी कार्यों, अपने खोए हुए साम्राज्य की धीरे-धीरे पुनर्स्थापना और अतंतः कन्नौज की पुनर्विजय ने उसे उसके समकालीनों की कल्पना में विशेष स्थान दिला दिया था। भोज विष्णुभक्त था और उसने 'आदिवाराह' की उपाधि ग्रहण की जो उसके कुछ सिक्कों पर भी अंकित मिलती है। उज्जैन पर राज्य करने वाले भोज परमार से उसे भिन्न दिखाने के लिए उसे कभी-कभी मिहिर भोज भी कहा जाता है।

भोज की मृत्यु संभवतः 885 ई. के आसपास हुई। उसका पुत्र महेंद्रपाल प्रथम उसका उत्तराधिकारी बना। 908-9 ई. तक राज्य करने वाले महेंद्रपाल ने भोज के साम्राज्य को कायम रखा तथा उसे मगध और उत्तर बंगाल तक फैलाया। उसके शिलालेख काठियावाड़, पूर्वी पंजाब और अवध में भी मिले हैं। महेंद्रपाल ने कश्मीर के राजा से भी युद्ध किया, मगर उसे पंजाब का कुछ क्षेत्र सौंपना पड़ा जिसे भोज ने जीता था।

इस तरह प्रतिहार आरंभिक नवीं सदी से लेकर दसवीं सदी के मध्य तक, सौ वर्षों से अधिक काल तक, उत्तरी भारत पर राज्य करते रहे। बगदाद का निवासी अल-मसूदी, जो 915-16 ई. में गुजरात आया था, प्रतिहार शासकों की भारी

शक्ति और प्रतिष्ठा का तथा उनके साम्राज्य की विशालता का वर्णन करता है। वह गुर्जर-प्रतिहार राज्य को अल-जुज (गुजरात का भ्रष्ट रूप) कहता है तथा राजा को बौर कहता है जो संभवतः भोज की उपाधि आदिवाराह का भ्रष्ट उच्चारण है, हालाँकि भोज तब तक मर चुका था। अल-मसूदी कहता है कि जुज साम्राज्य में 1,80,000 गाँव, नगर और ग्रामीण क्षेत्र थे तथा यह 2,000 कि.मी. लंबा और 2,000 कि.मी. चौड़ा था। राजा की सेना के चार अंग थे और प्रत्येक में 7,00,000 से 9,00,000 सैनिक थे। 'उत्तर की सेना लेकर वह मुलतान के बादशाह और दूसरे मुसलमानों के खिलाफ जो उसका साथ देते हैं, लड़ाई लड़ता है।' दक्षिण की सेना राष्ट्रकूटों से लड़ती थी और पूरब वाली पालों से। उसके पास युद्ध के लिए प्रशिक्षित केवल 2000 हाथी थे, पर उसकी घुड़सवार सेना देशभर में सर्वश्रेष्ठ थी।

प्रतिहार ज्ञान-विज्ञान और साहित्य के संरक्षक थे। महान संस्कृत कवि और नाटककार राजशेखर भोज के पोते महीपाल के दरबार में थे। प्रतिहारों ने कन्नौज को भी अनेक सुंदर भवनों और मंदिरों से सजा रखा था।

आठवीं और नवीं सदियों में अनेक भारतीय विद्वान दूतों के साथ बगदाद के खलीफा के दरबार में गए। इन विद्वानों ने अरब दुनिया को भारतीय विज्ञानों से और विशेषकर गणित, बीजगणित और आयुर्विज्ञान से परिचित कराया। हमें इन दूतों को भेजने वाले भारतीय राजाओं के नाम ज्ञात नहीं हैं। सिंध के अरब शासकों से प्रतिहारों की शत्रुता सबको पता थी। इसके बावजूद ऐसा लगता है कि इस काल में भी भारत और पश्चिम एशिया के बीच विद्वानों और वस्तुओं का आवागमन जारी रहा।

915 और 918 ई. के बीच राष्ट्रकूट राजा इंद्र तृतीय ने फिर कन्नौज पर आक्रमण किया और नगर को तबाह करके रख दिया। इससे प्रतिहार साम्राज्य कमजोर हुआ और संभवतः गुजरात राष्ट्रकूटों के हाथों में चला गया क्योंकि अल-मसूदी का कथन है कि समुद्र तक प्रतिहार साम्राज्य की पहुँच नहीं थी। गुजरात विदेश व्यापार का गढ़ और उत्तर भारतीय वस्तुओं को पश्चिम एशिया के देशों में भेजनेवाला प्रमुख केन्द्र था। इसलिए उसकी हानि से प्रतिहारों को एक और धक्का लगा। 963 ई. के आसपास एक और राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय ने उत्तर भारत पर आक्रमण करके प्रतिहार राजा को हराया। उसके बाद से ही प्रतिहार साम्राज्य का तेजी से विघटन होने लगा।



टास्क उत्तर-भारत में वर्चस्व के लिए संघर्ष पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

4.4 राष्ट्रकूट (Rashtrakut)

उत्तर भारत पर जब पालों और प्रतिहारों का शासन था तब दक्कन पर राष्ट्रकूट शासन कर रहे थे। राष्ट्रकूट एक उल्लेखनीय राजवंश था जिसने योद्धाओं और कुशल प्रशासकों की एक लंबी शृंखला प्रस्तुत की। इस राज्य का संस्थापक दत्तिदुर्ग था जिसने आधुनिक शोलापुर के पास मान्यखेत या मलखेड़ को अपनी राजधानी बनाया। जल्द ही पूरा उत्तर महाराष्ट्र राष्ट्रकूटों के अधीन आ गया। जैसा कि हमने बताया है, गुजरात और मालवा पर वर्चस्व के लिए राष्ट्रकूटों ने प्रतिहारों से भी लोहा लिया। हालाँकि उनके हमलों के कारण राष्ट्रकूट साम्राज्य का गंगा की वादी तक प्रसार नहीं हो पाया, पर उन्हें लूट में भारी दौलत मिली और राष्ट्रकूटों की प्रसिद्धि बढ़ी। राष्ट्रकूट वेंगी (आधुनिक आंध्रप्रदेश में स्थित) के पूर्वी चालुक्यों के खिलाफ तथा दक्षिण में कांची के पल्लवों और मदुरै के पांड्यों के खिलाफ भी बराबर युद्ध करते रहे।

राष्ट्रकूट राजाओं में गोविंद तृतीय (793-814) और अमोघवर्ष (814-878) संभवतः सबसे महान थे। कन्नौज के नागभट्ट के खिलाफ एक सफल अभियान और मालवा पर अधिकार कर लेने के बाद गोविंद तृतीय दक्षिण की ओर मुड़ा। एक शिलालेख से हमें पता चलता है कि गोविंद ने 'केरल, पांड्य और चोल राजाओं को भयभीत कर दिया तथा पल्लवों का तो विनाश ही हो गया। (कर्नाटक का) गंग जो क्षुद्रता के कारण असंतोष का पात्र बना, जंजीरों में जकड़ा गया और मृत्यु को प्राप्त हुआ।' लंका के राजा और उसके मंत्री को, जो अपने ही हितों की उपेक्षा करने लगे थे, पकड़कर कैदियों के रूप में हालापुर लाया गया। लंका के स्वामी की दो मूर्तियाँ मान्यखेत लाई गईं और एक शिवमंदिर के सामने विजयस्तंभों के रूप में लगा दी गईं।

नोट

अमोघवर्ष ने 64 वर्षों तक राज्य किया पर उसका स्वभाव ऐसा था कि वह युद्ध पर धर्म और साहित्य को वरीयता देता था। वह स्वयं एक लेखक था और कन्नड़ में काव्यशास्त्र पर पहली पुस्तक लिखने का श्रेय उसे दिया जाता है। वह एक महान निर्माता था और कहते हैं कि राजधानी मान्यखेत को उसने ऐसा बनाया कि इंद्रपुरी भी उसका मुकाबला नहीं कर पाए।

अमोघवर्ष के काल में दूर तक फैले राष्ट्रकूट साम्राज्य में अनेक विद्रोह हुए। इनको मुश्किल से वश में किया जा सका और उसकी मृत्यु के बाद ये फिर शुरू हो गए। साम्राज्य की पुनर्स्थापना उसके पोते इंद्र तृतीय (915-927) ने की। 915 में महीपाल की पराजय और कन्नौज की लूट के बाद इंद्र तृतीय अपने समय का सबसे शक्तिशाली राजा बन बैठा। उन दिनों भारत की यात्रा पर आए अल-मसूदी के अनुसार राष्ट्रकूट राजा बल्हर या बल्लभराज भारत का सबसे बड़ा राजा था और अधिकांश भारतीय राजा उसकी अधिराजी को स्वीकार करते थे और उसके दूतों का सम्मान करते थे। उसके पास बहुत बड़ी सेना थी और अनगिनत हाथी थे।

कृष्ण तृतीय (934-963) प्रतिभाशाली शासकों की इस शृंखला में अंतिम था। मालवा के परमारों और वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के साथ वह युद्धरत रहा। उसने तंजावुर के चोल शासकों के खिलाफ भी अभियान छेड़ा, जिन्होंने काँची के पल्लवों को विस्थापित किया था। कृष्ण तृतीय ने चोल राजा परंटक प्रथम को (949 में) हराया और चोल साम्राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। फिर वह रामेश्वरम की तरफ बढ़ा जहाँ उसने एक विजयस्तंभ और एक मंदिर बनवाया। उसकी मृत्यु के बाद उसके सभी विरोधी उसके उत्तराधिकारी के खिलाफ एकजुट हो गए। राष्ट्रकूट राजधानी मलखेड़ को 972 में लूटकर जला दिया गया। इस तरह राष्ट्रकूट साम्राज्य का अंत हो गया।

दकन में राष्ट्रकूट शासन लगभग दो सौ वर्षों तक, दसवीं सदी के अंत तक जारी रहा। धार्मिक दृष्टिकोण से राष्ट्रकूट राजा सहिष्णु थे तथा वे केवल शैव और वैष्णव ही नहीं बल्कि जैन मत के भी संरक्षक थे। एलोरा में चट्टान काटकर बनाया गया सुप्रसिद्ध शिव मंदिर राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम द्वारा नवीं सदी में बनवाया गया था। कहते हैं कि उसका उत्तराधिकारी अमोघवर्ष जैन था, लेकिन वह दूसरे धर्मों को भी संरक्षण देता था। राष्ट्रकूटों ने मुस्लिम व्यापारियों को अपने राज्य में बसने और इस्लाम का प्रचार करने की अनुमति दी। कहते हैं कि इन मुसलमानों के अपने मुखिया थे और राष्ट्रकूट साम्राज्य के अनेक तटीय नगरों में नमाज के लिए उनकी बड़ी-बड़ी मस्जिदें थीं। सहिष्णुता की इस नीति ने विदेशी व्यापार को बढ़ावा दिया जिससे राष्ट्रकूटों की समृद्धि बढ़ी।

राष्ट्रकूट शासक कला और साहित्य के महान संरक्षक थे। उनके दरबारों में हमें संस्कृत के विद्वान ही नहीं, ऐसे कवि और अन्य लोग भी दिखाई देते हैं जो प्राकृत और अपभ्रंश में लिखते थे। ये ही तथाकथित भ्रष्ट भाषाएँ थीं जो आधुनिक भारत की विभिन्न भाषाओं की स्रोत थीं। महान अपभ्रंश कवि स्वयंभू और उनका पुत्र संभवतः राष्ट्रकूट दरबार से ही संबंधित थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

- दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन के साथ व्यापार बहुत था।
 (क) हानिकारक (ख) लाभदायक
 (ग) सामान्य (घ) तटस्थ
- गुजरात और मालवा पर अधिकार रखना ही राष्ट्रकूटों का प्रमुख है।
 (क) कार्य (ख) साधन
 (ग) उद्देश्य (घ) परंपरा
- प्रतिहार वंश का वास्तविक संस्थापक इस वंश का महानतम शासक था।
 (क) भोज (ख) महीपाल
 (ग) धर्मपाल (घ) नागभट्ट

नोट

8. प्रतिहार शासकों के पास की सर्वोत्तम घुड़सवार सेना थी।

(क) यूरोप

(ख) भारत

(ग) अरब

(घ) रोमन।

4.5 राजनीतिक विचार और संगठन (Political Thought and Organisation)

इन साम्राज्यों की प्रशासन की व्यवस्था उत्तर में गुप्त साम्राज्य और हर्ष के राज्य और दक्कन में चालुक्यों के आचार-विचार पर आधारित थी। शासक पहले की ही तरह सभी मामलों का केंद्र था। वह प्रशासन का प्रमुख भी था और सशस्त्र बलों का प्रमुख सेनापति भी। वह एक शानदार दरबार लगाता था। पैदल और घुड़सवार सेना को दालान में रखा जाता था। युद्ध में पकड़े गए हाथियों और घोड़ों को उसके सामने पेश किया जाता था। राजकीय सहायक सदा उसकी सेवा में तैनात रहते थे। सामंतों, मातहत सरदारों, और राजदूतों के आने-जाने को वे ही नियंत्रित करते थे तथा उन अन्य उच्च अधिकारियों पर नजर रखते थे जो नियमित रूप से राजा की सेवा में थे। राजा ही न्याय भी करता था। दरबार राजनीतिक मामलों और न्याय ही नहीं, सांस्कृतिक जीवन का भी केंद्र होता था। नर्तकियाँ और कुशल संगीतकार भी दरबार में रहते थे। उत्सव के अवसरों पर राजपरिवार की महिलाएँ भी दरबार में उपस्थित रहती थीं। अरब लेखकों के अनुसार राष्ट्रकूट साम्राज्य में स्त्रियाँ अपने चेहरे को ढँकती नहीं थीं।

राजा का पद सामान्यतः पुश्तैनी होता था। उस काल में व्याप्त असुरक्षा के कारण उस काल के विचारक राजा के प्रति पूर्ण निष्ठा और आज्ञाकारिता पर जोर देते थे। राजाओं के बीच तथा राजाओं और उनके मातहतों के बीच प्रायः युद्ध होते रहते थे। राजा अपने राज्यों के अंदर कानून-व्यवस्था बनाए रखने के प्रयास तो करते थे, पर उनके आदेश कभी-कभार ही दूर तक लागू हो पाते थे। अधीन शासक और स्वायत्त सरदार राजा के प्रत्यक्ष प्रशासन के क्षेत्र को अक्सर सीमित कर देते थे, हालाँकि राजा अक्सर राजाधिराज परमभट्टारक आदि भारी-भरकम उपाधियाँ धारण करते थे और चक्रवर्ती अर्थात् सभी भारतीय शासकों में सर्वोच्च होने का दावा करते थे। मेधातिथि नामक एक समकालीन लेखक का विचार था कि अपने को चोरों और हत्यारों से बचाने के लिए शस्त्र धारण करना हर व्यक्ति का अधिकार था। वह यह भी मानता था कि अन्यायी राजा का विरोध करना उचित था। इस तरह राजसी अधिकारों और विशेषाधिकारों के अतिवादी दृष्टिकोण को, जिसे मुख्यतः पुराणों में प्रस्तुत किया गया है; सभी विचारक स्वीकार नहीं करते थे।

उत्तराधिकार संबंधी नियमों में ढीलापन था। अक्सर ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होता था, किंतु ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें ज्येष्ठ पुत्र को अपने छोटे भाइयों से लड़ना पड़ा था और कभी-कभी वे पराजित भी हुए।



उदाहरण राष्ट्रकूट राजा धुव्र और गोविंद चतुर्थ ने अपने बड़े भाइयों को सत्ताच्युत किया।

कभी-कभी राजा ज्येष्ठ पुत्र या अपने किसी और प्रिय पुत्र को युवराज घोषित कर देते थे। उस दशा में युवराज राजधानी में ही रहता और प्रशासन के कामों में सहायता करता था। कनिष्ठ पुत्रों को कभी-कभी प्रांतों का अधिपति बना दिया जाता था। राजकुमारियों को शासन के पदों पर शायद ही कभी नियुक्त किया जाता था, पर हमारे पास एक उदाहरण मौजूद है कि एक राष्ट्रकूट राजकुमारी चंद्रबालाब्बी ने, जो अमोघवर्ष प्रथम की पुत्री थी, कुछ समय तक रायचूड़ दोआब का प्रशासन चलाया।

राजा को सलाह देने के लिए प्रायः कई मंत्री होते थे। मंत्रियों का चुनाव राजा आम तौर पर प्रमुख परिवारों में से करता था। उनका पद प्रायः पुश्तैनी होता था। उदाहरण के लिए पाल राजाओं के संदर्भ में यह पता है कि एक ही ब्राह्मण परिवार के क्रम से चार सदस्य धर्मपाल और उसके उत्तराधिकारियों के मुख्यमंत्री हुए। ऐसी परिस्थितियों में मंत्री बहुत शक्तिशाली बन जाता था। यँ तो हमें केंद्र सरकार के अनेक विभागों के नाम सुनने को मिलते हैं, पर हम नहीं जानते कि कितने विभाग होते थे और वे कैसे काम करते थे। अभिलेखों और साहित्यिक दस्तावेजों से पता लगता है कि लगभग हर राज्य में एक पत्राचार से संबंधित मंत्री होता था जो विदेश मंत्री की तरह भी कार्य करता था। इसके अलावा एक राजस्व मंत्री, कोषाध्यक्ष, सेनापति, मुख्य न्यायधीश और पुरोहित होते थे। एक व्यक्ति एक

नोट

से अधिक पदों पर भी आसीन हो सकता था। संभवतः मंत्रियों में से किसी एक को अग्रणी माना जाता था जिस पर राजा दूसरों से अधिक निर्भर करता था। पुरोहित को छोड़ सभी मंत्रियों से आशा की जाती थी कि वे आवश्यकता पड़ने पर सैन्य अभियानों का नेतृत्व भी करेंगे। हमें राजपरिवार (अंतःपुर) के अधिकारियों के बारे में भी सुनने को मिलता है। चूँकि राजा समस्त सत्ता का स्रोत होता था, इसलिए राजपरिवार के कुछ अधिकारी बहुत शक्तिशाली भी बन जाते थे।

साम्राज्य की सुरक्षा और प्रसार में सशस्त्र बलों का बहुत महत्त्व था। हमने अरब यात्रियों के इस साक्ष्य को पहले ही उद्धृत किया है कि पाल, प्रतिहार और राष्ट्रकूट राजाओं के पास विशाल सुसंगठित पैदल और घुड़सवार सेनाएँ थीं तथा बड़ी संख्या में जंगी हाथी थे। हाथियों को शक्ति का आधार मानकर उन्हें बहुत महत्त्व दिया जाता था। हाथियों की सबसे बड़ी संख्या पाल राजाओं के पास थी। राष्ट्रकूट और प्रतिहार राजा, दोनों ही समुद्र के रास्ते अरब और पश्चिम एशिया से तथा स्थल के रास्ते खुरासान (पूर्वी फारस) और मध्य एशिया से बड़ी संख्या में घोड़ों का आयात करते थे। माना जाता है कि प्रतिहार राजाओं के पास देश भर में सबसे अच्छी घुड़सवार सेना थी। युद्ध के रथों का कोई हवाला नहीं मिलता इनका प्रचलन समाप्त हो चुका था। कुछ राजाओं खासकर राष्ट्रकूटों के पास किले बड़ी संख्या में थे। उनमें विशेष दस्ते तैनात रहते थे और उनके अपने अलग कमानदार होते थे। पैदल सेना में नियमित और अनियमित सैनिक होते थे तथा मातहत राजाओं के भरती किए हुए अस्थायी सैनिक भी। नियमित सैनिक प्रायः पुश्तैनी होते थे तथा कभी-कभी देश के विभिन्न भागों से भरती किए जाते थे। उदाहरण के लिए, पालों की पैदल सेना में मालवा, खस (असम), लाट (दक्षिण गुजरात) और कर्नाटक से आए सिपाही शामिल थे। पाल राजाओं की और संभवतः राष्ट्रकूटों की भी अपनी नौसेनाएँ थीं, लेकिन उनकी शक्ति और संगठन के बारे में हम कुछ अधिक नहीं जानते।

इन साम्राज्यों में सीधे प्रशासित क्षेत्र भी थे और अधीन सरदारों द्वारा प्रशासित क्षेत्र भी। सरदारों के क्षेत्र, जहाँ तक अंदरूनी मामलों का सवाल है, स्वायत्त होते थे। सरदार राजा के प्रति निष्ठा रखते थे, वे राजा को निर्धारित कर या नज़राना देते थे और उसे निर्धारित संख्या में सैनिक भी प्रदान करते थे। कभी-कभी विद्रोह की संभावना से बचने के लिए सरदार के एक बेटे का राजा की सेवा में रहना आवश्यक बना दिया जाता था। इन सरदारों से विशेष अवसरों पर राजा के दरबार में उपस्थित होने की और कभी-कभी तो उनमें राजा या उसके किसी बेटे से अपनी एक बेटी ब्याहने की आशा की जाती थी। लेकिन ये अधीन सरदार हमेशा स्वतंत्र होने का प्रयास करते रहते थे तथा उनके और राजा के बीच प्रायः युद्ध होते रहते थे।



उदाहरण राष्ट्रकूटों को वेंगी (आंध्र) और कर्नाटक के सरदारों से या प्रतिहारों को मालवा के परमारों और बुंदेलखंड के चंदेलों के खिलाफ हमेशा लड़ना पड़ता था।

पाल और प्रतिहार साम्राज्यों में प्रत्यक्ष प्रशासित क्षेत्र भुक्ति (प्रांतों) और मंडल या विषय (जिलों) में विभाजित थे। प्रांत का अधिपति उपरिक और जनपद का अधिपति विषयपति कहलाता था। उपरिक से भूराजस्व जमा करने और सेना की सहायता से कानून-व्यवस्था बनाए रखने की आशा की जाती थी। विषयपति से यही कार्य अपने क्षेत्र में करने की अपेक्षा की जाती थी। इस काल में छोटे सरदारों की संख्या बढ़ी। उनको सामंत या भोगपति कहा जाता था तथा अनेक गाँवों पर उनका प्रभुत्व होता था। विषयपति और इन छोटे सरदारों का आपस में हेर-फेर होता था और आगे चलकर दोनों के लिए बिना किसी भेद के सामंत शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

राष्ट्रकूट साम्राज्य में प्रत्यक्ष प्रशासित क्षेत्रों को राष्ट्र (प्रांतों), विषय और भुक्ति में विभाजित किया गया था। राष्ट्र का प्रमुख राष्ट्रपति कहलाता था और उसका कार्यभार वही था जो पाल और प्रतिहार साम्राज्यों में उपरिक का था। विषय आज के जिले के समान था और भुक्ति उससे भी छोटी इकाई थी। पाल और प्रतिहार साम्राज्यों में विषय से छोटी इकाई को पत्तल कहते थे। इन छोटी इकाइयों की ठीक-ठीक भूमिका ज्ञात नहीं हैं। लगता है भूराजस्व वसूल करना और कुछ-कुछ कानून व्यवस्था पर ध्यान देना उनका मुख्य उद्देश्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी अधिकारियों को पारिश्रमिक के रूप में राजस्वमुक्त भूमियाँ दी जाती थीं। इससे स्थानीय अधिकारियों तथा पुश्तैनी

नोट

सरदारों और छोटे मातहत सरदारों का अंतर धुंधला जाता था। इसी तरह राष्ट्रपति या प्रांतीय शासक कभी-कभी एक अधीनस्थ राजा की स्थिति और पदवी पा जाता था।

इन क्षेत्रीय विभाजनों के नीचे गाँव होता था। गाँव प्रशासन की बुनियादी इकाई था। गाँव का प्रशासन गाँव के मुखिया और लेखाकार द्वारा चलाया जाता था। ये आमतौर पर पुश्तैनी होते थे। उन्हें राजस्वमुक्त भूमि के रूप में भुगतान किया जाता था।

अक्सर मुखिया को अपने काम में गाँव के बुजुर्गों से सहायता मिलती थी जिनको ग्राम-महाजन या ग्राम महत्तर कहते थे। ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्रकूट साम्राज्य में, विशेषकर कर्नाटक में, स्थानीय विद्यालयों, तालाबों, मंदिरों और सड़कों की देखभाल के लिए ग्राम समितियाँ होती थीं। वे ट्रस्ट के तौर पर धन या संपत्ति ग्रहण कर सकती थीं और उसका प्रबंध भी कर सकती थीं। ये उपसमितियाँ मुखिया से घनिष्ठ सहयोग बनाए रखकर काम करती थीं और जमा राजस्व का एक भाग पाती थीं। मामूली विवाद इन्हीं समितियों द्वारा तय किए जाते थे। ऐसी ही समितियाँ नगरों में भी थीं और दस्तकार संघों के प्रमुख भी उनसे जुड़े होते थे। नगरों और आसपास के क्षेत्रों में कानून-व्यवस्था कायम रखना कोष्टपाल या कोतवाल की जिम्मेदारी होती थी। कोतवाल से जुड़ी अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं।

दक्कन में नाद-गुवंड या देश-ग्रामकूट कहलाने वाले पुश्तैनी राजस्व अधिकारियों का उदय इस काल की एक प्रमुख विशेषता है। लगता है उनके कार्य वही थे जो बाद के काल में महाराष्ट्र में देशमुख और देशपांडे के जिम्मे आए। इस विकासक्रम ने और साथ में उत्तर भारत में छोटे सरदारों के उदय ने, जिसका हमने अभी-अभी जिक्र किया है समाज और राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। इन पुश्तैनी तत्वों की शक्ति बढ़ी तो ग्राम समितियाँ कमजोर हुईं। इन पुश्तैनी तत्वों पर अपनी सत्ता की धाक जमा पाना और उन्हें नियंत्रित करना केंद्रीय शासक के लिए भी मुश्किल हो गया। जब हम कहते हैं कि शासन का 'सामंतीकरण' हो रहा था तो हमारा आशय यही होता है।

इस काल में राज्य और धर्म के संबंध को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। उस काल के शासकों में अनेक शिव या विष्णु के निष्ठावान भक्त थे और कुछ बौद्ध या जैन धर्म की शिक्षा में विश्वास करते थे। उन्होंने ब्राह्मणों, बौद्ध विहारों और जैन मंदिरों को बड़े-बड़े दान दिए। लेकिन आम तौर पर वे सभी धर्मों को संरक्षण प्रदान करते थे और किसी के धार्मिक विश्वासों का उसका दमन नहीं करते थे। राष्ट्रकूट राजाओं ने मुसलमानों तक का स्वागत किया और उन्हें अपने धर्म का प्रचार करने की अनुमति दी। सामान्यतः एक राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह प्रचलित रीति-रिवाजों में या धर्मशास्त्र कहलाने वाले विधि-ग्रंथों में निर्धारित आचार-संहिता में हस्तक्षेप नहीं करेगा। लेकिन ब्राह्मणों की रक्षा करना तथा समाज के चार वर्णों वाली सामाजिक व्यवस्था को कायम रखना उसका सामान्य कर्तव्य होता था। इस बारे में पुरोहित से राजा का मार्गदर्शन करने की आशा की जाती थी। पर यह नहीं मान लेना चाहिए कि पुरोहित राज्य के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता था या राजा पर प्रभुत्व जमा सकता था। इस काल में धर्मशास्त्र के सबसे प्रमुख प्रतिपादक थे मेधातिथि, जिनका कहना था कि राजा की सत्ता का स्रोत धर्मशास्त्र, जिनमें वेद भी शामिल थे और अर्थशास्त्र दोनों हैं। उसका सार्वजनिक कर्तव्य (राजधर्म) अर्थशास्त्र अर्थात् राजनीति के सिद्धांतों पर अधारित होता था। इसका वास्तव में यह अर्थ निकलता है कि राजनीति और धर्म को मूलतः अलग-अलग रखा जाता था और धर्म बुनियादी तौर पर राजा का निजी कर्तव्य होता था। इस तरह राजागण पुरोहित वर्ग के या उनके द्वारा प्रतिपादित धार्मिक नियमों के अधीन नहीं होते थे। फिर भी, शासकों के पद को वैधता प्रदान करने और उसे शक्ति देने के लिए धर्म का महत्त्व था। इसीलिए अनेक राजाओं ने प्रायः अपनी राजधानियों में मंदिर बनवाए तथा मंदिरों और ब्राह्मणों के रख-रखाव, भरण-पोषण के लिए भारी-भारी भूमिदान दिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. प्रतिहार ज्ञान-विज्ञान और साहित्य के संरक्षक थे।
10. अमोघवर्ष ने 10 वर्षों तक राज्य किया।

नोट

11. कृष्ण तृतीय प्रतिभाशाली राष्ट्रकूट शासकों की शृंखला में पहला था।
12. राष्ट्रकूट कला और साहित्य के महान संरक्षक थे।

4.6 सारांश (Summary)

- सातवीं सदी में हर्ष के साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर-भारत, दक्कन और दक्षिण-भारत में अनेक बड़े राज्य पैदा हुए। उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य और हर्ष के साम्राज्य के समान कोई भी राज्य गंगा की पूरी वादी को अपने नियंत्रण में लाने में सफल नहीं रहा।
- पाल साम्राज्य की स्थापना संभवतः 750 ई. में गोपाल ने की थी जब उस क्षेत्र में व्याप्त अराजकता को समाप्त करने के लिए क्षेत्र के अग्रणी व्यक्तियों ने उसे राजा चुन लिया।
- गोपाल ने अपने नियंत्रण में बंगाल का एकीकरण किया और मगध (बिहार) तक को अपने अधीन ले आया। 770 ई. में गोपाल का पुत्र धर्मपाल राजा बना जिसने 810 ई. तक शासन किया।
- प्रतिहार साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक और इस वंश का महानतम शासक भोज था। उसने प्रतिहार साम्राज्य का पुनर्निर्माण किया तथा 836 ई. के आसपास कन्नौज को वापस जीत लिया जो लगभग एक सदी तक प्रतिहार साम्राज्य की राजधानी रहा।
- भोज की मृत्यु संभवतः 885 ई. के आसपास हुई। उसका पुत्र महेंद्रपाल प्रथम उसका उत्तराधिकारी बना। 908-9 ई. तक राज्य करने वाले महेंद्रपाल ने भोज के साम्राज्य को कायम रखा तथा उसे मगध और उत्तर बंगाल तक फैलाया।
- राष्ट्रकूट एक उल्लेखनीय राजवंश था जिसने योद्धाओं और कुशल प्रशासकों की एक लंबी शृंखला प्रस्तुत की। इस राज्य का संस्थापक दत्तिदुर्ग था जिसने आधुनिक शोलापुर के पास मान्यखेत या मलखेड को अपनी राजधानी बनाया।
- राष्ट्रकूट राजाओं में गोविंद तृतीय (793-814) और अमोघवर्ष (814-878) संभवतः सबसे महान थे।

4.7 शब्दकोश (Keywords)

- **लेखापाल**—बही-खाता लिखने वाला कर्मचारी।
- **पुश्तैनी**—जो कई पीढ़ियों से चला आ रहा हो।

4.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. पाल साम्राज्य की स्थापना एवं उनके शासनकाल का वर्णन करें।
2. प्रतिहार साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक कौन था? प्रतिहारों के शासनकाल की विवेचना करें।
3. राष्ट्रकूट साम्राज्य पर प्रकाश डालें।
4. उत्तर-भारत के साम्राज्यों के प्रशासनिक संगठन का वर्णन करें।

अथवा

उत्तर-भारत के राज्यों में किस प्रकार का शासन-तन्त्र था?

5. इस काल में राज्य और धर्म का क्या संबंध था?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|----------------|-----------------|------------|---------------|
| 1. अव्यवस्था | 2. गोपाल | 3. धर्मपाल | 4. सांस्कृतिक |
| 5. (ख) लाभदायक | 6. (ग) उद्देश्य | 7. (क) भोज | 8. (ख) भारत |

9. सत्य

10. असत्य

11. असत्य

12. सत्य।

नोट

4.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
6. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
7. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
8. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-5 : कानून एवं न्याय-प्रणाली

(Law and Justice System)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 5.1 कानून तथा न्याय-प्रणाली (Law and Judiciary)
- 5.2 सैनिक संगठन और उसका ढाँचा (Military Organisation and its Structure)
- 5.3 सारांश (Summary)
- 5.4 शब्दकोश (Keywords)
- 5.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 5.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- सैनिक संगठन एवं उसके यंत्रजाल को जानने में;
- कानून तथा न्याय-प्रशासन को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कानून तथा व्यवस्था को बनाए रखने का संबंध न्याय के प्रशासन के साथ जुड़ा हुआ है, किसी भी प्रशासनिक ढाँचे में अपराधियों को पकड़ने और उन्हें दंड देने और दीवानी विवादों को निपटाने की व्यवस्था परम आवश्यक है। प्रशासन में दक्षता के लिए इन दोनों स्कंधों का पृथक्करण भी आवश्यक है। न्याय स्वतंत्र रूप से ही होना चाहिए और आदेशों को समुचित रीति से कार्यान्वित किया जाना चाहिए। अतएव, धर्मशास्त्रों में कष्टों के निवारण के लिए दंड धारण करने का विधान किया गया है। **मनु** के शब्दों में, यदि दंड का प्रयोग समुचित विचार के पश्चात् उचित रीति से किया जाए, तो सब लोग सुखी रहते हैं; परन्तु यदि इसका प्रयोग अविचारपूर्वक किया जाए, तो यह सर्वनाश कर देता है। कानून का शासन न हो, तो 'धर्मात्मा लोग वैसे ही भयभीत रहते हैं, जैसे उस घर में रहने वाला व्यक्ति, जिसमें सांप छिपा हुआ हो।' इसलिए दंड का उद्देश्य अपना बड़प्पन जताना नहीं, अपितु सबको न्याय प्रदान करने की पक्की व्यवस्था करना है। राजा से आशा की जाती है कि उसे दंडनीति अर्थात् सुशासन के विज्ञान अथवा राजस्व का भी भली-भाँति ज्ञान हो। प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था पर इन संकल्पनाओं को दृष्टि में रखते हुए विचार किया जा सकता है।

5.1 कानून तथा न्याय-प्रणाली (Law and Judiciary)

नोट

न्यायाधीशों या जूरी के सदस्यों को, जिन्हें शास्त्रों तथा प्रथाओं का भली भाँति ज्ञान होता था, धार्मिक कहा जाता था और वे शासक की सहायता करते थे। न्याय करने वाले न्यायिक-पदाधिकारी दंडपाल अर्थात् फौजदारी न्यायाधीश और प्रदेष्टा अर्थात् मुख्य न्यायाधिपति थे। आत्मकथा नामक एक पालिग्रंथ में ऊँचे या नीचे स्तरों के क्रम से न्यायालयों की एक सूची दी गई है; विनिच्चय महामात, बोहारिक अर्थात् वकील न्यायाधीश, सूत्रधार अर्थात् कानून के स्वामी, अष्टकुल अर्थात् आठ की परिषद्, सेनापति अर्थात् सेनाध्यक्ष, उपराज अर्थात् राजा का प्रतिनिधि, और अंत में स्वयं शासक। हो सकता है कि इनमें से कुछ न्यायालय अपील न्यायालय रहे हों, किंतु अन्य कोई ऐसा साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जिससे न्यायालयों के इस स्तर क्रम की पुष्टि होती हो। न्यायालयों के कामकाज में न्यायाधीशों से आशा की जाती थी कि वे मृदुभाषी, मध्यम आयु के, लोलुपता, लापरवाही और अज्ञान जैसे दोषों से रहित और स्थानीय लोगों की प्रथाओं और रीति-रिवाजों से सुपरिचित हों। ईमानदारी पर इतना जोर होने पर भी जातकों अर्थात् बुद्ध संबंधी कथाओं में न्याय के प्रशासन में भ्रष्टाचार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कई कहानियों में न्यायाधीशों द्वारा रिश्वत लिए जाने के उल्लेख हैं। जातकों में दो पदाधिकारियों, नगरगुट्टिक, जिसका काम चोरों को पकड़वाना और डाकुओं को वध करवाना था और चोर घातक अर्थात् चोरों को मारने वाले का भी उल्लेख है।

मौर्य प्रशासन में न्यायपालिका कार्यपालिका से पृथक् नहीं थी। अपराधों का निवारण, अपराधियों का निग्रहण (पकड़ना) और उनका न्याय, ये तीनों साथ जुड़े हुए थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में सब महत्वपूर्ण स्थानों में पुलिस के मुख्यालय तथा न्यायालयों का उल्लेख किया गया है। नगर का महापौर या प्रीफेक्ट, जिसे नगरक कहा जाता था, स्थानिकों पर नियंत्रण रखता था, जो नगर के एक-एक वार्ड का काम संभालते थे; स्थानिकों के नीचे गोप होते थे, जो दस, बीस या चालीस घरों के लिए जिम्मेदार होते थे। अशोक के उत्कीर्ण लेखों में नगर वियोहालक महामात्रों का उल्लेख है, जो मजिस्ट्रेटों से मिलते-जुलते न्यायिक पदाधिकारी होते थे।



नोट्स कौटिल्य के कथनानुसार, दो प्रकार के न्यायालय होते थे; धर्मस्थीय और कंटकशोधन न्यायालय, जिनमें क्रमशः दीवानी तथा फौजदारी मुकद्दमों की सुनवाई होती थी।

मुख्य न्यायाधीश को धर्माधिकारी कहा जाता था। अर्थशास्त्र में जिन अन्य न्यायाधीशों का उल्लेख है, वे हैं धर्मस्थ अमात्य और प्रदेष्टा, जो मूलतः कार्यपालक अधिकारी थे। कौटिल्य ने 'सर्वाधिकरणरक्षणम्' वाले अध्याय में कहा है कि दोषी न्यायाधीशों पर समाहर्ता के न्यायालय में मुकदमा चलाया जाए और प्रदेष्टा समाहर्ता की सहायता के लिए वहां रहे। न्यायाधीश को इन कारणों से दंड दिया जाता था—अकारण ही पक्षकारों को रुष्ट कर देना, असंबद्ध बातें उठाकर उन्हें अपमानित करना, साधियों को पट्टी पढ़ाना और किसी एक पक्षकार के प्रति पक्षपात करना या उनके अधिकारों का हनन करना। इसमें से किसी भी त्रुटि के लिए उस पर जुर्माना किया जाता था और यदि यह दूसरी बार दोषी पाया जाए, तो उसे पदच्युत किया जा सकता था। अशोक के उत्कीर्ण लेखों में और अर्थशास्त्र में ही कारागार के पदाधिकारियों का तथा बंदियों विषयक नियमों के उल्लेख हैं। कारागार के पदाधिकारियों को बंधनागाराध्यक्ष और पुलिस की हिरासत के अध्यक्ष को चरक कहा गया है। अशोक ने अन्यायपूर्ण बंदीकरण तथा अपर्याप्त आधारों पर दोषी ठहराए जाने की रोकथाम करने के लिए धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। अशोक के उत्कीर्ण लेखों में सजाओं की माफी और जेल की राहतों का भी उल्लेख मिलता है।

कुषाणों तथा गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों में न्याय के प्रशासन तथा अपराधियों को पकड़ने से संबंधित कुछ नए पदाधिकारी दिखाई पड़ते हैं। इनमें से एक था दंडनायक, जिसके साथ कभी कभी 'महा' उपसर्ग लगा होता था; उसे मजिस्ट्रेट या पुलिस का प्रीफेक्ट समझा जाता था। ऐसा माना जाता था कि उसमें सैनिक, न्यायिक तथा पुलिस के कृत्य एकत्र सम्मिलित थे। इस पदाधिकारी का उल्लेख दक्षिण के अलावा उत्तर भारत के उत्कीर्ण लेखों में भी मिलता है; इससे अनुमान होता है कि उसकी स्थिति अपरिहार्य थी। पुलिस तथा न्याय से संबंधित कई अन्य पदाधिकारियों

नोट

के गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों में जिक्र है और कामदक के नीतिसार से भी, जो बहुत संभव गुप्त काल में लिखा गया राजनीति एवं प्रशासन विषयक ग्रंथ है, न्यायिक प्रशासन के विषय में यथेष्ट जानकारी प्राप्त होती है। अनेक प्रकार के न्यायालयों के होने से प्रतीत होता है कि उस समय न्याय प्रणाली काफी उन्नत थी।

न्यायिक पदाधिकारियों में, जीवितगुप्त के देव वारणार्क उत्कीर्ण लेख में दांडिक, चौरोधरणिक तथा दंडपाशिक का उल्लेख है। दांडिक जिसका शाब्दिक अर्थ है—दंड देने वाला, या तो कोई न्यायिक कर्मचारी रहा होगा, या डंडा लेकर चलने वाला कोई पुलिस अधिकारी। चौरोधरणिक, अर्थात् चोरों को नष्ट करने वाला, अवश्य ही कोई पुलिस अधिकारी रहा होगा, जिसका काम चोरों को भद्र लोगों के इलाकों से निकालकर जंगलों में खदेड़ देना होता था और दंडपाशिक पुलिस का वह सिपाही होता था, जो संदिग्ध व्यक्तियों को बंदी बनाने के लिए हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ या एक फंदा लेकर चलता था। चट और भट छोटे पुलिस कर्मचारी होते थे, जिनका काम डाकुओं तथा राजद्रोहियों को पकड़ना होता था। प्रतीत होता है कि विनयशूर अर्थात् मुख्य सैंसर (अभिवेचक; एक प्रकार का मजिस्ट्रेट) के अधीन बाल न्यायालयों की भी व्यवस्था थी। विनय-स्थिति स्थापक कानून तथा व्यवस्था बनाए रखता था और न्यायकरणिक भूमि संबंधी विवादों का फैसला करता था। इनमें से किसी न्यायालय की कार्यपद्धति के विषय में वैसी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, जैसी शूद्रक द्वारा (ईसा की छठी शताब्दी में) लिखित नाटक मृच्छकटिक में दिखाई पड़ती है। इस नाटक में न्यायाधीश (अधिकरणिक) की सहायता के लिए एक श्रेष्ठी (प्रतिष्ठित पुरुष) और एक लिपिक (कायस्थ) हैं। इससे अनुमान होता है कि न्यायपालिका में अशासकीय (गैर सरकारी) तत्व भी रहता था। इसके अतिरिक्त; कार्यपालन तथा न्यायपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में निहित रहती थीं, जो निवारक और शोधक दोनों प्रकार के बल के रूप में कार्य करता था। न्याय के प्रशासन की इस पद्धति में उत्तर भारत में पूर्व मध्यकाल में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पालवंशीय अभिलेखों में कानून तथा व्यवस्था और न्याय के प्रशासन से संबंधित कुछ एक कर्मचारियों का उल्लेख है, परंतु ये नए नहीं हैं। दंडशक्ति, दंडपाशिक, चौरोधरणिक देशापराधिक और दांडिक का इससे पूर्व के अभिलेखों में भी उल्लेख है। चौरोधरणिक चोरों और डाकुओं को पकड़ने से संबंधित सर्वोच्च पदाधिकारी था, जो हिंदू धर्मशास्त्रों में वर्णित चौरोद्धर्ता या चौरग्रह के तुल्य था। एक अन्य पारिभाषिक शब्द दौहसाधासाधनिक का अर्थ स्पष्ट नहीं है; इस शब्द के रूपांतर मिलते हैं और कहीं कहीं इसके साथ 'महा' उपसर्ग भी जुड़ा मिलता है।



क्या आप जानते हैं? मौर्यकाल में मुख्य न्यायाधीश को धर्माधिकारी कहा जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण में न्याय के प्रशासन का पूरी तरह विकेंद्रीकरण कर दिया गया था। राष्ट्रकूटों के शासन में धर्माधिकरण अर्थात् मुख्य न्यायाधिपति और पुरोहित सर्वोच्च न्यायिक प्राधिकारी के रूप में कार्य करते हुए, राजा धर्माकुश अर्थात् कानूनी रोकथाम के रूप में काम करते थे। उनके अभिलेखों में न्यायालयों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती, परंतु उनमें चौरोधरणिकों अर्थात् चोरों को पकड़ने वालों और दंडपाशिकों अर्थात् दंड देने वालों के उल्लेख अवश्य मिलते हैं। गांव का मुखिया अपने क्षेत्र में पुलिस व्यवस्था का अध्यक्ष होता था और ग्राम सभाएँ स्थानीय विवादों का फैसला करती थीं। अरब लेखक सुलेमान उनके शासन काल में उनके राज्य में आया था; उसने राजा के न्यायालयों के अतिरिक्त लोक न्यायालयों (पौपुलर कोर्ट्स) का भी उल्लेख किया है। न्यायिक निकाय के रूप में ग्राम परिषद में महाजन अर्थात् गांव के बड़े-बूढ़े (प्रतिष्ठित लोग) सम्मिलित होते थे। उनके निर्णयों तथा दीवानी डिग्रियों को उच्चतर प्राधिकारी कार्यान्वित करवाते थे। दक्षिण के एक तत्कालीन लेखक **सोमदेव** के कथनानुसार राजा के न्यायालयों में कोई भी मुकदमा सीधा नहीं जाता था, अपितु ग्राम परिषदों के निर्णय के विरुद्ध अपील के रूप में ही जा सकता था। इस प्रकार वे अपील न्यायालय थे। इन न्यायालयों के जूरी सदस्य (जूरर) सभ्य कहलाते थे और वे न्यायाधीशों की सहायता करते थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. न्याय रूप से ही होना चाहिए।
2. का उद्देश्य अपना बड़प्पन जताना नहीं, अपितु सभी को न्याय प्रदान करने की व्यवस्था करना है।
3. प्रशासन में न्यायपालिका, कार्यपालिका से पृथक् नहीं थी।
4. नगर के महापौर को कहा जाता था।

5.2 सैनिक संगठन और उसका ढाँचा (Military Organisation and its Structure)

प्राचीन काल में सैनिक संगठन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि सारी शक्ति सेनापति अर्थात् प्रधान सेनाध्यक्ष के हाथ में केंद्रित रहती थी जो कभी-कभी शासक को अपदस्थ करके स्वयं शासक बन बैठता था और यह भी कि कुछ सामंत होते थे, जो शासक को अपनी सेवाएँ देते थे। प्राचीन काल में भारतीय सेना साधारणतया बहुत बड़ी होती थी।



उदाहरण नंदवंश के अंतिम शासक की सेना में 20,000 अश्वारोही, 2,000 रथ, 2,00,000 पद्धति सैनिक, और 3000-6000 हाथी थे, जब कि प्लूटार्क के कथनानुसार चंद्रगुप्त मौर्य ने 6,00,000 सशस्त्र सैनिक द्वारा देश को जीत लिया था।

विशाल संख्यक चतुरंगिनी सेना में योद्धाओं के अलावा सहायक सैनिक भी होते थे। मौर्यों के शासन में, सेना के संगठन की कुछ रूपरेखा मैगास्थनीज ने दी है; उसने तीस व्यक्तियों की एक समिति का उल्लेख किया है, जो पांच-पांच सदस्यों की छह समितियों में विभक्त होती थी; इसमें से एक-एक समिति पदाति सेना, अश्वारोही सेना, गज सेना, नौ सेना, रथ सेना और रसद विभाग का नियंत्रण करती थी, किंतु कौटिल्य ने लिखा है कि सेना का संगठन अनेक अधीक्षकों के अधीन होता था और सेनापति सब सैनिक मामलों का अध्यक्ष होता था। उत्तर काल के अभिलेखों में महासेनापति का और बलाध्यक्ष अर्थात् बलों के अध्यक्ष के भी उल्लेख मिलते हैं। रेजीमेंट, डिवीजन और स्क्वाड्रन विभिन्न सेनाध्यक्षों के अधीन, जिन्हें नायक और दंडनायक कहा जाता था, संगठित होते थे; हो सकता है कि ये नायक और दंडनायक सामंत होते हों या मजिस्ट्रेट होते हों। इस संबंध में 'सीमांतों के रक्षक' का, जिसे कौटिल्य ने अंतपाल कहा है, कार्यभाग भी समान रूप से महत्वपूर्ण होता था। मौर्यों के शासन में प्रत्येक प्रांत का अपना 'अंतपाल' होता था। कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के सैनिकों का भी उल्लेख किया है—मौल अर्थात् आनुवंशिक सैनिक; मृतक अर्थात् वेतनभोगी सैनिक, श्रेणीबल अर्थात् निगमों द्वारा दिए गए सैनिक, जो थोड़े समय की सेवा पर होते थे; मित्रबल, अर्थात् वे सैनिक जो मित्र राजाओं द्वारा दिए गए होते थे; और अटवीबल अर्थात् गुरिल्ला सैनिक, जो मुख्यतया आदिवासी लोग होते थे। सैनिकों की भर्ती क्षत्रिय वर्ग के पुरुषों में से की जाती थी, हालांकि सेना में ब्राह्मण सैनिक भी होते थे। कौटिल्य ने आयुधागाराध्यक्ष का भी उल्लेख किया है, जो शस्त्रागार की देखभाल का अध्यक्ष होता था। सेना के आगे एक प्रकार के सफरमैना (सैपर्स एंड माइनर्स) सैनिक भी चलते थे, जिन्हें वर्धकी और विष्ट कहा जाता था; उनका काम कुएं खोदना और सड़कें बनाना होता था।

सेना के संगठन तथा भर्ती के सिद्धांतों के विषय में विस्तृत जानकारी गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों तथा कामंदक के नीतिसार से मिल जाती है। अभिलेखों में उल्लिखित सैनिक पदाधिकारी हैं—महाबलाधिकृत, महाबलाध्यक्ष और महासेनापति, जबकि 'नीतिसार' में नायक का उल्लेख है। एक अन्य पदाधिकारी है रणभंडारक, जिसका संबंध बहुत संभवतः रसद विभाग से है, जबकि भाष्यपति पीलुपति, महापीलुपति का संबंध अश्वारोही सेना तथा गज सेना से प्रतीत होता है। अन्य पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। जहाँ तक भर्ती के लिए अर्हताओं का प्रश्न है, कामंदक ने सेनापति के लिए अपेक्षित अर्हताएँ बताई हैं—उच्च कुल में और उस देश में ही जन्म, मस्तिष्क

नोट

तथा हृदय के सद्गुण, ऊर्जा एवं शौर्य और दंडनीति का सम्यक् ज्ञान। उसके कृत्यों के विषय में कामंदक का कहना है कि उसे कुशल प्रशासक, रहस्य गोपक और सावधान होना चाहिए और उसे गुप्तचरों तथा भेदियों की गतिविधियों का पूरा पता रहना चाहिए। उसे विभिन्न स्थितियों का सामना करने में और अपनी गुप्तचर व्यवस्था द्वारा शत्रु की गतिविधियों को जानने में समान रूप से समर्थ होना चाहिए। योद्धा सैनिकों के अलावा कुछ असैनिक कर्मचारी भी संपर्क अधिकारियों के रूप में या शासकीय कामकाज की सूचना देने वालों के रूप में सेना के साथ रहते थे।

हर्ष की सेना भी महाबलाधिकृत, जो सब बलों (सेनाओं) का सर्वोच्च कमांडर होता होगा, बलाधिकृत और सेनापति के अधीन सुसंगठित थी। अश्वारोही सेना गजसेना, के अलग अलग कमांडर होते थे, जैसाकि बृहदश्ववारू अर्थात् मुख्य अश्वारोही अफसर। पति या पति-पति सैनिकों की बैरकों के अधीक्षक होते थे। बाण ने ऊंटों की सेना का भी उल्लेख किया है। पालों के शासन में स्थल सेना के काम आने वाले पशुओं के लिये भी एक अध्यक्ष होता था, जैसा कि हस्त्यश्व-गोमहिष-अजाविकाध्यक्ष पदनाम से प्रकट है और एक नौ-अध्यक्ष, अर्थात् नावों का अध्यक्ष और पुलों (नौवाटक) का अध्यक्ष होता था। पालों तथा दक्षिण में पल्लवों और उसके चोलों द्वारा नावों का प्रयोग उनकी भौगोलिक स्थिति के कारण आवश्यक था। महेन्द्रवर्मन के पिता सिंहविष्णु के समय पालों की नौ-सेना ने सिंहल (श्री लंका) के राजा पर विजय प्राप्त की थी। इस नौ-सेना की सहायता पांड्यों ने मांगी थी। परवर्ती काल में चोलों ने बंगाल की खाड़ी में स्थित अपने समुद्री बेड़े की सहायता से दक्षिण-पूर्वी एशिया के शैलेन्द्रों से एक शतवर्षीय युद्ध लड़ा था। यह कह देना उचित होगा कि दक्षिण के सैनिक अपनी वीरता के लिए विख्यात थे और प्रतिहारों के राजकवि राजशेखर ने उनकी प्रशंसा की है। बंगाल के पाल शासक कर्नाटक से और गुजरात में लाट प्रदेश से अपने सैनिक भर्ती किया करते थे। राष्ट्रकूटों की सेना में ब्राह्मण सैनिक होते थे, जो अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे और उनमें से कुछ सेनाध्यक्ष (दंडेश) भी बनते थे। तत्कालीन मुस्लिम लेखकों ने, जो राष्ट्रकूटों के राज्य में आए थे, आनुवंशिक सैनिकों (मौलबल) का भी उल्लेख किया है, जिनका जिक्र प्रायः दक्ष और विश्वसनीय सैनिकों के रूप में होता रहा है। सेना की विभिन्न टुकड़ियों को प्रशिक्षण देने के लिए नियमित अफसर नियुक्त किए जाते थे। राष्ट्रकूटों की सेना के लिए सामंत शासक भी सैनिक प्रदान करते थे।

यहाँ प्राचीन भारत में राजनीतिक संकल्पनाओं तथा प्रशासनिक संगठन के सारांश के रूप में, कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख कर देना उचित होगा। प्राचीनकाल में राजनीति के अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक पक्ष का, जैसा कि वह पश्चिम में प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं में दिखाई पड़ता है, भले ही अभाव रहा हो, परंतु उस काल में लोगों को राजनीति विज्ञान का ज्ञान था और उसका प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार, कौटिल्य और कामंदक के राजनीतिक ग्रंथों में राजाओं के आचरण (राजनीति) और बल के प्रयोग (दंडनीति) से संबंधित अनेक विषयों का यथेष्ट वर्णन प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र का जो रूप इस समय प्राप्त है, उसमें राजनीतिक सिद्धांत तथा शासन से संबंधित विषयों के बारे में यथेष्ट जानकारी मिलती है। इसमें राज्य का नियंत्रण, शासन का यंत्रजाल और संगठन, युद्ध, भेदियों तथा गुप्तचर सेवा का संचालन तथा इनसे संबद्ध अन्य अनेक विषय सम्मिलित हैं। 'महाभारत' में, विशेष रूप से शांति पर्व में, राजनीति तथा मानवीय आचार का उपदेश किया गया है। कामंदक के ग्रंथ का नाम है नीतिसार; अर्थात् राजनीति का सार तत्व, जो बहुत संभवतः गुप्त काल में लिखा गया था। कुछ अन्य ग्रंथ भी हैं : 'नीतिवाक्यामृत', अर्थात् राजनीतिक उक्तियों का अमृत; यह ग्रंथ शुक्र आचार्य का लिखा कहा जाता है और यह उत्तर मध्य काल है। इनके अलावा मनु, नारद, विष्णु तथा अन्य स्मृतिकारों के भी कानूनी ग्रंथ हैं, जिनसे शासक तथा उसके प्रजाजनों के विषय में यथेष्ट जानकारी होती है। भारतीय विचारकों द्वारा प्रतिपादित राजाओं के दैवीय अधिकार का सिद्धांत उस समय अन्य देशों में प्रचलित विश्वास के अनुकूल ही था। हिंदुओं ने राजत्व का संविदात्मक सिद्धांत भी प्रस्तुत किया; जिसके अनुसार लोग शासक को कर उसके द्वारा की जाने वाली सुरक्षा की पक्की व्यवस्था के प्रतिफल के रूप में देते थे। हिंदू राज्यतंत्र तथा प्रशासन में लोकतंत्रीय तत्वों को वैदिक काल जितने प्राचीन काल तक में खोजा जा सकता है, जब सभा और समिति राज्यों के मामलों में सक्रिय भाग लेती थीं। इसके कई शताब्दी बाद, सिकंदर के समय सिंधुपार के प्रदेश में और उससे भी पहले (ईसा पूर्व की छठी शताब्दी में) पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में गणतंत्रीय राज्य सुचारू रूप से चल रहे थे। शासकों के निर्वाचन के, जिसमें लोग भी भाग लेते थे, उल्लेखों से यह भी सूचित होता है कि प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र में लोकतंत्रीय तत्व विद्यमान था। सामान्यतया इस

नोट

कार्यविधि का अवलंबन आपात (संकट) और असुरक्षा के समय किया जाता था क्योंकि साधारणतया तो शासक अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत कर देता था, जिसे उसके प्रजाजन स्वीकार कर लेते थे, परंतु किसी विकृत व्यक्तित्व वाले व्यक्ति को, जैसा कि महाभारत का देवापि था, प्रजा अस्वीकार भी कर सकती थी। शासक अपने गुरु के कारण और प्रजा के, जो असंदिग्ध रूप से उस पर अपना परोक्ष नियंत्रण रखती थी, भय के कारण मनमानी नहीं करने पाता था।

प्राचीन भारत में प्रशासनिक संगठन बहुत संभवतः योजनाबद्ध था और उसके लिए एक विस्तृत तथा दक्ष कर्मचारी वर्ग बना होता था। जिसे आनुवंशिक आधार पर भर्ती किया जाता था। इससे निष्ठा तथा परंपराओं के बने रहने का पक्का निश्चय रहता था। शासक राजवंशों के अभिलेखों में और उपरि-लिखित राजनीतिक ग्रंथों में केंद्रीय तथा प्रांतीय कर्मचारियों की लंबी सूचियां प्राप्त होती हैं। इन कर्मचारियों के अलावा, सामंत शासक भी होते थे, जिनकी सेवाओं का प्रशासन में उपयोग किया जाता था। कभी-कभी वे उस राज्य के लिए संकट का कारण भी बन जाते थे, जैसा कि मध्यकाल में होता था। इन सामंतों से आशा की जाती थी कि वे आपात काल में और सैनिक अभियानों के समय सैनिकों का प्रबंध करें। लोग जिला तथा ग्राम-स्तर पर स्थानीय प्रशासन में भाग लेते थे। किंतु वित्तीय प्रशासन पूरी तरह संतोषजनक नहीं था।



सावधानी

करारोपण काफी ऊंचा था; भूमि राजस्व का भी यही हाल था और इसे उगाहने वाले कर्मचारी कभी-कभी निष्ठुर होते थे अतएव धर्मशास्त्रों में शासक को आदेश दिया गया है कि उसे मधुमक्खी के समान बर्ताव करना चाहिए, जो फूल में से मधु तो चूस लेती है, परंतु फूल को नष्ट नहीं करती।

कानून और व्यवस्था की स्थिति का सब स्तरों पर नियंत्रण किया जाता था। ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी तक में इस प्रकार के विभाग थे, जो विदेशियों की देखभाल करते थे और एक संगठित गुप्तचर व्यवस्था द्वारा उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रखते थे। प्रतीत होता है कि प्रशासन के अंदर स्थानांतरण एक सामान्य बात थी। पदोन्नति के अवसर काफी उज्ज्वल थे और कभी-कभी एक ही व्यक्ति एक साथ कई पदों पर कार्य कर रहा होता था। मौर्यों के शासन में तो प्रांतीय प्रशासन केंद्रीय नमूने पर रहा प्रतीत होता है, किंतु गुप्तों के काल में उपरिकों के अधीन भुक्तियों के बारे में कोई विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। उस समय प्रांतों के अध्यक्ष अपने मनपसंद व्यक्तियों को, यहाँ तक कि अपने पुत्रों को भी, जिले का या स्थानीय अध्यक्ष नियुक्त कर सकते थे। यह बात विकेंद्रीकरण की, या नियुक्तियों करने के विषय में प्रांतीय अध्यक्षों की अनियंत्रित शक्ति की सूचक हो सकती है। जिला और ग्राम के स्तर पर प्रशासन में अशासकीय तत्व काफी भाग लेते थे। स्थानीय परिषदें, विशेष रूप से दक्षिण में, स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए साधनों को बढ़ाने के वास्ते अपने क्षेत्र के लोगों पर कर और दस्तूरी (पर्क्विजिट्स) लगाती थीं।

प्राचीन भारत में हिंदू सैन्यवाद तथा सैनिक संगठन के विषय में कुछ एक शब्द कह देना उचित होगा ; इनके विषय में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', मैगास्थनीज के विवरण तथा अन्य स्रोतों से विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। संस्कृत बौद्ध साहित्य से सिविल रक्षा (डिफेंस) के विषय में कुछ जानकारी मिल सकती है, जिसमें नगर के चारों ओर एक खाई (परिखा) खोदने का उल्लेख है। इस तथ्य की पुष्टि मैगास्थनीज द्वारा और पाटलिपुत्र में हुई खुदाइयों द्वारा भी हो गई है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अतीत के लेखकों तथा स्मृतिकारों द्वारा राजनीति के सिद्धान्तों के पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन के होते हुए भी यह संदिग्ध है कि प्राचीन भारतीय प्रशासन में इन्हें पूरी तरह अपनाया गया होगा। इसके अतिरिक्त प्रशासन के प्रयोजन से अंतर्राज्यीय संचार के अभाव का कारण काफी हद तक देश का विशाल होना और संचार के साधनों का कम या अपर्याप्त होना था। निःसंगतावादी प्रवृत्तियों के बढ़ने का कारण भी यही था। जब भी कभी केंद्रीय नियंत्रण प्रभावहीन होने लगता था, तब दूरस्थ क्षेत्र स्वतंत्र होने का यत्न करने लगते थे। ग्राम स्तर पर स्वायत्तता के स्वरूप में कोई खलल नहीं पड़ा। ग्रामीण लोग निर्वाचित सदस्यों की अपनी परिषद् द्वारा अपने कामकाज चलाते रहे। इस प्रकार, लोकतंत्रीय विकेंद्रीकरण की छोटी-छोटी जड़ें ग्राम व्यवस्था में निहित

नोट

थीं। राजनीतिक उथल-पुथल और शासकों के परिवर्तन का ग्राम के जीवन और उसके प्रशासन पर मुश्किल से ही कोई प्रभाव पड़ता था। यही है वह वस्तु जिस पर प्राचीन भारतीय प्रशासन अपनी छाप छोड़ गया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. मौर्यकाल में न्यायाधीश को कहा जाता था।
 (क) न्यायाधिकारी (ख) दंडाधिकारी
 (ग) धर्माधिकारी (घ) मौर्याधिकारी।
6. प्राचीन काल में भारतीय सेना साधारणतया बहुत होती थी।
 (क) छोटी (ख) साधारण
 (ग) सामान्य (घ) विशाल।
7. सैनिकों की भर्ती ज्यादातर वर्ग के पुरुषों में से की जाती थी।
 (क) क्षत्रिय (ख) ब्राह्मण
 (ग) वैश्य (घ) तीनों।
8. महाभारत के शांतिपर्व में विशेष रूप से तथा मानवीय आचार का उपदेश किया गया है।
 (क) धर्म (ख) संस्कार
 (ग) राजनीति (घ) कूटनीति।

5.3 सारांश (Summary)

- कानून तथा व्यवस्था को बनाए रखने का संबंध न्याय के प्रशासन के साथ जुड़ा हुआ है, किसी भी प्रशासनिक ढांचे में अपराधियों को पकड़ने और उन्हें दंड देने और दीवानी विवादों को निपटाने की व्यवस्था परम आवश्यक है। प्रशासन में दक्षता के लिए इन दोनों स्कंधों का पृथक्करण भी आवश्यक है।
- मौर्य प्रशासन में न्यायपालिका कार्यपालिका से पृथक् नहीं थी। अपराधों का निवारण, अपराधियों का निग्रहण (पकड़ना) और उनका न्याय, ये तीनों साथ जुड़े हुए थे।
- मुख्य न्यायाधीश को धर्माधिकारी कहा जाता था। अर्थशास्त्र में जिन अन्य न्यायाधीशों का उल्लेख है, वे हैं धर्मस्थ अमात्य और प्रदेष्टा, जो मूलतः कार्यपालक अधिकारी थे।
- प्राचीन काल में सैनिक संगठन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि सारी शक्ति सेनापति अर्थात् प्रधान सेनाध्यक्ष के हाथ में केंद्रित रहती थी जो कभी-कभी शासक को अपदस्थ करके स्वयं शासक बन बैठता था।
- प्राचीन भारत में प्रशासनिक संगठन बहुत संभवतः योजनाबद्ध था और उसके लिए एक विस्तृत तथा दक्ष कर्मचारी वर्ग बना होता था। जिसे आनुवंशिक आधार पर भर्ती किया जाता था। इससे निष्ठा तथा परंपराओं के बने रहने का पक्का निश्चय रहता था।

5.4 शब्दकोश (Keywords)

- **चौरोधरणि**—चोरों को पकड़ने वाला पुलिस अधिकारी।
- **बृहदश्ववारू**—मुख्य अश्वारोही अधिकारी।
- **आयुधागाराध्यक्ष**—शस्त्रागार की देखभाल करने वाला अधिकारी।

5.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. प्राचीन भारत में कानून तथा न्याय-प्रशासन की व्यवस्था का उल्लेख करें।
2. प्राचीन भारत के सैनिक संगठन तथा उसके भर्ती के लिए आवश्यक अर्हताओं का वर्णन करें।
3. प्राचीन भारतीय प्रशासनिक संगठन की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------------|--------------|-----------------|-----------------|
| 1. स्वतंत्र | 2. दंड | 3. मौर्य | 4. नगरक |
| 5. (ग) धर्माधिकारी | 6. (घ) विशाल | 7. (क) क्षत्रिय | 8. (ग) राजनीति। |

5.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
2. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
3. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
4. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
5. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
6. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-6 : दिल्ली सल्तनत (The Delhi Sultanate)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 6.1 केन्द्रीय शासन (Central Administration)
- 6.2 इक्ताओं (प्रान्तों) का शासन (Administration of Ektas)
- 6.3 राजस्व (कर) व्यवस्था [Revenue (Tax) System]
- 6.4 सैनिक संगठन (Military Organisation)
- 6.5 न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था (Justice and Punishment System)
- 6.6 धार्मिक नीति (Religious Policy)
- 6.7 सारांश (Summary)
- 6.8 शब्दकोश (Keywords)
- 6.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 6.10 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- दिल्ली सल्तनत में केन्द्रीय एवं इक्ताओं के शासन को जानने में;
- राजस्व व्यवस्था एवं सैनिक संगठन को जानने में;
- न्याय एवं दंड-व्यवस्था एवं धार्मिक नीति को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इस्लाम धर्म के अनुसार 'शरीयत' प्रधान है। खलीफा भी उसके अधीन होता है। इस कारण सभी मुसलमान शासक 'शरीयत' के अधीन होते हैं और उसके कानूनों के अनुसार कार्य करना उनका प्रमुख कर्तव्य होता है। इस दृष्टि से खलीफा और सुल्तान धर्म के प्रधान नहीं थे बल्कि 'शरीयत' के कानून के अधीन राजनीतिक प्रधान मात्र थे जिनका कर्तव्य धर्म के कानूनों के अनुसार शासन करना था। दिल्ली-सुल्तान भी इसी प्रकार के शासक थे। वे सभी राजनीतिक प्रधान थे, परन्तु उनका कर्तव्य इस्लाम धर्म और कुरान के कानूनों के अनुसार शासन करना था। अतएव दिल्ली-सुल्तानों की नीति पर धर्म का प्रभाव रहा और कम या अधिक मात्रा में इस्लाम धर्म के कानूनों का पालन करना उनका प्रमुख कर्तव्य रहा। इसी कारण उनके शासन में (कतिपय शासकों को छोड़कर) उलेमा-वर्ग का प्रभाव

रहा तथा **इस्लाम धर्म एक राज्य-धर्म की तरह माना जाता रहा** यद्यपि व्यवहार में उसका प्रयोग सम्भव न हुआ। दिल्ली-सुल्तानों में से अधिकांश शासकों ने अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारा और उनमें से कुछ ने अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति उससे ली। इस दृष्टि से वे अपने को अब्बासी खलीफाओं के अधीन मानते थे। केवल अलाउद्दीन ने यह कार्य नहीं किया जबकि कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने स्वयं खलीफा की उपाधि ग्रहण की। मुहम्मद तुगलक ने अपने आरम्भिक काल में खलीफा को कोई मान्यता नहीं दी परन्तु बाद के समय में उलेमा-वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए उसने खलीफा को अपना प्रधान मान लिया, परन्तु **दिल्ली-सुल्तानों ने खलीफा को केवल नाममात्र का ही प्रधान माना था।** अपने को खलीफा का नाइब पुकारने अथवा अपने सिक्कों पर खलीफाओं के नाम अंकित कराने से उनकी व्यावहारिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था और वे वास्तविकता में स्वतन्त्र शासकों की भाँति व्यवहार करते थे। **खलीफा को नाममात्र का प्रधान मानने में उनका मन्तव्य अपनी सुन्नी प्रजा और जनता में प्रभावशाली उलेमा-वर्ग का विश्वास एवं वफादारी प्राप्त करना था।**

आधुनिक इतिहासकारों में से कुछेक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दिल्ली-सुल्तानों की शासन-व्यवस्था इस्लाम धर्म से प्रभावित नहीं थी और उस काल में इस्लाम-धर्म एक राज्य-धर्म की तरह नहीं माना गया था। उनके अनुसार धर्म-प्रधान व्यवस्था का मूल आदर्श यह है कि राज्य की व्यवस्था धार्मिक नियमों के अनुकूल चलनी चाहिए और उन धार्मिक नियमों की व्याख्या तथा उनका संचालन धर्म के प्रधानों द्वारा किया जाना चाहिए। दिल्ली-सल्तनत काल में ऐसा नहीं हुआ था, बल्कि राज्य के कानून सुल्तानों के द्वारा बनाये जाते थे और उन्हीं के द्वारा लागू भी किये जाते थे तथा अनेक अवसरों पर उन्होंने इस्लाम धर्म अथवा 'शरीयत' के नियमों के विरुद्ध कार्य किया था। इन इतिहासकारों का मत पर्याप्त तर्कपूर्ण है मुख्यतया ऐसी स्थिति में जबकि सुल्तान अपनी राजनीतिक श्रेष्ठता को बनाये रखने के लिए व्यवहार में इस्लाम के नियमों के आधार पर ही शासन करने की स्थिति में नहीं थे, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि अपने मुसलमान सैनिकों के उत्साह को बनाये रखने और अपनी मुस्लिम प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए सुल्तानों ने इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए प्रयत्न किया तथा इस कार्य में मुस्लिम धार्मिक वर्ग अर्थात् उलेमा-वर्ग की सहायता ली। इस कारण, यह नहीं माना जा सकता कि दिल्ली-सल्तनत का शासन इस्लाम धर्म के प्रभाव से मुक्त था और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा को न्याय प्रदान कर सका था।

6.1 केन्द्रीय शासन (Central Administration)

1. सुल्तान

केन्द्रीय शासन का प्रधान सुल्तान था। दिल्ली-सल्तनत के युग में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न था। जैसा कि हम मुगल-काल में पाते हैं जिसमें उत्तराधिकार पैतृक आधार पर निश्चित था अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों का ही सिंहासन पर अधिकार हो सकता था। परन्तु फिर भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय से एक ऐसी परम्परा बनी थी जिसके अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री को सिंहासन प्राप्त करने का अधिकार था। सुल्तान को अपने बच्चों में से किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, वयस्क हो अथवा अल्पायु। इस आधार पर **पैतृक सुल्तान के द्वारा नामजद किये जाने के अधिकार को मान्यता थी।** इस आधार पर रजिया, शिहाबुद्दीन खलजी और तुगलकशाह को सिंहासन प्राप्त हुआ, परन्तु इसमें स्त्रियों एवं अल्पायु शाहजादों के सिंहासन पर बैठने और शासन करने के प्रयोग असफल हुए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पैतृक अधिकार को उसी समय स्वीकार किया जाए जबकि उत्तराधिकारी योग्य हो। अयोग्य उत्तराधिकारी होने की स्थिति में सरदारों ने सुल्तान को चुनने की प्रणाली का प्रयोग किया। सुल्तान इल्तुतमिश, रजिया के सभी भाई, कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी और फीरोज तुगलक सरदारों की सम्मति से चुने गये सुल्तान थे। इसके अतिरिक्त, **तलवार की शक्ति भी सिंहासन के अधिकार को निश्चित करती थी।** अलाउद्दीन खलजी, खिज़्रख़ाँ और बहलोल लोदी ऐसे ही शासक थे।

नोट

दिल्ली-सुल्तानों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन-व्यवस्था को स्थापित किया। सुल्तान कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय करने में प्रधान था। राज्य की सेना का सर्वोच्च सेनापति भी वही था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी। सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति करने, हटाने, उपाधियों का वितरण करने आदि के अधिकार उसी के थे, परन्तु ये उसके कानूनी अधिकार थे। इन अधिकारों का व्यावहारिक प्रयोग उसकी सैनिक-शक्ति पर निर्भर करता था। सुल्तान के दुर्बल होने की स्थिति में सरदारों का शासन में प्रभाव बढ़ जाता था। उलेमा-वर्ग का प्रभाव भी शासन में था। केवल अलाउद्दीन खलजी, मुबारकशाह खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासक ही उसके प्रभाव से मुक्त रह सके थे।



नोट्स

शासन-व्यवस्था, शान्ति की स्थापना और ब्राह्म आक्रमणों से सुरक्षा के अतिरिक्त सुल्तान का महत्वपूर्ण कार्य इस्लाम धर्म की सुरक्षा और उसका विस्तार करना था।

2. मन्त्री और अन्य अधिकारी

शासन में सुल्तान की सहायता के लिए विभिन्न मन्त्री और अन्य अधिकारी होते थे। ये निम्नलिखित थे—

- (i) **नाइब (नाइब-ए-मामलिकात)**—इस पद को रजिया के पश्चात् सुल्तान बहरामशाह के समय में आरम्भ किया गया। बहरामशाह के सरदारों ने शासन-शक्ति को अपने हाथों में रखने के लिए अपने में से एक को 'नाइब' का पद दिया। इस कारण दुर्बल सुल्तानों के समय में ही इस पद का महत्व रहा। ऐसी स्थिति में नाइब का पद सुल्तान के बाद माना जाता था और राज्य के वजीर से भी श्रेष्ठ समझा जाता था, परन्तु शक्तिशाली सुल्तानों ने इस पद को या तो रखा ही नहीं अथवा अलाउद्दीन जैसे शासकों ने इसे अपने किसी योग्य सरदार को केवल सम्मान प्रदान करने की दृष्टि से दिया।
- (ii) **वजीर**—राज्य का प्रधानमन्त्री वजीर कहलाता था। वजीर मुख्यतया राजस्व-विभाग (दीवान-ए-वजारत) का प्रधान होता था। इस दृष्टि से वह लगान, कर-व्यवस्था, दान, सैनिक-व्यय आदि सभी की देखभाल करता था। यदि राज्य में 'नाइब' का पद नहीं होता था तो वही सुल्तान के पश्चात् राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शासन पर दृष्टि रखना, सुल्तान की बीमारी अथवा राजधानी से अनुपस्थित होने पर शासन का प्रबन्ध करना, विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति करना आदि अधिकार उसे प्राप्त थे। वजीर की सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारियों के अतिरिक्त नाइब-वजीर, मुश्रिफ-ए-मुमालिक, मुस्तौफी-ए-मुमालिक आदि बड़े अधिकारी भी होते थे। **मुश्रिफ-ए-मुमालिक** का कार्य प्रान्तों तथा अन्य विभागों से प्राप्त हिसाब का लेखा-जोखा रखना था और मुस्तौफी-ए-मुमालिक इस हिसाब की जाँच करता था। दीवान-ए-वजारत एक बड़ा विभाग था। उसका एक बड़ा सचिवालय था जिसके अन्तर्गत हजारों छोटे-बड़े पदाधिकारी और साधारण कर्मचारी कार्य करते थे।
- (iii) **आरिज-ए-मुमालिक**—यह सेना विभाग (दीवान-ए-अर्ज) का प्रधान था। वह सैनिकों की भर्ती, उनकी रसद की व्यवस्था, उनके निरीक्षण की व्यवस्था, घोड़ों को दागने व सैनिकों की हुलिया लिखे जाने की व्यवस्था आदि करता था। वह राज्य का सेनापति नहीं था और सुल्तान समय-समय पर विभिन्न युद्धों के लिए अपनी इच्छानुसार सेनापति नियुक्त किया करता था।
- (iv) **दबीर-ए-खास (अमीर-मुंशी)**—यह शाही पत्र-व्यवहार विभाग (दीवान-ए-इंशा) का प्रधान था। सुल्तान के आदेशों को राज्य के विभिन्न भागों में भेजना और सुल्तान की सभी प्रकार की डाक को देखना, उसके उत्तर तैयार करना, उसे भेजना, आदि उसी का कार्य था। उसकी सहायता के लिए अनेक दबीर (लेखक) होते थे।
- (v) **दीवाने-रसालत**—यह सुल्तानों की विदेश-वार्ता और कूटनीतिक सम्बन्धों की देखभाल करता था। विदेशी पत्र-व्यवहार और राजदूतों का आदान-प्रदान तथा उनकी देखभाल उसका उत्तरदायित्व था।

नोट

- (vi) **सद्र-उस-सुदूर**—यह धर्म विभाग का प्रधान था। इस्लाम धर्म के कानूनों का प्रजा में प्रसार करना, उनका पालन कराना और मुसलमानों के विशेष हितों की सुरक्षा करना उसका उत्तरदायित्व था। 'जकात' नामक कर से वसूल किये गये धन पर उसका अधिकार होता था। योग्य और धार्मिक व्यक्तियों को आर्थिक सहायता तथा जागीरें उसकी सलाह पर दी जाती थीं। मस्जिदों, मकतबों और मदरसों को आर्थिक सहायता भी वही देता था। शाही खैरात (दान) की व्यवस्था भी वही करता था।
- (vii) **काजी-उल-कजात**—यह न्याय-विभाग का प्रधान था यद्यपि उसके न्यायालय से बड़ा न्यायालय सुल्तान का था, परन्तु राज्य का मुख्य होने के नाते मुकदमे उसकी अदालत में आरम्भ किये जाते थे और निम्न काजियों के निर्णयों पर भी वह पुनर्विचार कर सकता था। अधिकांशतया काजी-उल-कजात और सद्र-उस-सुदूर के पद एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे।
- (viii) **वरीद-ए-मुमालिक**—जिन सुल्तानों ने गुप्तचर-विभाग का संगठन किया था उसका प्रधान यह अधिकारी होता था। विभिन्न गुप्तचर, सन्देशवाहक और डाक-चौकियाँ उसके अधीन होती थीं।

समय-समय पर सुल्तान अपनी इच्छा से अन्य विभागों और उनके पदाधिकारियों की नियुक्ति भी करते थे, जैसे, मुहम्मद तुगलक ने 'दीवाने-अमीर-कोही' (कृषि-विभाग का प्रधान) की नियुक्ति की थी। इनके अतिरिक्त, सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक और महल के अधिकारी होते थे। इनमें से 'वकील-ए-दरमहल' शाही कर्मचारियों की देखभाल करता था, 'बारबक' दरबार की शान-शौकत और नियमों की देखभाल करता था, 'अमीर-ए-हाजिब' सुल्तान से मिलने वालों की देखभाल करता था। 'अमीर-ए-शिकार' शाही-शिकार का प्रबन्ध करता था, 'अमीर-ए-मजलिस' शाही उत्सवों और दावतों का प्रबन्ध करता था तथा 'सर-ए-जहाँदार' सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रधान होता था। ये पद मन्त्रियों के पद के समकक्ष तो न थे परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा आराम से सम्बन्धित था। इस कारण इन पदों पर अत्यधिक विश्वासपात्र व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी और कभी-कभी इनमें से कोई पदाधिकारी सुल्तान के व्यक्तिगत सम्पर्क में होने के कारण मन्त्रियों से भी अधिक प्रभावपूर्ण हो जाता था।

कारखाना—दिल्ली सुल्तानों ने विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए बहुत से कारखाने खोले थे। के. एम. अशरफ के अनुसार, "कारखाने स्थापित करने का सिद्धान्त, सम्भवतया, फारस से लिया गया था।" समकालीन स्रोतों से सुल्तान द्वारा स्थापित किये गये कारखानों का उल्लेख सर्वप्रथम फीरोज तुगलक के शासनकाल में किया गया है परन्तु ऐसी शाही कारखाने, निस्सन्देह, फीरोज तुगलक के शासनकाल से पहले भी स्थापित किये गये थे। ऐसा उल्लेख मिला है कि मुहम्मद तुगलक ने अपने समय में रेशमी कपड़ा बुनने का एक कारखाना स्थापित किया था जिसमें चार सौ जुलाहे कार्य करते थे। सुल्तान फीरोज तुगलक ने शाही कारखानों की संख्या में बहुत वृद्धि की। उसके बाद के सुल्तानों ने भी शाही कारखाने स्थापित किये थे।

सुल्तानों द्वारा कारखाने स्थापित करना एक आवश्यकता थी। राजदरबार और राजपरिवार की शान-शौकत और विलासिता की वस्तुएँ बाजार में उपलब्ध नहीं होती थीं। उनके निर्माण के लिए शाही कारखाने खोले जाते थे। ये कारखाने सुल्तान के लिए लाभप्रद भी थे। इन कारखानों में बनने वाली वस्तुएँ अमीरों तथा अन्य धनवान व्यक्तियों को बेची भी जाती थीं जिससे सुल्तान की आय में वृद्धि होती थी।

अफीफ ने इन कारखानों को दो भागों में बाँटा था। एक, **रातिबी** जिनमें काम करने वाले व्यक्तियों को निश्चित वेतन दिया जाता था और द्वितीय, **गैर-रातिबी** जिनको काम के अनुसार धन दिया जाता था। प्रत्येक कारखाने की देखभाल के लिए **मुतसर्रिफ** नामक एक अधिकारी होता था और सभी मुतसर्रिफों के ऊपर एक **प्रधान मुतसर्रिफ** होता था। इस प्रकार कारखानों की देखभाल की समुचित व्यवस्था भी थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. इस्लाम धर्म के अनुसार प्रधान है।

नोट

2. केन्द्रीय शासन का प्रधान था।
3. दिल्ली सुल्तानों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और शासन व्यवस्था को स्थापित किया।
4. शासन-व्यवस्था के अतिरिक्त सुल्तान का प्रधान कार्य की सुरक्षा और उसका विस्तार करना था।

6.2 इक्ताओं (प्रान्तों) का शासन (Administration of Ektas)

शासन की सुविधा और परिस्थितियों की आवश्यकता के कारण राज्य को छोटी इकाइयों में बाँटा गया था। उस समय में प्रान्तों को साधारणतया 'इक्ता' पुकारते थे। उस युग में इक्ताओं की न तो संख्या निश्चित की जा सकी थी और न ही उनका शासन-प्रबन्ध समान हो सका था। बड़े इक्ताओं के प्रधान को मुक्ती, नाजिम, नाइब-सुल्तान अथवा वली के नाम से पुकारा जाता था। अलाउद्दीन के समय में ये इक्ता दो प्रकार के हो गये। प्रथम वे इक्ता थे जो पहले से ही दिल्ली-सल्तनत के अधीन चले आ रहे थे और द्वितीय वे इक्ता थे जिनको जीतकर उसी के समय में दिल्ली-सल्तनत के अधीन किया गया था। दूसरे प्रकार के इक्ताओं में मुक्ती अथवा वली को कुछ अधिक सैनिक-अधिकार थे जिससे वह अपने इक्ता को दिल्ली-सल्तनत के पूर्ण प्रभाव में ला सके। इसके अतिरिक्त, हिन्दुओं (दक्षिण-भारत) के वे राज्य थे जिन्होंने सुल्तान की अधीनता स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना आरम्भ किया था यद्यपि अपने आन्तरिक शासन में वे स्वतन्त्र थे। अपने-अपने इक्ताओं से मुक्ती अथवा वली को वे समस्त अधिकार प्राप्त थे जो सुल्तान को केन्द्र पर प्राप्त थे और उसी प्रकार शासन का उत्तरदायित्व भी उन पर था। वे प्रत्येक वर्ष अपनी आय और व्यय की सूचना सुल्तान को देते थे और बचे हुए धन को केन्द्रीय खजाने में जमा करते थे, शक्तिशाली सेनाएँ रखते थे और आवश्यकता पड़ने पर वे सुल्तान की सहायता के लिए उपस्थित होते थे। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे राज्य-विस्तार के लिए युद्ध नहीं कर सकते थे और जब वे सुल्तान की आज्ञा के अनुसार युद्ध करते भी थे तो लूटे हुए माल में से केन्द्रीय सरकार को हिस्सा देते थे। लूटे हुए हाथियों और राजपरिवार की स्त्रियों पर सुल्तान का एकाधिपत्य होता था। कोई भी मुक्ती राजदण्ड, छत्र और सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं कर सकता था। वे सुल्तान की भाँति दरबार नहीं कर सकते थे, अपने नाम से खुतबा नहीं पढ़वा सकते थे और सिक्के नहीं चला सकते थे। परन्तु दुर्बल शासकों के समय में मुक्ती अथवा वली स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार करते थे और लोदी शासकों के समय में तो उनके पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ तथा हाथी भी थे जिन पर अधिकांशतया सुल्तान का एकाधिपत्य रहा था। उस सम्पूर्ण युग में मुक्ती अथवा वली पर्याप्त शक्तिशाली थे। समय-समय पर हुए विद्रोह और राजवंश में परिवर्तन होने का यह एक बड़ा कारण था। मुक्ती और वली के नीचे प्रान्तों में एक प्रान्तीय वजीर, एक प्रान्तीय अरीज और एक प्रान्तीय काजी भी होता था। प्रत्येक इक्ता में राजस्व वसूल करने के लिए अनेक अधिकारी होते थे। इनके अतिरिक्त केन्द्र के गुप्तचर तथा अन्य अधिकारी भी इक्ताओं में कार्य करते थे। इक्ताओं के शासन की व्यवस्था बहुत कुछ मुक्ती अथवा वली की योग्यता और सुल्तान की शक्ति पर निर्भर करती थी।

13वीं सदी तक इक्ता से छोटी शासन की कोई इकाई न थी, परन्तु उसके पश्चात् इक्ताओं को शिकों में विभाजित किया गया जहाँ का प्रमुख अधिकारी शिकदार होता था जो एक सैनिक अधिकारी था। **शिकों को परगनों में विभाजित किया गया** जहाँ एक आमिल, एक मुशरिफ (उसे अमीन अथवा मुन्सिफ भी पुकारा जाता था), एक खजांची और दो क्लर्क मुख्य अधिकारी होते थे। आमिल परगने का मुख्य अधिकारी था और मुशरिफ लगान को निश्चित करने वाला अधिकारी था। परगना शासन की एक महत्वपूर्ण इकाई समझा जाता था क्योंकि वहाँ पर राज्य का प्रत्यक्ष सम्पर्क किसानों से होता था। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे जो स्वशासन और पैतृक अधिकारियों की व्यवस्था के अन्तर्गत थे। गाँवों के चौकीदार, पटवारी, चौधरी, खूत, मुकद्दम आदि पैतृक अधिकारी थे जो शासन को लगान वसूल करने में सहायता देते थे तथा जिन्हें अलाउद्दीन के शासनकाल के अतिरिक्त सम्पूर्ण समय में कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। इनके अतिरिक्त, गाँव में पंचायतें होती थीं जो शिक्षा, स्वच्छता, न्याय आदि सभी स्थानीय कार्यों को करती थीं।

नोट

इक्ता-व्यवस्था

दिल्ली-सुल्तानों की इक्ता-व्यवस्था उनके शासन की एक मुख्य विशेषता रही। भारत में प्रचलित सामन्ती प्रथा को नष्ट करने और साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों को केन्द्र से जोड़ने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में इक्ता-प्रणाली का प्रयोग किया गया। इसका प्रारम्भ सुल्तान इल्तुतमिश के शासनकाल में हुआ। सुल्तान ने अपने दूरस्थ प्रदेशों में जिन बड़े सैनिक-अधिकारियों की नियुक्ति की उनको वेतन देने की प्रथा के रूप में यह व्यवस्था आरम्भ हुई। इन सैनिक-अधिकारियों को सुल्तान ने अपने राजकोष से वेतन नहीं दिया अपितु उन्हें एक निश्चित भूमि-क्षेत्र (इक्ता) प्रदान किया गया जिससे होने वाली वार्षिक आय से वे अपना वेतन प्राप्त करते थे। छोटे भूमि-क्षेत्र के अधिकारियों को **इक्तादार** पुकारा जाता था और प्रान्तीय या सूबा के स्तर के अधिकारियों को **वली, मुक्ती, अमीर या मलिक** पुकारा जाता था। वली या मुक्ती को प्रशासकीय तथा अन्य अधिकार भी प्रदान किये गये थे जबकि छोटे इक्तादारों को ये अधिकार प्राप्त नहीं थे। तेरहवीं सदी के अन्तिम दशक से पहले **वली या मुक्तियों** ने सैनिक, प्रशासकीय और वित्तीय अधिकारों का उपयोग किया परन्तु उसके पश्चात् उनके राजस्व-अधिकारों को केन्द्रीय अधिकारियों के निरीक्षण में कर दिया गया। अलाउद्दीन खलजी के समय में **दीवान-ए-वजारत** ने इक्ताओं की आय पर अपना नियन्त्रण रखा। गियासुद्दीन तुगलक ने इस सम्बन्ध में एक और कार्य किया। प्रत्येक **इक्तादार, वली** या **मुक्ती** अपने साथ सैनिक रखने के लिए बाध्य था। गियासुद्दीन ने मुक्ती के व्यक्तिगत व्यय और उसके सैनिकों पर किये जाने वाले व्यय को पृथक् कर दिया जिससे सैनिकों के वेतन में मुक्ती कमी न कर सके। **बरनी द्वारा लिखित 'तारीख-ए-फीरोजशाही'** में दिये गये विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि तुगलक शासकों के समय में मुक्तियों की सेनाओं की संख्या, उनका वेतन और उन पर किये जाने वाला अन्य व्यय भी केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित कर दिया गया था। सम्भवतया, पहले दो तुगलक सुल्तानों के समय में यह सम्भव हो सका था। फीरोज तुगलक और उसके उत्तराधिकारियों के समय में यह सम्भव नहीं हो सका था। मुहम्मद तुगलक के समय में मुक्ती से राजस्व-अधिकार लेकर एक केन्द्रीय अधिकारी **वली-उल-खराज** को दे दिये गये। इब्नबतूता के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि मुहम्मद तुगलक के समय में प्रत्येक इक्ता में दो अधिकारी नियुक्त किये गये थे। एक अमीर या मुक्ती जो एक सैनिक-अधिकारी था और दूसरा **वली-उल-खराज** जो इक्ता की आय को एकत्रित करता था अर्थात् अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारी था। इन मुक्तियों का पद पैतृक नहीं था। ये सुल्तान के ऐसे सैनिक-अधिकारी थे जो अपने-अपने इक्ता या प्रान्त में शान्ति स्थापित रखते थे, सुल्तान के आदेशों का पालन करते थे, लगान और अन्य करों को वसूल करने में सहायता देते थे, आवश्यकतानुसार सुल्तान की सहायता के लिए अपने सैनिकों को उपस्थित करते थे, और सुल्तान की आज्ञानुसार अपने इक्ता का शासन करते थे। वे अपने इक्ता की आय में से अपना वेतन, अपने सैनिकों का व्यय और प्रशासन पर किये जाने वाले व्यय को निकालकर बची हुई धनराशि को केन्द्रीय खजाने में जमा करते थे। सुल्तान के अधिकारी-मात्र होने के कारण उनका अधिकार अपने इक्ता पर न तो स्थायी था और न पैतृक अपितु उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित भी किया जाता था। दूरस्थ प्रदेशों के मुक्तियों का साधारणतया दो या तीन वर्ष में ही स्थानान्तरण कर दिया जाता था, परन्तु सुल्तान और मुक्ती के क्या सम्बन्ध होंगे यह सुल्तान की शक्ति पर निर्भर करता था।



उदाहरण यदि सुल्तान शक्तिशाली होता था तो मुक्ती उसकी शक्ति का आधार बन जाते थे, परन्तु दुर्बल शासकों के समय में यही मुक्ती साम्राज्य के विघटन और राजवंशों में परिवर्तन का कारण बने।

इस प्रकार, दिल्ली-सुल्तानों की यह इक्ता-व्यवस्था भारत में राजपूत-राज्यों में प्रचलित सामन्ती-व्यवस्था से पृथक् थी। मूलतया उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थी—

1. **इक्तादार, वली, मुक्ता या अमीर** अपने क्षेत्र में सुल्तान का एक अधिकारी था जिसे वह क्षेत्र इसलिए प्रदान किया जाता था कि वह उस क्षेत्र की आय से, मूलतया भू-राजस्व से, अपना वेतन और अपने सैनिकों का व्यय निकाल सके। इस कारण, उसके वेतन के अनुकूल ही उसे भू-क्षेत्र प्रदान किया जाता था। अपने-अपने सैनिकों का और अपने प्रशासकीय उत्तरदायित्व की पूर्ति करने के लिए किये गये व्यय को निकालने के पश्चात् अपने क्षेत्र की आय से बचे हुए धन को उसे केन्द्रीय खजाने में जमा करना पड़ता था।

नोट

2. **वली या मुक्ती** को अपने क्षेत्र में सुल्तान की ओर से प्रायः सभी प्रशासकीय अधिकार दिये गये थे परन्तु मुख्यतया वह एक सैनिक-अधिकारी था। अपने भू-क्षेत्र की सुरक्षा, उसमें शान्ति स्थापित रखना और वहाँ सुल्तान के आदेशानुसार शासन करना उसका मुख्य दायित्व था। इसी कारण, अलाउद्दीन खिलजी और प्रथम दो तुगलक शासकों ने उनसे राजस्व-अधिकार छीनकर केन्द्रीय अधिकारियों को सौंप दिये।

3. **सुल्तान मुक्ती या वली** का स्थानान्तरण करते रहते थे। इस प्रकार मुक्ती का पद किसी एक विशेष भू-क्षेत्र, इक्ता या प्रान्त में न तो स्थायी था और न पैतृक।

इस प्रकार, दिल्ली-सुल्तानों की यह इक्तादारी-व्यवस्था राजपूत-शासकों की सामन्ती प्रथा से पृथक् थी। मूलतया अपने बड़े सैनिक-अधिकारियों को वेतन देने के लिए भू-क्षेत्र प्रदान कर देने से इसका आरम्भ हुआ, परन्तु बाद में यह दूरस्थ प्रदेशों को प्रशासकीय रूप से केन्द्र से बाँधे रखने में तथा केन्द्र की आय में वृद्धि करने में, जिससे उसकी सैनिक-शक्ति में वृद्धि सम्भव हुई और दिल्ली-सल्तनत का विस्तार हो सका, सहायक सिद्ध हुई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. राज्य का प्रधानमंत्री कहलाता था।
 (क) सेनापति (ख) मंत्री
 (ग) वजीर (घ) सुल्तान
6. सद्र-उस-सुदूर विभाग का प्रधान था।
 (क) धर्म (ख) समाज
 (ग) परंपरा (घ) मंत्री
7. सल्तनत काल में को साधारणतया 'इक्ता' पुकारते थे।
 (क) गाँवों (ख) नगरों
 (ग) प्रांतों (घ) देशों
8. शासकों के समय में वली स्वच्छंदतापूर्वक व्यवहार करते थे।
 (क) सबल (ख) निर्बल
 (ग) सामान्य (घ) शक्तिशाली

6.3 राजस्व (कर) व्यवस्था [Revenue (Tax) System]

दिल्ली-सुल्तानों के समय में कुछ विशेष करों के अतिरिक्त निम्नलिखित पाँच कर मुख्य थे–

1. **उश्र**—यह मुसलमानों से लिया जाने वाला भूमि-कर था। जिस भूमि पर प्राकृतिक साधनों से सिंचाई होती थी वहाँ से पैदावार का 10% भाग और जिस भूमि पर मनुष्यकृत साधनों से सिंचाई होती थी वहाँ से पैदावार का 5% भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था।
2. **खराज**—यह गैर-मुसलमानों पर भूमि-कर था जो पैदावार के एक-तिहाई से लेकर आधे तक विभिन्न सुल्तानों ने लिया।
3. **खम्स**—यह लूटे हुए धन, खानों अथवा भूमि में गड़े हुए खजानों से प्राप्त सम्पत्ति का 1/5 भाग था जिस पर सुल्तान का अधिकार था। शेष 4/5 भाग पर उसके सैनिकों, अधिकारियों अथवा खजाने को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अधिकार होता था, परन्तु फीरोज तुगलक को छोड़कर अन्य सभी शासकों ने 4/5 हिस्सा स्वयं अपने लिये रखा। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने गड़े हुए खजाने में से कोई हिस्सा नहीं लिया।
4. **जकात**—यह मुसलमानों पर धार्मिक-कर था जो केवल धनवान मुसलमानों से ही लिया जाता था और उनकी आय का ढाई (2-1/2) प्रतिशत होता था। इस धन को केवल मुसलमानों के हितार्थ ही व्यय किया जाता था।

नोट

5. **जजिया**—यह गैर-मुसलमानों पर धार्मिक-कर था। इस्लाम के कानून के अनुसार गैर-मुसलमानों (जिन्हें 'जिम्मी' पुकारा जाता था) को एक मुसलमान शासक के राज्य में रहने का अधिकार न था। इस कर को देने के पश्चात् ही वे राज्य में रहकर शासक का संरक्षण और जीवन की सुरक्षा प्राप्त कर सकते थे। इसके लिए गैर-मुसलमानों को तीन भागों में बाँटा गया था और प्रत्येक वर्ग को क्रमशः 12, 24 और 48 दिरहम इस कर के रूप में देने पड़ते थे। स्त्रियाँ, बच्चे, भिखारी, लँगड़े, अन्धे, साधु, पुजारी, वृद्धजन और वे व्यक्ति जिनकी आय का कोई साधन न था, इस कर से मुक्त थे। फीरोज तुगलक ने दिल्ली के ब्राह्मणों पर भी यह कर लगाया अन्यथा ब्राह्मण इस कर से मुक्त थे। व्यावहारिक आधार पर दिल्ली-सुल्तानों ने इस कर को कठोरता से वसूल नहीं किया क्योंकि उससे बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के विद्रोही हो जाने का भय था, परन्तु कानूनी तौर पर वे सभी इस कर को वसूल करते रहे थे। **डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना** ने जजिया के सम्बन्ध में एक अन्य विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वह लगान से पृथक् कर था। बरनी, अमीर खुसरो और निजामुद्दीन औलिया के अनुसार भी लगान के अलावा अन्य सभी करों को जजिया पुकारा जाता था।

उपर्युक्त करों के अतिरिक्त मुसलमानों से वस्तु के मूल्य का 2-1/2% और हिन्दुओं से 5% व्यापारिक-कर लिया जाता था। घोड़ों पर 5% कर था। अलाउद्दीन खिलजी ने मकान-कर और चरागाह-कर भी लगाये थे और फीरोज तुगलक ने राज्य के सिंचाई-साधनों से लाभ प्राप्त करने वाली भूमि से उसकी पैदावार का 10% सिंचाई-कर के रूप में लिया था। इसके अतिरिक्त, मुद्रा की ढलाई, लावारिस सम्पत्ति तथा अमीरों एवं प्रान्तीय सूबेदारों द्वारा दी गयी वार्षिक भेंटें भी सुल्तान की आय के साधन थे।

सुल्तान का मुख्य व्यय सेना, अपने और महल के व्यक्तिगत खर्चों तथा विभिन्न पदाधिकारियों के वेतन पर होता था।

लगान-व्यवस्था

राज्य की भूमि चार भागों में विभक्त थी। प्रथम, वह भूमि जो व्यक्तियों को दान के रूप में दी गयी थी। इस पर राज्य कोई लगान नहीं लेता था। द्वितीय, वह भूमि जो मुक्तियों अथवा प्रान्तीय वलियों के अधिकार में थी। इससे मुक्ती अथवा वली लगान वसूल करते थे और अपने शासन के व्यय को पूरा करने के उपरान्त बाकी धन सरकारी खजाने में जमा कराते थे। तृतीय, वह भूमि जो अधीनस्थ हिन्दू राजाओं के आधिपत्य में थी जो प्रति वर्ष राज्य को निश्चित धनराशि देते थे। चतुर्थ, खालसा-भूमि जो केन्द्रीय सरकार या सुल्तान की भूमि मानी जाती थी और जिससे सुल्तान के कर्मचारी लगान वसूल करते थे। इस चौथी प्रकार की भूमि की लगान-व्यवस्था का उत्तरदायित्व सुल्तान और उसके कर्मचारियों पर था। इसके लिए राज्य ने प्रत्येक शिक में 'आमिल' नाम के एक अधिकारी की नियुक्ति की। वह पटवारी, चौधरी, मुकदम, कानूनगो, खूत आदि पैतृक अधिकारियों की सहायता से लगान वसूल करता था। इस प्रकार, राज्य के कर्मचारियों का किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क न था बल्कि वे वंशानुगत और परम्परा से चले आ रहे गाँव अथवा जिले के अधिकारियों से सम्पर्क रखते थे और वही किसानों से लगान वसूल करके उन्हें देते थे। मुक्ती और वली के कार्यों की देखभाल के लिए सुल्तान 'ख्वाजा' नामक एक अधिकारी की नियुक्ति करता था और केन्द्रीय गुप्तचर भी सुल्तान को अनेक सम्बन्धों में सूचनाएँ देते थे। इसके अतिरिक्त, वली और मुक्तियों को प्रति वर्ष अपनी आय और व्यय का ब्यौरा केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ता था।

साधारणतया, सम्पूर्ण सल्तनत-युग में किसानों को पैदावार का एक-तिहाई से लेकर आधा भाग तक राज्य को देना पड़ता था। आरम्भ में यह एक-तिहाई ही रहा परन्तु अलाउद्दीन के समय में इसे आधा कर दिया गया। परन्तु अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी शासक इस आधे भाग को वसूल नहीं कर सके और बाद के समय में लगान पैदावार का एक-तिहाई भाग ही रहा। मुहम्मद तुगलक ने दोआब में कर-वृद्धि करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल रहा। साधारणतया राज्य लगान को सिक्कों के रूप में वसूल करता था परन्तु अलाउद्दीन ने अपनी बाजार-व्यवस्था के कारण दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्रों और दोआब में लगान गल्ले के रूप में वसूल किया। अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के अतिरिक्त किसी भी सुल्तान ने भूमि की पैमाइश करके लगान लेने की पद्धति नहीं रखी बल्कि पैदावार का अनुमान करके ही लगान निश्चित कर दिया जाता था। अलाउद्दीन ने अपने समय में दान के रूप में दी गयी

नोट

अधिकांश भूमि को जब्त कर लिया था अथवा उसका पुनर्वितरण किया था। उसने चौधरी, मुकद्दम, खूत और जमींदारों के विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया था। गियासुद्दीन तुगलक ने किसानों की भलाई के लिए यह निश्चित किया था कि किसी भी इक्ता के लगान में एक वर्ष के अन्तर्गत 1/11 से 1/10 भाग से अधिक वृद्धि न की जाय। मुहम्मद तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य की आय और व्यय का लेखा तैयार कराया था। उसका आशय सम्पूर्ण राज्य में समान लगान-व्यवस्था करना था। वह यह भी चाहता था कि कोई भी गाँव लगान से मुक्त न रहे। उसने एक पृथक् कृषि-विभाग खोला, एक पृथक् अधिकारी 'दीवान-ए-कोही' की नियुक्ति की और तीन वर्ष के लिए एक अन्वेषण कृषि-फार्म भी खोला, परन्तु उसके इन प्रयत्नों से कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि वे शीघ्र त्याग दिये गये। फीरोज तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य के लगान का अनुमान लगाकर उसे अपने सम्पूर्ण काल के लिए निश्चित कर दिया, किसानों को तकावी कर्ज से मुक्त कर दिया, राजस्व-विभाग के अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की, प्रायः 26 करों से प्रजा को मुक्त कर दिया, फलों के बाग लगवाये, सिंचाई की व्यवस्था की, सिंचाई-कर लगाया और सरकारी अधिकारियों अथवा सूबेदारों को यातनाएँ देकर अधिक से अधिक धन वसूल करने की उस नीति को त्याग दिया जिसका भार अन्ततोगत्वा किसानों पर ही पड़ता था। फीरोज ने, निस्सन्देह, किसानों की भलाई करने में सफलता प्राप्त की। लोदी सुल्तानों ने अफगान सरदारों को बड़ी-बड़ी जागीरें प्रदान की थीं जिससे खालसा-भूमि का क्षेत्र कम हो गया और सिकन्दर लोदी के द्वारा भूमि की पैमाइश करके लगान को निश्चित करने के प्रयत्न असफल हुए।

दिल्ली-सल्तनत के युग की लगान-व्यवस्था में सिद्धान्ततः कुछ दोष रहे। भूमि की पैमाइश न करके अनुमान के आधार पर पैदावार पर लगान निश्चित करना किसानों के लिए लाभदायक नहीं हो सकता था। इससे लगान-अधिकारियों को मनमानी करने का अवसर मिला था। इसके अतिरिक्त, साधारणतया भूमि ठेके पर दे दी जाती थी। इससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने वाले भूमि के ठेकेदार वर्ग का जन्म हुआ था जो किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करते थे। लगान के अतिरिक्त किसानों को अन्य कर भी देने पड़ते थे। इस कारण किसानों पर कर का भार अधिक था।



टास्क जजिया कर पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

6.4 सैनिक संगठन (Military Organisation)

सुल्तानों की शक्ति उनके सैनिक-बल पर निर्भर करती थी। यह सम्पूर्ण काल ऐसा था जबकि सुल्तान भारत में इस्लाम की सत्ता को स्थापित और विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी कारण हिन्दू राजाओं से संघर्ष और आन्तरिक विद्रोहों का दमन सम्पूर्ण सल्तनत-युग में चलता रहा। इसके अतिरिक्त एक लम्बे समय तक मंगोल-आक्रमणों का भय भी रहा। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक सुल्तान को एक बड़ी सेना रखना आवश्यक था। मुसलमानों ने भारत में युद्ध-शैली और सैनिक-संगठन में परिवर्तन किये यद्यपि बाद में वे भी समय के साथ प्रगति करने में असफल रहे। उस समय सेना में चार प्रकार के सैनिक होते थे। प्रथम, वे सैनिक जो सुल्तान के सैनिकों के रूप में भर्ती किये जाते थे। इनमें शाही अंगरक्षक, शाही गुलाम और कुछ अन्य सैनिक सम्मिलित होते थे। इस सेना को 'खास-खेल' पुकारते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना रखी थी जिसमें पैदलों के अतिरिक्त 4,75,000 घुड़सवार भी थे। गियासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद तुगलक के समय में भी केन्द्र पर एक बड़ी सेना स्थायी रूप से रखी गयी परन्तु उनसे पहले और बाद के सुल्तान कभी भी केन्द्र पर बहुत बड़ी सेना न रख सके। यह सेना 'दीवान-ए-अरीज' की देखभाल में रहती थी जो उसकी भर्ती, संगठन, वेतन-वितरण आदि के लिए उत्तरदायी होता था। इस सेना के प्रशिक्षण के लिए कोई निश्चित व्यवस्था न थी। बलबन जैसे शासक इस सेना को शिकार के बहाने ले जाकर शिक्षण प्रदान करते थे अन्यथा प्रत्येक सैनिक की कुशलता स्वयं अपने परिश्रम और कौशल पर निर्भर करती थी। द्वितीय, वे सैनिक होते थे जो दरबार के सरदारों और प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) आदि के द्वारा भर्ती किये जाते थे। इन सैनिकों की भर्ती, प्रशिक्षण, वेतन आदि के लिए वे ही

नोट

उत्तरदायी होते थे। इसके लिए उन्हें अपने इक्ता से आय प्राप्त होती थी अथवा उन्हें जागीरें दी जाती थी। प्रान्तों में 'प्रान्तीय अरीज' होते थे जो इस सेना के संगठन के लिए उत्तरदायी थे परन्तु मुख्य उत्तरदायित्व इक्तादार (सूबेदार) का ही होता था। वर्ष में एक बार उनकी सेनाएँ सुल्तान के निरीक्षण के लिए प्रस्तुत की जाती थीं परन्तु साधारणतया इस नियम का विधिवत् पालन नहीं किया जाता था। आवश्यकता होने पर दरबारी-सरदार और सूबेदार अपनी सेनाओं को लेकर सुल्तान की सेवा में उपस्थित होते थे। **तृतीय, वे सैनिक थे जो केवल अस्थायी रूप से युद्ध के अवसर पर ही भर्ती किये जाते थे और उसी समय में उनको वेतन और रसद प्राप्त होती थी। चतुर्थ, वे मुसलमान स्वयंसेवक थे जो हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध करने के लिए सेना में सम्मिलित होते थे।** वे उसे जिहाद (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) मानते थे। उन्हें केवल युद्ध में लूटी हुई सम्पत्ति में से हिस्सा मिलता था।

सेना के मुख्य भाग तीन थे। प्रथम, घुड़सवार-सेना थी जिसे सेना का मुख्य भाग समझा जाता था। घुड़सवार दो प्रकार के होते थे-सवार, जिनके पास एक घोड़ा होता था और दो-अस्पा, जिनके पास दो घोड़े होते थे। घोड़ों को अरब, तुर्किस्तान और अन्य दूरस्थ प्रदेशों से मँगाया जाता था। अलाउद्दीन खिलजी ने घोड़ों को दागने तथा सैनिकों की हुलिया लिखे जाने की प्रथाएँ आरम्भ कीं जिससे घोड़ों और सैनिकों की अदल-बदल न हो सके। गियासुद्दीन तुगलक ने भी इन प्रथाओं को लागू किया। सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने भी इन प्रथाओं को लागू करने का प्रयत्न किया था। परन्तु अन्य सुल्तान इस व्यवस्था को लागू नहीं कर सके थे। फीरोज तुगलक जैसे शासकों ने अपनी उदारता के कारण इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार को जन्म दिया। उसके समय में सेना में भर्ती वंशानुगत कर दी गयी जिससे योग्यता का अभाव हो गया और सेना दुर्बल हुई। प्रत्येक घुड़सवार के पास दो तलवारें, एक भाला और धनुष-बाण होते थे। रक्षा के लिए वे कवच, ढाल और शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। घोड़ों की सुरक्षा के लिए उन्हें भी लोहे के बख्तर पहनाये जाते थे। सेना की सफलता पर्याप्त मात्रा में घुड़सवार-सेना की शक्ति और गतिशीलता पर निर्भर करती थी। **द्वितीय, गज-सेना थी।** भारत में आने के बाद दिल्ली-सुल्तानों ने भी युद्ध में हाथियों का प्रयोग करना आवश्यक मान लिया था। हाथियों का रखना सुल्तानों का विशेषाधिकार था। लोदी-सुल्तानों के समय के अतिरिक्त अन्य किसी सुल्तान ने अमीरों और सूबेदारों को हाथियों की सेना रखने की आज्ञा नहीं दी थी। यद्यपि कभी-कभी किसी बड़े सरदार को सम्मान-स्वरूप हाथी रखने की आज्ञा दे दी जाती थी। हाथियों की देखभाल के लिए एक पृथक् विभाग होता था और हाथियों को युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी। हाथियों को बख्तर से सुरक्षित किया जाता था और उनकी सूँड़ों में तलवार तथा हँसिये रख दिये जाते थे। हाथी की पीठ पर हौदा रखा जाता था जिसमें सैनिक बैठते थे। **तृतीय, पैदल-सेना थी।** पैदल-सैनिक 'पायक' कहलाते थे। वे तलवार, बरछा, कटार, धनुष-बाण, ढाल आदि का प्रयोग करते थे। दिल्ली-सुल्तानों में से किसी ने भी बारूद-गोले के तोपखाने का निर्माण नहीं किया। उनके पास तोपें थीं परन्तु वे तोपें पत्थर, जलने वाले पदार्थ, जहरीले साँप, लोहे के गोले आदि फेंकने के लिए प्रयोग में आती थीं। उनके फेंकने के लिए बारूद का प्रयोग होता था परन्तु बारूद के गोले उस समय में तैयार नहीं किये गये थे। सुल्तान नावों का बेड़ा भी रखते थे परन्तु उनका प्रयोग युद्ध की अपेक्षा सामान ढोने के लिए अधिक किया जाता था।

दिल्ली-सुल्तान की सेना में सभी धर्म और नस्लों के व्यक्ति थे। तुर्क, ईरानी, मंगोल, अफगान, हब्शी, भारतीय मुसलमान, हिन्दू आदि सभी सेना में भर्ती किये गये थे यद्यपि उच्च पदों पर विदेशी मुसलमानों की ही नियुक्ति की जाती थी। विभिन्न तत्वों से मिलकर बनी हुई ऐसी सेना की शक्ति मूलतया उसके सेनापति अथवा सुल्तान के सेनापतित्व और योग्यता पर निर्भर करती थी, परन्तु क्योंकि सेना में अधिकांशतया मुसलमान होते थे, अतएव इस्लाम धर्म उनको एकता और भावनात्मक जोश प्रदान करता था।

सेना का संगठन और पदों का विभाजन मुख्यतया दशमलव प्रणाली के आधार पर किया गया था। घुड़सवार-सेना में घुड़सवारों की एक टुकड़ी मानी जाती थी जिसका प्रधान 'सरेखेल' कहलाता था। दस सरेखेलों के ऊपर एक सिपहसालार, दस सिपहसालारों के ऊपर एक अमीर, दस अमीरों के ऊपर एक मलिक और दस मलिकों के ऊपर एक खान होता था। सम्भवतया पैदल-सेना का विभक्तीकरण भी इसी प्रकार किया गया होगा। परन्तु किसी भी सुल्तान ने इस पद्धति का प्रयोग विधिवत् नहीं किया। प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति और पदोन्नति सुल्तान की

नोट

व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करती थी। बहुत से पद वंशानुगत भी बन गये थे और दुर्बल सुल्तानों के समय में योग्यता पद प्राप्त करने का आधार नहीं रह जाती थी।

दिल्ली-सुल्तानों की युद्ध-पद्धति प्रायः समान रही। शत्रुओं की गतिविधि का पता लगाने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे और सेना का एक अग्रगामी भाग आगे भेजा जाता था। युद्ध के अवसर पर सेना को मुख्यतया चार भागों में बाँटा जाता था—केन्द्र, वाम-पक्ष, दक्षिण-पक्ष और सुरक्षित दल। हाथियों को केन्द्र में सबसे आगे रखा जाता था और उनके बीच में पैदल-सैनिक होते थे। घुड़सवारों के आक्रमण के लिए बीच से मार्ग छोड़ दिया जाता था।



सावधानी

राज्य के सभी महत्वपूर्ण भागों और किलों में स्थायी रूप से सेना रखी जाती थी। किलों को सुरक्षा-पंक्ति का एक मुख्य भाग समझा जाता था उनकी सुरक्षा के लिए सभी आवश्यक प्रबन्ध किये जाते थे।

सुल्तान सेना का मुख्य सेनापति होता था। वह समय-समय पर विभिन्न आक्रमणों के लिए अलग-अलग सेनापति नियुक्त करता था। सेना की शक्ति और संगठन बहुत कुछ सुल्तान की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करता था। इल्तुमिश, अलाउद्दीन खलजी, गियासुद्दीन तुगलक तथा मुहम्मद तुगलक जैसे योग्य सुल्तानों के समय में सेना की शक्ति बहुत दृढ़ रही जबकि दुर्बल शासकों के नेतृत्व में वही सेना दुर्बल हो गयी।

दिल्ली-सुल्तानों की सेना बहुत श्रेष्ठ नहीं मानी जा सकती थी। उनमें एकता, सैनिक-शिक्षण और अनुशासन की समानता का अभाव था। सरदारों द्वारा संगठित की गयी सेना अपने सरदार के प्रति अधिक वफादार होती थी। तोपखाने का निर्माण न करना उनकी एक दुर्बलता थी, मुख्यतया उस समय जबकि विदेशों में उसका प्रयोग आरम्भ हो चुका था, परन्तु तब भी राजपूत-शासकों के विरुद्ध इस सेना ने सफलता प्राप्त की।

6.5 न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था (Justice and Punishment System)

राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश स्वयं सुल्तान होता था तथा सुल्तान का निर्णय अन्तिम होता था। प्रत्येक सुल्तान सप्ताह में प्रायः दो दिन अपने न्यायालय में उपस्थित होता था और सभी प्रकार के मुकदमों का निर्णय स्वयं करता था। धार्मिक मामलों में मुख्य सद्र अथवा मुफ्ती और अन्य मुकदमों में काजी उसकी सहायता करता था, परन्तु क्योंकि सद्र और काजी अधिकांशतया एक ही व्यक्ति होता था अतः वही न्याय में सुल्तान का मुख्य सलाहकार था। सद्र, मुख्य काजी, प्रान्तीय काजी अथवा नगरों के काजियों की नियुक्ति सुल्तान ही करता था। अधिकांश सुल्तान न्यायप्रिय हुए परन्तु क्योंकि वे इस्लाम धर्म के कानूनों के अनुसार न्याय करते थे और काजी से जो एक धार्मिक व्यक्ति होता था, सलाह लेते थे, इस कारण गैर-मुसलमानों को निष्पक्ष न्याय प्राप्त होता था, इसमें सन्देह किया जा सकता है। सुल्तान के पश्चात् सद्र और मुख्य काजी तथा उसके पश्चात् प्रान्तीय काजी और मुख्य नगरों के काजी हुआ करते थे। गाँवों में ग्राम-पंचायतें न्याय करती थीं।



क्या आप जानते हैं

राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश स्वयं सुल्तान होता था तथा सुल्तान का निर्णय अन्तिम होता था।

सुल्तानों का दण्ड-विधान कठोर था। सामान्यतया अंग-विच्छेद, मृत्यु और सम्पत्ति-अपहरण दण्ड के रूप में प्रदान किये जाते थे। सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों और असैनिक मुकदमों में भी इस्लाम धर्म के कानूनों को मान्यता दी जाती थी।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि सुल्तानों की न्याय और दण्ड-व्यवस्था मध्य-युग की परिस्थितियों के अनुसार सामान्य थी और उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन किसी भी सुल्तान ने नहीं किया था। न्याय का रूप सुल्तान के व्यक्तित्व और उसके धार्मिक विचारों पर निर्भर करता था। न्यायप्रिय शासकों के समय में

नोट

न्यायालय की व्यवस्था ठीक रही अन्यथा अन्य सुल्तान इसे एक सामान्य परन्तु आवश्यक कार्य मानकर किया करते थे। इसका मुख्य दोष यह था कि किसी भी सुल्तान ने धर्म-निरपेक्ष न्याय, कानून अथवा दण्ड-व्यवस्था को लागू करने का प्रयत्न नहीं किया जबकि उनकी बहुसंख्यक प्रजा उनसे भिन्न धर्म को मानने वाली थी। ऐसी स्थिति में सुल्तानों की बहुसंख्यक प्रजा निष्पक्ष न्याय की आशा नहीं कर सकती थी।

पुलिस-व्यवस्था के लिए सुल्तानों ने कोई पृथक् वर्ग नहीं बनाया था। सैनिक-अधिकारी ही अपने-अपने क्षेत्रों में पुलिस-कार्यों की पूर्ति करते थे। बड़े नगरों में एक अधिकारी कोतवाल अवश्य होता था परन्तु वह भी मुख्यतया एक सैनिक-अधिकारी था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें

(State whether the following statements are True/False)–

9. जजिया गैर-मुसलमानों पर लगाया गया धार्मिक कर था।
10. राज्य की भूमि दो भागों में विभक्त थी।
11. मुहम्मद तुगलक दोआब में कर वृद्धि करने में सफल रहा।
12. सुल्तानों की शक्ति उसके सैनिक बल पर निर्भर करती थी।

6.6 धार्मिक नीति (Religious Policy)

सम्पूर्ण सल्तनत-युग में इस्लाम धर्म राज्य-धर्म था। इस कारण प्रत्येक सुल्तान का एक मुख्य कर्तव्य दारुल-हर्ब (काफिरों का देश) को दारुल-इस्लाम (इस्लाम का देश) में परिवर्तित करना रहा। अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ प्रत्येक सुल्तान ने अपने इस धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने का भी प्रयत्न किया। एक सुल्तान किस मात्रा में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न कर सका, यह उसकी सैनिक-क्षमता और परिस्थितियों पर निर्भर करता था और एक सुल्तान किस सीमा तक इस उद्देश्य की पूर्ति करने में लगनशील रहा, यह उसके व्यक्तिगत धार्मिक विचारों की कट्टरता पर निर्भर था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक सुल्तान ने अपनी-अपनी क्षमता और विचारों की सीमा के अनुसार इस कार्य की पूर्ति हेतु प्रयत्न किये। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों के लिए राजनीतिक उद्देश्य प्रधान था, जबकि फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने राज्य की शक्ति को इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने का साधन बनाने में कोई संकोच नहीं किया।

सभी सुल्तानों के समय में मुसलमानों और बहुसंख्यक हिन्दुओं में अन्तर किया जाता था। हिन्दू किसानों को मुसलमान किसानों (यद्यपि उनकी संख्या नगण्य थी) की तुलना में अधिक लगान देना पड़ता था तथा हिन्दू व्यापारियों को मुसलमान व्यापारियों की तुलना में दुगुना व्यापारिक-कर देना पड़ता था। हिन्दू तो क्या, हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमानों को भी राज्य में अच्छे पद नहीं दिये जाते थे। हिन्दुओं को मुसलमान बन जाने हेतु विभिन्न प्रलोभन दिये जाते थे। न्याय में मुसलमानों के साथ पक्षपात होता था। हिन्दुओं को उनके तीर्थस्थानों पर जाने से रोका जाता था और उन्हें जजिया देना पड़ता था। सुल्तानों की दान-व्यवस्था और अस्पतालों के निर्माण से हिन्दुओं को कोई लाभ न था, जबकि मुसलमान मदरसों, मकतबों और मौलवियों को धन व जागीरें दी जाती थीं, हिन्दू पाठशालाओं और विद्यालयों को नष्ट किया जाता था। निस्सन्देह, हिन्दुओं को शब्द और व्यवहार दोनों ही प्रकार से 'जिम्मी' तथा 'काफिर' समझा जाता था।



उदाहरण हिन्दू-मन्दिरों और देवी-देवताओं की मूर्तियों को नष्ट करना और उन्हें अपमानित करने के लिए उनके खण्डों को मस्जिदों की सीढ़ियों पर लगाना और मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करना प्रायः सभी सुल्तानों के समय में हुआ।

नोट

अधिकांश दिल्ली-सुल्तान सुन्नी थे। इस कारण शियाओं और अन्य मुसलमान धर्मावलम्बियों के प्रति भी उनका व्यवहार कटुतापूर्ण था।

आधुनिक समय में विभिन्न इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सुल्तानों की नीति धार्मिक संकीर्णता और पक्षपात पर आधारित नहीं थी। अपने इस मत के समर्थन में वे विभिन्न तर्क भी देते हैं; जैसे-मन्दिरों को नष्ट किये जाने का कारण धन था, मूर्तियों को नष्ट करने का उद्देश्य हिन्दुओं को एक ईश्वर में विश्वास करना सिखाना था, तत्कालीन इतिहासकारों ने केवल प्रतिष्ठा और प्रचार के कारण सुल्तानों के धार्मिक कार्यों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा था, आदि। सम्भवतया ऐसे विद्वानों का इस मत को प्रकट करने का उद्देश्य सद्भावनापूर्ण है। आधुनिक युग की परिस्थितियों में जबकि धार्मिक सहनशीलता, हिन्दू-मुसलमानों के अच्छे सम्बन्ध और धर्म-निरपेक्ष राज्य के निर्माण की आवश्यकता है, तब धार्मिक कट्टरता पर चाहे वह आधुनिक युग की हो अथवा मध्य-युग की, बल देने की आवश्यकता नहीं है।



नोट्स इतिहास तथ्यों पर आधारित सत्य है, न कि किसी युग की विशेष प्रवृत्ति के प्रचार का साधन।

इसके अतिरिक्त, सत्य के द्वारा ही भविष्य का निर्माण करना तर्कसंगत है और उसी के आधार पर किसी भी परिस्थिति या प्रवृत्ति को ठोस आधार बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि प्रायः सभी दिल्ली-सुल्तानों की धार्मिक नीति संकीर्णता और साम्प्रदायिकता पर आधारित थी। तत्कालीन सभी इतिहासकारों ने इस्लाम धर्म की रक्षा और प्रचार के हेतु सुल्तानों द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा की थी और ये सभी इतिहासकार मुसलमान थे। भविष्य से अनभिज्ञ जो भी उन्होंने लिखा उसमें अतिशयोक्ति हो सकती है परन्तु उनके कथन का आधार सत्य है। मध्य-युग में धर्म की मान्यता थी और यदि सुल्तानों में इस मान्यता के अनुकूल कार्य किये तो उन पर न तो सन्देह करने की आवश्यकता है, न आश्चर्य करने की और न उन सुल्तानों पर लंछन लगाने की। उन सुल्तानों ने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार कार्य किया, जो स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, उनके पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि केवल धर्म-प्रचार ही उनका लक्ष्य न था। भारत में उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया था। उस राज्य की रक्षा करना उनका प्रमुख हित और स्वार्थ था। इस कारण धर्म से राजनीति अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई थी। इस कारण सम्पूर्ण सल्तनत-काल एक संघर्ष का युग था जिसमें हिन्दू और मुसलमान धर्म और राजनीति दोनों ही स्थलों में एक-दूसरे के शत्रु थे। उस संघर्ष में मुसलमान विजेता और आक्रमणकारी बन चुके थे तथा हिन्दू पराजित और रक्षार्थी। इन परिस्थितियों में विजेता का अपने धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित रखने का प्रयत्न और बहुसंख्यक हिन्दुओं को मुसलमान धर्म में परिवर्तित करके अपनी संख्या को बहुमत में बदलने का प्रयत्न परिस्थितियों के अनुकूल, राजनीति के लिए लाभप्रद और धर्म के प्रति धर्मपरायणता का था। इस प्रकार, सभी प्रकार से लाभदायक इस कार्य की पूर्ति करने वाले सुल्तानों के कार्य की निन्दा नहीं की जा सकती तथा उनके कार्य के उद्देश्य को कोई अन्य रूप प्रदान करना उनके साथ अन्याय करना होगा। इस कारण दिल्ली-सुल्तानों की नीति धार्मिक असहिष्णुता की थी और इसमें कोई अनुचित अथवा आश्चर्य की बात न थी, परन्तु एक बात अवश्य कही जा सकती है कि दिल्ली-सुल्तानों में से कोई भी सुल्तान महान न हो सका और इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि उनमें कोई भी अपने समय से आगे न सोच सका और न उसके अनुकूल कार्य कर सका अन्यथा अलाउद्दीन जैसे योग्य शासक और महान योद्धा को भी आधुनिक इतिहासकार महान मानने में क्यों संकोच करते हैं? दिल्ली-सुल्तानों में से कोई भी सुल्तान यह न समझ सका कि समस्त हिन्दू प्रजा को मुसलमान बनाना असम्भव है और न हिन्दू धर्म को शक्ति के आधार पर नष्ट ही किया जा सकता है। यदि वे यह समझ सके होते तो वे धार्मिक कट्टरता के अवसाद से बच जाते और हिन्दू-मुसलमानों में वह पारस्परिक सद्भावना अधिक तीव्र गति से स्थापित होती जो जनता में स्वाभाविक दृष्टि से उत्पन्न हो रही थी। मुगल शासक इस बात को समझ सके और अकबर इसे समझकर महान कहलाने का अधिकारी बन सका। इसी कारण मुगल-वंश भारत में अधिक स्थिर, अधिक लाभप्रद और अधिक उन्नतशील बन सका। दिल्ली-सुल्तानों की धार्मिक कट्टरता उनकी एक बड़ी भूल थी।

दिल्ली-सुल्तानों का शासन पूर्णतया दोषरहित न था यद्यपि वह समय की आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ रहा। उसके मूल दोष उनकी धार्मिक कट्टरता की नीति और अपने सैनिक-संगठन को समय के अनुकूल न बनाना था। एक ने उनको बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के सहयोग से वंचित रखा और दूसरे ने उनके हाथों से भारत की सत्ता छीन ली।

6.7 सारांश (Summary)

- इस्लाम धर्म के अनुसार 'शरीयत' प्रधान है। खलीफा भी उसके अधीन होता है। इस कारण सभी मुसलमान शासक 'शरीयत' के अधीन होते हैं और उसके कानूनों के अनुसार कार्य करना उनका प्रमुख कर्तव्य होता है।
- केन्द्रीय शासन का प्रधान सुल्तान होता था तथा उत्तराधिकार पैतृक आधार पर निश्चित था, परन्तु उस समय निर्णय लिया गया कि पैतृक अधिकार को उसी समय स्वीकार किया जाए जबकि उत्तराधिकारी योग्य हो। अयोग्य उत्तराधिकारी होने की स्थिति में सरदारों ने सुल्तान को चुनने की प्रणाली का प्रयोग किया।
- दिल्ली-सुल्तानों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन-व्यवस्था को स्थापित किया। सुल्तान कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय करने में प्रधान था।
- शासन की सुविधा और परिस्थितियों की आवश्यकता के कारण राज्य को छोटी इकाइयों में बाँटा गया था। उस समय में प्रान्तों को साधारणतया 'इक्ता' पुकारते थे।
- दिल्ली-सुल्तानों के समय में कुछ विशेष करों के अतिरिक्त निम्नलिखित पाँच कर मुख्य थे—उश्र, खराज, खम्म, जकात और जजिया।
- सुल्तानों की शक्ति उनके सैनिक-बल पर निर्भर करती थी। प्रत्येक सुल्तान को एक बड़ी सेना रखना आवश्यक था। प्रत्येक सुल्तान सप्ताह में प्रायः दो दिन अपने न्यायालय में उपस्थित होता था और सभी प्रकार के मुकदमों का निर्णय वह स्वयं करता था।
- सम्पूर्ण सल्तनत-युग में इस्लाम धर्म राज्य-धर्म था। इस कारण प्रत्येक सुल्तान का एक मुख्य कर्तव्य दारुल-हर्ब (काफिरों का देश) को दारुल-इस्लाम (इस्लाम का देश) में परिवर्तित करना रहा। अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ प्रत्येक सुल्तान ने अपने इस धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने का भी प्रयत्न किया।

6.8 शब्दकोश (Keywords)

- **मुश्रिफ-ए-मुमालिक**—प्रांतों तथा अन्य विभागों के हिसाब का लेखा-जोखा रखने वाला।
- **दीवाने रसातल**—सुल्तानों की विदेश-वार्ता और कूटनीतिक संबंधों की देखभाल करने वाला।
- **इक्तादार**—सूबेदार, छोटे भूमि के अधिकारी।
- **दारुल हर्ब**—हिन्दुओं का देश।

6.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. केन्द्रीय प्रशासन के अंतर्गत सल्तनत काल में सुल्तान की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. क्या दिल्ली सल्तनत को एक धर्म-राज्य स्वीकार किया जा सकता है?
3. दिल्ली सल्तनत की केन्द्रीय शासन व्यवस्था की विवेचना करें।
4. शासन में सुल्तान की सहायता के लिए नियुक्त मंत्री एवं विभिन्न अधिकारियों के कार्यों पर प्रकाश डालें।
5. दिल्ली सल्तनत की इक्तादारी शासन-व्यवस्था को स्पष्ट करें।
6. सल्तनत काल के राजस्व-व्यवस्था पर एक लेख लिखें।

नोट

7. दिल्ली सुल्तान की लगान-व्यवस्था एवं उसमें हुए परिवर्तनों का उल्लेख करें।
8. सल्तनत काल के सैनिक संगठन का वर्णन करें।
9. सल्तनत काल के सुल्तानों की धार्मिक नीति पर प्रकाश डालें।
10. दिल्ली सल्तनत की न्याय तथा दंड व्यवस्था पर टिप्पणी लिखें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|-------------|-------------|-----------------|----------------|
| 1. 'शरीयत' | 2. सुल्तान | 3. निरंकुश | 4. इस्लाम धर्म |
| 5. (ग) वजीर | 6. (क) धर्म | 7. (ग) प्रांतों | 8. (ख) निर्बल |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. असत्य | 12. सत्य |

6.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
5. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
6. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-7 : प्रान्तीय राज्य

(Regional States)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 कश्मीर (Kashmir)

7.2 जौनपुर (Jonpur)

7.3 बंगाल (Bengal)

7.4 गुजरात (Gujarat)

7.5 मालवा (Malava)

7.6 मेवाड़ (आधुनिक उदयपुर) [Mewar (Modern Udaypur)]

7.7 मारवाड़ (आधुनिक जोधपुर) [Marwar (Modern Jodhpur)]

7.8 खानदेश (दक्षिण-भारत) [Khandesh (South-India)]

7.9 बहमनी-राज्य (दक्षिण-भारत) [Bahamani State (South-India)]

7.10 विजयनगर-राज्य (दक्षिण-भारत) [Vijaynagar State (South-India)]

7.11 सारांश (Summary)

7.12 शब्दकोश (Keywords)

7.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

7.14 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- कश्मीर, जौनपुर, बंगाल, गुजरात एवं मालवा प्रांत को जानने में;
- मेवाड़, मारवाड़ एवं खानदेश को जानने में;
- बहमनी-राज्य एवं विजयनगर-राज्य को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

दक्षिण भारत एवं दक्कन में स्थिर सरकारों का एक लम्बा दौर चला, जब विघटन की शक्तियाँ उत्तर-भारत को धीरे-धीरे ग्रस्त कर रही थीं। दो सौ से अधिक वर्षों तक बहमनी एवं विजयनगर साम्राज्यों का इन भूभागों पर वर्चस्व रहा। इनके समय में नई राजधानियाँ एवं नगरों की स्थापना हुई। कला, वास्तुकला तथा साहित्य एवं संस्कृति में प्रगति हुई, व्यापार एवं कानून-व्यवस्था में भी सुधार हुआ।

नोट

दक्षिण भारत में स्थापित ये दोनों राज्य पड़ोसी भी थे और समकालीन भी। पड़ोसी राज्य होने के कारण इनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक था। इन राज्यों के संघर्ष का कारण धार्मिक, आर्थिक एवं सीमा विस्तार था। इस दौर का अंत पंद्रहवीं सदी के अंतिम भाग में बहमनी साम्राज्य के विघटन तथा तालीकोटा के युद्ध में 1565 ई. में पराजय के बाद विजयनगर के विघटन के साथ हुआ। अपने पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों को बसने का अधिकार देना भी विजय नगर साम्राज्य की एक भूल थी।

7.1 कश्मीर (Kashmir)

1301 ई. में सूहादेव ने कश्मीर में सुदृढ़ राज्य की स्थापना की। परन्तु उसकी पूर्वी एवं उत्तरी सीमाओं पर शत्रुओं ने आक्रमण किये तथा 1320 ई. में पश्चिमी तिब्बत के एक सरदार के पुत्र रिनचन ने उससे कश्मीर छीन लिया। रिनचन ने अपनी सेवा में शाहमीर नामक एक मुसलमान को रखा तथा उसकी योग्यता से प्रसन्न होकर उसे अपने बच्चों और पत्नी की शिक्षा के लिए नियुक्त किया। रिनचन के पश्चात् उदयनदेव कश्मीर का शासक बना। 1338 ई. में उदयनदेव की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी कोटा ने अपने बच्चों के अल्पायु होने के कारण शासन-सत्ता अपने हाथों में ले ली, परन्तु शाहमीर ने, जो उस समय तक पर्याप्त प्रभावशाली बन चुका था, उसे और उसके बच्चों को कैद करके 1339 ई. में राज्य पर अपना अधिकार कर लिया तथा 'शम्सुद्दीनशाह' के नाम से कश्मीर का प्रथम मुस्लिम शासक बना। कालान्तर में शम्सुद्दीन शाहमीर ने कोटा रानी से विवाह कर इन्द्राकोट में शाहमीर राज्य की स्थापना की।

शम्सुद्दीन ने केवल तीन वर्ष शासन किया। 1342 ई. में उसका सबसे बड़ा पुत्र जमसेद शासक बना, परन्तु उसके भाई अलाउद्दीन ने कुछ माह पश्चात् सिंहासन पर अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन ने प्रायः 12 वर्ष शासन किया। तत्पश्चात् उसका भाई शिहाबुद्दीन सिंहासन पर बैठा। शिहाबुद्दीन ने 19 वर्ष शासन किया। उसने अपने शासनकाल में राजधानी को इन्द्राकोट से हटाकर 'अलाउद्दीनपुर' (श्रीनगर) में स्थापित किया। उसने सभी दिशाओं में युद्ध किये और सफलता प्राप्त की। पश्चिम में उसने पेशावर तक आक्रमण किया तथा गजनी और कन्धार तक उसका नाम विख्यात हो गया। दक्षिण में उसने सतलज नदी पर आक्रमण किया। इसके अतिरिक्त तिब्बत के राजा ने उससे मित्रता कर ली, परन्तु उसने यह आक्रमण लूट-मार के लिए किये, साम्राज्य-विस्तार के लिए नहीं। वह धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और उसने कश्मीर-राज्य के सम्मान में वृद्धि की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई कुतुबुद्दीन सिंहासन पर बैठा। 1389 ई. में कुतुबुद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसका अल्पायु पुत्र सिकन्दर सिंहासन पर बैठा। सिकन्दर के समय में भारत पर 1398 ई. में तैमूर का आक्रमण हुआ। सिकन्दर का शासन सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टियों से गम्भीर परिवर्तनों वाला सिद्ध हुआ। उसके समय तक कश्मीर की बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू थी तथा हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अत्यधिक सहिष्णुता के थे, परन्तु सिकन्दर धर्मान्ध सिद्ध हुआ। उसने सभी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया और सबसे प्रबल आक्रमण ब्राह्मणों पर किया। अनेक हिन्दुओं ने जहर खा लिया, कुछ कश्मीर छोड़कर भाग गये और अन्य बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान हो गये।



क्या आप जानते हैं? सिकन्दर ने हिन्दू-मन्दिरों और मूर्तियों को इतनी अधिक मात्रा में नष्ट किया कि उसे 'बुतशिकन' की उपाधि दी गयी।

जोनराजा ने लिखा है : "सुल्तान अपने सुल्तान के कर्तव्यों को भूल गया और दिन-रात उसे मूर्तियों को नष्ट करने में आनन्द आने लगा... उसने मार्तण्ड, विश्व, इसाना चक्रवर्त और त्रिपुरेश्वर की मूर्तियों को तोड़ दिया... ऐसा कोई शहर, नहर, गाँव या जंगल बाकी न रहा जहाँ तुरुष्क सूहा (सिकन्दर) ने ईश्वर के मन्दिरों को न तोड़ा हो।" इस प्रकार सिकन्दर ने कश्मीर की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और उसके समय में बाहर से मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में कश्मीर आये। 1413 ई. में सिकन्दर की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका पुत्र अलीशाह सिंहासन पर बैठा। उसके समय में उसके वजीर ने धार्मिक कट्टरता की नीति को

नोट

पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया और सिकन्दर के बचे हुए कार्य की पूर्ति कर दी। अलीशाह अपने भाई से संघर्ष करते हुए खोक्खरों द्वारा पकड़ लिया गया और चदुरा नामक स्थान पर उसकी मृत्यु हुई।

1420 ई. में अलीशाह का भाई शाहीखाँ 'जैन-उल-अबीदीन' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसे 'बुदशाह' व महान सुल्तान भी कहा जाता था। वह कश्मीर का सबसे महान शासक हुआ। वह धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक सहिष्णु था। उसकी धार्मिक उदारता के कारण बहुत से इतिहासकारों ने उसकी तुलना मुगल बादशाह अकबर से की है। उसके समय में कश्मीर राज्य का अधिकतम विस्तार हुआ। गान्धार, सिन्ध, राजपुरी, लद्दाख, लेह आदि स्थान उसके अधिकार में हो गये और उसने खोक्खर नेता जसरथ की सहायता करते हुए जम्मू के मुसलमान शासक को भी परास्त किया। उसके समय में कश्मीर की भौतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति हुई। वह उदार और सुसभ्य शासक था। वह विद्वान था तथा फारसी, संस्कृत, तिब्बती और अन्य कई भाषाओं का ज्ञाता था। उसने हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की, भागे हुए हिन्दुओं को कश्मीर बुलाया, मन्दिरों के निर्माण की आज्ञा दी, ब्राह्मणों को पुरस्कार देने आरम्भ किये और इस प्रकार पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी। उसने विभिन्न करों को हटाया, हिन्दुओं को जजिया से मुक्त किया, व्यापारियों को उचित मूल्यों पर वस्तुएँ बेचने के लिए बाध्य किया, चोरी-डकैती को बन्द किया तथा निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था स्थापित की। गौ-हत्या निषिद्ध कर दी। हिन्दुओं की भावनाओं का आदर करते हुए सती प्रथा पर से प्रतिबन्ध हटा दिया। वूलर झील में जैना लेका नामक द्वीप का उसी ने निर्माण कराया। उसने 'महाभारत' और 'राजतरंगिनी' का फारसी में अनुवाद कराया, अनेक फारसी और अरबी ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद कराया तथा अनेक विद्वानों को अपने दरबार में आश्रय दिया। वह 'कुतुब' उपनाम से फारसी में कविताएँ लिखता था। उसने शिकायतनामा ग्रन्थ की रचना की। वह विदेशों में भी प्रख्यात हुआ। दिल्ली, गुजरात, ग्वालियर, मक्का, मिस्र, खुरासान आदि के शासकों से उसके मधुर सम्बन्ध रहे। 1470 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।



नोट्स कश्मीरी लोगों ने शाही खाँ को 'बुडशाह' (महान नरेश) की उपाधि से सम्मानित किया। उसकी उदार नीतियों के कारण उसे 'कश्मीर का अकबर' और मूल्य नियंत्रण व्यवस्था के कारण 'कश्मीर का अलाउद्दीन खिलजी' कहा जाता है।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हाजीखाँ 'हैदरशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसका शासन प्रायः एक वर्ष का रहा। वह अयोग्य था और उसने एक बार फिर धार्मिक असहिष्णुता की नीति की पुनरावृत्ति की। हैदरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हसनशाह सिंहासन पर बैठा। उसने सहिष्णुता की नीति अपनायी परन्तु वह अपने सरदारों को अधिकार में न रख सका और कश्मीर-राज्य का पतन आरम्भ हो गया।

1540 ई. में बाबर का रिश्तेदार मिर्जा हैदर दोगलत गद्दी पर बैठा। उसने नाजुकशाह की उपाधि धारण की। 1551 ई. में कश्मीरी अमीरों ने उसे परास्त किया किन्तु अमीरों का पारस्परिक संघर्ष पूर्ववत् चलता रहा। 1555 ई. में चक कबीले ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया जिसका अन्त 1586 ई. में कश्मीर को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित करके अकबर द्वारा किया गया।

दिल्ली-सल्तनत के समय कश्मीर पर किसी भी दिल्ली-सुल्तान ने अधिकार नहीं किया। बाद में मुगल बादशाह अकबर ने उसे दिल्ली राज्य में शामिल किया।

7.2 जौनपुर (Jonpur)

बनारस के उत्तर-पश्चिम में 34 मील दूर जौनपुर नगर को फीरोज तुगलक ने बसाया था। जौनपुर-राज्य का संस्थापक मलिक सरदार, फीरोज तुगलक के पुत्र सुल्तान मुहम्मद का दास था जो अपनी योग्यता से 1389 ई. में वजीर बना। सुल्तान महमूद ने उसे 'मलिक-उस-शर्क' की उपाधि दी। 1394 ई. में उसे दोआब के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया। उसने उस विद्रोह को ही नहीं दबाया अपितु अलीगढ़ से लेकर बिहार में तिरहुत तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। वह एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करता था यद्यपि उसने कभी सुल्तान का

नोट

पद ग्रहण नहीं किया। तैमूर के आक्रमण के अवसर पर उसने दिल्ली सुल्तान को कोई सहायता नहीं भेजी। 1399 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। **उसके पद के कारण उसका वंश शर्की-वंश कहलाया।**

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका गोद लिया हुआ पुत्र मुबारकशाह सिंहासन पर बैठा। उसने सुल्तान की उपाधि धारण की और अपने नाम का खुतबा पढ़वाया। सुल्तान महमूद तुगलक के शक्तिशाली वजीर मल्लू इकबालखाँ ने जौनपुर को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। 1402 ई. में मुबारकशाह की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई इब्राहीम 'शम्सुद्दीन इब्राहीमशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने स्वयं सिराज-ए-हिन्द की उपाधि धारण की। उसके समय में दिल्ली और जौनपुर के सम्बन्धों में कटुता आ गयी। उसके सम्बन्ध महमूद तुगलक से ही नहीं अपितु सैयद-शासक खिज़्रखाँ और मुबारकशाह से भी खराब रहे जिसका मुख्य कारण दोनों राज्यों की विस्तारवादी नीति थी, परन्तु इस संघर्ष का कोई परिणाम न निकला। इब्राहीमशाह ने बंगाल को भी जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि से उसका समय महत्वपूर्ण रहा। उसके समय में जौनपुर उत्तर भारत का एक महान सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। उसके दरबार में अनेक विद्वान आश्रय पाते थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रसिद्ध अटाला मस्जिद जो अब जौनपुर ढंग की शिल्प विद्या के देदीप्यमान नमूने के रूप में खड़ी है, 1408 ई. में इब्राहीम शर्की के काल में पूरी हुई। उसने जौनपुर को एक सुन्दर नगर बनाया तथा उसके समय में स्थापत्य-कला में एक नवीन शैली-जौनपुर अथवा शर्की-शैली का जन्म हुआ। 1440 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना। महमूदशाह ने चुनार के किले को जीता परन्तु कालपी के किले को जीतने में असफल रहा। उसने एक आक्रमण दिल्ली राज्य पर भी किया परन्तु बहलोल लोदी ने उसे परास्त कर दिया। सुल्तान इब्राहीम के समय से चली आ रही दिल्ली तथा जौनपुर राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता उसके समय में तीव्र हो गयी। उसके पुत्र मुहम्मदशाह ने भी बहलोल लोदी से संघर्ष किया परन्तु लाभ नहीं हुआ। मुहम्मदशाह के भाई ने उसका वध कर दिया और वह हुसैनशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। हुसैनशाह के समय में दिल्ली व जौनपुर में जीवन और मृत्यु का संघर्ष चला जिसमें अन्त में हुसैनशाह की पराजय (1479 ई.) हुई। वह पहले बिहार भाग गया और बाद में सिकन्दर लोदी के समय में बंगाल में शरण लेने के लिए बाध्य हुआ।

जौनपुर का राज्य दिल्ली-सल्तनत की दुर्बलता का लाभ उठाकर एक स्वतन्त्र राज्य बना था और प्रायः 75 वर्ष की स्वतन्त्र सत्ता के पश्चात् पुनः दिल्ली सल्तनत का भाग बन गया। शर्की शासन के अन्तर्गत विशेषकर इब्राहीम शाह के समय में जौनपुर में साहित्य एवं स्थापत्य कला के क्षेत्र में हुए विकास के कारण जौनपुर को 'भारत का शिराज' कहा जाता था।

7.3 बंगाल (Bengal)

बंगाल और बिहार को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित करने का श्रेय इख्तियारुद्दीन मुहम्मद-बिन बख्तियार खलजी को था, परन्तु बंगाल दिल्ली से इतनी अधिक दूर था कि वहाँ के शासक प्रायः स्वतन्त्र रहे। बलबन के समय में तुगरिलखाँ ने विद्रोह किया परन्तु उसे दबा दिया गया और बंगाल दिल्ली-सल्तनत के अधीन हो गया। बलबन के पुत्र बुगराखाँ को वहाँ का सूबेदार बनाया गया। परन्तु बलबन की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी कैकुबाद ने अपने पिता बुगराखाँ को बंगाल में प्रायः स्वतन्त्र शासक मान लिया और बुगराखाँ ने सुल्तान नासिरुद्दीन की उपाधि ग्रहण कर ली। परन्तु दिल्ली में खलजी-वंश की स्थापना हो जाने पर उसने 1291 ई. में अपने पुत्र रुकनुद्दीन कैकोस को सिंहासन सौंप दिया। रुकनुद्दीन ने 1301 ई. तक बंगाल और बिहार पर एक स्वतन्त्र शासक की भाँति राज्य किया परन्तु बाद में बिहार के सूबेदार शम्सुद्दीन फीरोजशाह ने उसे गद्दी से हटा दिया और इन सूबों पर अपना आधिपत्य कर लिया। फीरोज ने इस राज्य का विस्तार किया और असम से सिलहट तक के क्षेत्र को जीत लिया। 1322 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके जीवन-काल में ही उसके पुत्र उससे संघर्षरत थे और जब उसकी मृत्यु हो गयी तो उसके पुत्र गियासुद्दीन बहादुरशाह ने नासिरुद्दीन और शिहाबुद्दीन को छोड़कर अपने सभी भाइयों का वध करा दिया। नासिरुद्दीन और शिहाबुद्दीन ने दिल्ली सल्तनत गियासुद्दीन तुगलक से सहायता माँगी। गियासुद्दीन तुगलक ने बंगाल पर

नोट

आक्रमण किया और गियासुद्दीन बहादुरशाह को कैद करके दिल्ली ले गया। उत्तरी बंगाल नासिरुद्दीन को दे दिया गया जिसकी राजधानी लखनौ थी तथा दक्षिण और पूर्वी बंगाल को दिल्ली-साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने गियासुद्दीन बहादुरशाह को अपने शासनकाल के आरम्भ में छोड़ दिया और उसे अपने सूबेदार के साथ पूर्वी बंगाल का शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् उसने विद्रोह किया और सम्पूर्ण बंगाल को दिल्ली-राज्य में शामिल कर लिया गया। कुछ वर्षों तक बंगाल में शान्ति रही परन्तु 1337-38 ई. में वहाँ पुनः विद्रोह हो गया। उस विद्रोह को फखरुद्दीन ने दबाया परन्तु जब उसे मुहम्मद तुगलक से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई तो उसने स्वयं को 'फखरुद्दीन मुबारकशाह' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल पुनः एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। उसके पश्चात् बंगाल दिल्ली-सल्तनत की अधीनता में न आ सका। 1345-46 ई. में शम्सुद्दीन इलियासशाह ने सम्पूर्ण बंगाल को अपने अधिकार में कर लिया। 1375 ई. में शम्सुद्दीन इलियास की मृत्यु के पश्चात् सिकन्दर सुल्तान बना। उसने पाण्डुआ में अदीना मस्जिद का निर्माण करवाया। उसके पश्चात् गियासुद्दीन आजमशाह बंगाल का शासक बना जो अपनी न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध था और प्रसिद्ध फारसी कवि 'हाजिफ शीरजी' एवं अनेक विद्वानों से उसका सम्पर्क था। 1410 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् हिन्दू जमींदार राना गणेश ने 1415 ई. में बंगाल पर अधिकार कर लिया, जिसे फारसी पाण्डुलिपियों में 'केस' नाम से जाना जाता है। उसने दनुजमर्दन की उपाधि धारण की थी। 1418 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। इसी वर्ष उसके पुत्र पाण्डुआ और चटगाँव से 'चण्डी के उपासक महेन्द्रदेव' नामक राजा द्वारा बंगला अक्षरांकित सिक्के चलाये गये।

बंगाल के अमीरों ने 1493 ई. में अलाउद्दीन हुसैनशाह को बंगाल की गद्दी पर बैठाया। चैतन्य महाप्रभु अलाउद्दीन के समकालीन थे। उसने 'सतदीरे' नामक आन्दोलन की शुरुआत की। अहोमो के सहयोग से सुल्तान ने कामता राजा को नष्ट किया। हिन्दू लोग उसे कृष्ण का अवतार मानते थे। उसने 'नृपति तिलक' एवं 'जगत् भूषण' आदि उपाधियाँ धारण कीं। उसके समय में पालधर बसु ने 'श्रीकृष्ण विजय' की रचना की और 'गुणराज खान' की उपाधि धारण की। 1518 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् अलाउद्दीन का पुत्र नसीब खाँ नासिरुद्दीन नुसरतशाह की उपाधि से सिंहासन पर बैठा। उसके समय में बंगला भाषा में अनुवाद करवाया गया। उसने गौड़ में बड़ा सोना एवं 'कदम रसूल मस्जिद' का निर्माण करवाया। 1533 ई. में नुसरत शाह की मृत्यु हो गयी। इस वंश का अन्तिम शासक गियासुद्दीन महमूदशाह को 1538 ई. में शेरशाह ने बंगाल से भगाकर समूचे बंगाल पर अधिकार कर लिया।

इसके बाद शेरशाह सूरी ने बंगाल को दिल्ली साम्राज्य का भाग बनाया और तत्पश्चात् अकबर ने उसे मुगल साम्राज्य का अंग बनाया।

7.4 गुजरात (Gujarat)

अलाउद्दीन खिलजी ने राजा कर्ण (रायकरन) को परास्त करके 1297 ई. में गुजरात को दिल्ली-सल्तनत के अधीन किया। उसके पश्चात् 1401 ई. तक वह दिल्ली-सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) रहा। 1391 ई. में मुहम्मदशाह तुगलक ने जफरखाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। उसने तैमूर के आक्रमण के पश्चात् उत्पन्न हुई दिल्ली-सल्तनत की दुर्बलता का लाभ उठाकर अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया, यहाँ तक कि जब सुल्तान महमूद तुगलक गुजरात में शरण प्राप्त करने के लिए गया तब उसने उसका यथोचित सत्कार भी नहीं किया। जफरखाँ (उसे 'मुजफ्फरखाँ' की उपाधि दी गयी थी) को उसके पुत्र तातारखाँ ने कुछ समय के लिए कारागार में डाल दिया परन्तु शीघ्र ही उसके चाचा शम्सखाँ ने उसे जहर देकर मार दिया और जफरखाँ को मुक्त कर दिया। उसके पश्चात् 1407 ई. में जफरखाँ ने स्वयं को 'सुल्तान मुजफ्फरशाह' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। मुजफ्फरशाह ने मालवा के शासक हुसंगशाह को परास्त करके उसकी राजधानी धार पर अधिकार किया यद्यपि बाद में उसने उसे उसका राज्य वापस कर दिया। 1411 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र तातारखाँ का पुत्र अहमद 'अहमदशाह' के नाम से सुल्तान बना। उसने प्रायः 32 वर्ष शासन किया और गुजरात के अधीनस्थ राजाओं एवं राजपूताना, मालवा और दक्षिण-भारत के पड़ोसी राज्यों से

नोट

निरन्तर संघर्ष किया। वह एक सफल शासक था और उसने नव-स्थापित अहमदाबाद नगर को अपनी राजधानी बनाया। 1443 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। अहमदशाह ने इस्लामी और गुजरात की जैन स्थापत्य कला का समन्वय करके, अनेक भव्य मस्जिदों, खानकाहों, मदरसों आदि का निर्माण कराया। अहमदाबाद में उसके द्वारा बनवायी गयी जामा मस्जिद प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र मुहम्मदशाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। 1451 ई. में मुहम्मदशाह द्वितीय की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् क्रमशः कुतुबुद्दीन अहमदशाह और दाऊदखाँ शासक हुए, परन्तु वे दोनों दुर्बल सिद्ध हुए। कुतुबुद्दीन ने 1451-1458 ई. तक शासन किया परन्तु दाऊदखाँ का शासन केवल कुछ दिनों का ही रहा। उसकी अयोग्यता के कारण उसके सरदारों ने उसे गद्दी से उतारकर 1458 ई. में फतहखाँ को सिंहासन पर बैठा दिया। उसने 'अबुल-फतह महमूद' की उपाधि ग्रहण की, यद्यपि इतिहास में वह महमूद बेगड़ा के नाम से विख्यात हुआ।

महमूद बेगड़ा (1458-1511 ई.) अपने वंश का महानतम शासक माना गया। उसने उन विद्रोही अमीरों का दमन किया जो उसके भाई हसनखाँ को गद्दी पर बैठाने के उत्सुक थे। महमूद ने गुजरात के स्वतन्त्र और विरोधी हिन्दू-राजाओं को परास्त किया, मालवा के विरुद्ध बहमनी-राज्य की सहायता की, सिन्ध के हिन्दू विद्रोहियों को दबाने में अपने नाना जामनन्दा की सहायता की, द्वारिकापुरी पर आक्रमण किया तथा अन्य अनेक युद्ध किये। परन्तु उसकी मुख्य विजय चम्पानेर और गिरनार के दृढ़ किलों की थीं जिसके कारण वह बेगड़ा के नाम से पुकारा जाने लगा। उसने गिरनार पहाड़ियों को तलहटी में मुस्तफाबाद नामक नगर की स्थापना की। उसमें अपने पिता की तरह सैनिक प्रतिभा एवं सैनिक निपुणता नहीं थी। वह अत्यन्त विलासी और कामुक होने के साथ-साथ इतना उदार था कि लोग साधारणतः उसे 'जरबख्श' अर्थात् "स्वर्ण दान करने" वाला कहते थे। अपने मृदुल स्वभाव के कारण उसने करीम की उपाधि अर्जित की। उसने सिद्धपुर के मन्दिरों का विनाश किया। हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया जो गुजरात में पहले कभी नहीं लगा था। कहा जाता है कि वह एक विद्वान भी था। मिस्त्र के प्रसिद्ध विद्वान बद्र-उद-दीन-दमामीनी जिसने अहमदशाह के शासनकाल में गुजरात की यात्रा की, लिखा है कि "वह सुल्तानों में विद्वानों का सुल्तान था।" महमूद बेगड़ा एक योद्धा, विजेता और महान शासक सिद्ध हुआ। उसके समय में गुजरात एक शक्तिशाली, ऐश्वर्यपूर्ण और सम्पन्न राज्य बना। उसके समय में ललित-कलाओं और साहित्य की प्रगति हुई। महमूद का केवल एक दोष था। वह धर्मान्ध था और अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुता का था। महमूद ने मिस्त्र के शासक के जल-बेड़े की सहायता लेकर पुर्तगालियों से युद्ध किया। परन्तु वह सफल न हुआ तथा पुर्तगाली गुजरात के समुद्र-तट पर प्रभावशाली रहे।

महमूद बेगड़ा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र खलीलखाँ 'मुजफ्फरशाह द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठा उसने मेदिनीराय के विरुद्ध मालवा के शासक महमूद खिलजी की सहायता की और उसकी शक्ति को माँड़ू में स्थापित करने में सफलता पायी यद्यपि चन्देरी पर मेदिनीराय का ही अधिकार रहा। उसका मुख्य झगड़ा मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह से रहा जो मेदिनीराय और निकट के राजपूत राजाओं की सहायता कर रहा था, परन्तु उसे राणा संग्रामसिंह के विरुद्ध कोई सफलता न मिल सकी। अप्रैल 1526 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सिकन्दर और महमूद द्वितीय नामक दो अयोग्य शासक हुए परन्तु उन्होंने केवल कुछ माह ही शासन किया। जुलाई 1526 ई. में बहादुरशाह शासक बना। उसने 1531 ई. में मालवा को जीतकर गुजरात में सम्मिलित कर लिया और चित्तौड़ को लूटा। इस प्रकार उसका समय गुजरात की शक्ति की पराकाष्ठा का रहा परन्तु उसका झगड़ा मुगल बादशाह हुमायूँ से हुआ जिसने एक बार मालवा और गुजरात को जीतने में सफलता प्राप्त की। हुमायूँ के वापस लौट जाने पर वह मालवा और गुजरात को पुनः जीत सका परन्तु 1537 ई. में पुर्तगालियों ने उसे धोखे से मार डाला। उसके पश्चात् गुजरात में दुर्बल शासक हुए। अन्त में, 1572 ई. में मुगल बादशाह अकबर ने गुजरात को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. सूहादेव ने में सुहृद राज्य की स्थापना की।

नोट

2. जौनपुर नगर को ने बसाया था।
3. चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे।
4. महमूद बेगड़ा अपने वंश का शासक माना गया।

7.5 मालवा (Malava)

अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा को दिल्ली-सल्तनत का अंग बनाया था। 1390 ई. में फीरोज ने दिवालीखॉ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। तैमूर के आक्रमण के अवसर पर सुल्तान महमूद तुगलक ने पहले गुजरात में और उसके पश्चात् मालवा में शरण ली। उसके वापस जाने के उपरान्त 1401 ई. में दिलावर ने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र शासक बना लिया यद्यपि उसने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की। 1405 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अलपखॉ ने 'हुसंगशाह' की उपाधि ग्रहण की और स्वयं को सुल्तान घोषित किया। उसने हिन्दुओं के प्रति उदारतापूर्ण नीति का अनुसरण किया। वह सूफी सन्त शेख बुहरानुद्दीन का शिष्य था जिसके कारण उसके संरक्षण में अनेक सूफी सन्त मालवा की ओर आकर्षित हुए। गुजरात के शासक मुजफ्फरशाह ने मालवा पर आक्रमण किया और हुसंगशाह को कैद कर लिया, परन्तु मालवा में विद्रोह हो जाने पर उसने हुसंगशाह को ही उस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। हुसंगशाह ने एक बार फिर मालवा पर अधिकार कर लिया और माँडू, को जिसको उसने स्वयं बसाया था, अपनी राजधानी बनाया। हुसंगशाह ने निरन्तर गुजरात के शासक अहमदशाह (जो मुजफ्फरशाह की मृत्यु के पश्चात् सुल्तान बना) से युद्ध किया और गुजरात पर कई आक्रमण किये। अहमदशाह ने भी अवसर पाकर मालवा पर आक्रमण किये परन्तु मालवा और गुजरात के उन युद्धों का कोई विशेष लाभ न निकला। उसका ग्वालियर को जीतने का प्रयत्न सैयद-शासक मुबारकशाह के कारण असफल रहा। उसने कालपी को जीता और उड़ीसा के हिन्दू राज्यों में भी लूटमार की यद्यपि वह उन्हें जीत न सका। इस प्रकार हुसंगशाह ने अपने समय में निरन्तर युद्ध किये। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था परन्तु पड़ोस में शक्तिशाली राज्यों की उपस्थिति के कारण वह राज्य-विस्तार करने में असफल रहा। 1435 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका पुत्र गाजी खॉ 'मुहम्मदशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। वह एक अयोग्य शासक था और एक वर्ष पश्चात् उसके वजीर महमूदखॉ ने उसे हटाकर सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया तथा 'महमूदशाह' की उपाधि ग्रहण की।

महमूदशाह (1436-1469 ई.) ने मालवा में खिलजी-वंश की नींव डाली और वह मालवा के शासकों में योग्यतम शासक सिद्ध हुआ। उसने गुजरात, दिल्ली, बहमनी और मेवाड़ के राज्यों से युद्ध किये। उसने अपने राज्य का विस्तार करने में सफलता प्राप्त की और मिस्र के खलीफा ने उसे सुल्तान स्वीकार कर लिया। मेवाड़ के साथ राणा कुम्भा से हुए युद्धों में दोनों शासकों ने अपनी-अपनी विजय का दावा किया। राणा कुम्भा ने चित्तौड़ में 'विजय स्तम्भ' बनवाया और महमूद खिलजी ने माण्डू में सात मंजिलों वाला स्तम्भ स्थापित किया। उसने व्यापार को बढ़ावा देने के लिए जैन पूँजीपतियों को संरक्षण प्रदान किया। प्रजा के स्वास्थ्य के लिए माण्डू में एक चिकित्सालय की तथा शिक्षा के लिए एक आवासीय महाविद्यालय की भी स्थापना की। महमूदशाह एक उदार, न्यायप्रिय और विद्वान शासक था परन्तु वह धर्मान्ध था और उसने हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी।

1469 ई. में महमूदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र गियासुद्दीन सिंहासन पर बैठा। वह आरामपसन्द शासक था और उसने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ शान्ति की नीति अपनायी। उसने मेवाड़ पर दो बार आक्रमण किये परन्तु दोनों ही बार असफल रहा। उसके समय में गुजरात ने चम्पानेर को जीत लिया और वह कुछ न कर सका। वह धर्मपरायण और धर्मान्ध शासक सिद्ध हुआ। उसके चरित्र के सम्बन्ध में अन्तर्विरोध है। वह बाह्य दृष्टि से तो धार्मिक जीवन व्यतीत करता था किन्तु आन्तरिक दृष्टि से नितान्त इन्द्रिय-लोलुप था।



उदाहरण गियासुद्दीन के महल में 16,000 दासियाँ थीं जिनमें से अनेक हिन्दू सरदारों की पुत्रियाँ थीं। उसने इशोपियाई एवं तुर्की दासियों की एक अंगरक्षक सेना नियुक्त की थी।

नोट

सम्भवतया, 1500 ई. में उसके पुत्र ने उसको जहर देकर मरवा दिया और स्वयं 'नासिरुद्दीनशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। नासिरुद्दीन एक क्रूर शासक था। 1511 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा पुत्र आजम हुमायूँ 'महमूदशाह द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठा। महमूदशाह द्वितीय के समय में हिन्दू और मुसलमान सरदारों में सत्ता के लिए संघर्ष हुआ तथा मेदिनीराय के प्रभाव को नष्ट करने के लिए उसने गुजरात के शासक मुजफ्फरशाह द्वितीय की सहायता ली परन्तु मेदिनीराय ने मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह से सहायता प्राप्त कर उसके प्रयत्न को विफल कर दिया। महमूद की गुजरात के शासक बहादुरशाह से भी शत्रुता थी जिसके कारण बहादुरशाह ने 1531 ई. में मालवा पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। बाद में महमूदशाह मारा गया। उस समय से मालवा गुजरात-राज्य का भाग बना रहा। बादशाह अकबर ने इसे मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित किया।

7.6 मेवाड़ (आधुनिक उदयपुर) [Mewar (Modern Udaypur)]

अलाउद्दीन खिलजी ने मेवाड़ को जीतकर दिल्ली-सल्तनत के अधीन किया। राणा रतनसिंह गुहिलौत राजपूत-वंश का था। उसके पश्चात् उसी वंश की एक शाखा सीसोदिया-वंश के शासक लक्ष्मण सिंह ने अपने सात पुत्रों सहित चित्तौड़ की रक्षा में जान गवाँ दी। उसका केवल एक पुत्र अजयसिंह राजवंश की सुरक्षा के लिए अरावली की पहाड़ियों में जा छिपा। 1314 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े भाई का पुत्र हम्मीरदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ। हम्मीरदेव ने अपने साहस और कौशल से मेवाड़ राज्य की पुनः स्थापना की। हम्मीर ने अलाउद्दीन के समय में मेवाड़ को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु वह सफल न हुआ, परन्तु उसके आक्रमणों के कारण शाहजादा खिज़्रख़ाँ मेवाड़ छोड़ने के लिए बाध्य हुआ और मालदेव को मेवाड़ का सूबेदार नियुक्त किया गया। सम्भवतया, मुहम्मद तुगलक के बाद के समय में हम्मीरदेव ने चित्तौड़ को जीत लिया और एक प्रकार से सम्पूर्ण मेवाड़ स्वतन्त्र हो गया। इतिहासकारों के बहुमत के अनुसार हम्मीर ने 64 वर्ष शासन किया। हम्मीरदेव के पश्चात् उसका पुत्र क्षेत्रसिंह (1378-1405 ई.) मेवाड़ का शासक बना। वह अपने पिता की भाँति ही योग्य था और उसने राज्य का विस्तार किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र लक्खा गद्दी पर बैठा। उसने मारवाड़ के राठौर-राजवंश की पुत्री से विवाह करके अपनी शक्ति को दृढ़ किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मोकल (1420 ई.) गद्दी पर बैठा। उसके समय में उसके मामा रानमल ने मारवाड़ को अपने आधिपत्य में किया और नागौर को जीता। उसने अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, एकलिंग मन्दिर के चारों ओर परकोटे का निर्माण कराया, माना, फन्ना एवं विशाल नामक प्रसिद्ध शिल्पकारों एवं कविराज वानी विलास तथा योगेश्वर नामक दो विद्वानों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। 1433 ई. में मोकल जब गुजरात के शासक के विरुद्ध युद्ध करने गया तो उसका वध कर दिया गया।

इस आन्तरिक फूट के अवसर पर मालवा और गुजरात के शासकों ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। परन्तु रानमल ने मेवाड़ की सहायता की, अपने प्रपौत्र और मोकल के पुत्र **कुम्भकरण (राणा कुम्भा)** को गद्दी पर बैठाया, मालवा और गुजरात के शासकों को वापस जाने के लिए बाध्य किया तथा विद्रोही सरदारों को दबाने में सफलता प्राप्त की। मेवाड़ में रानमल के प्रभुत्व से कुछ राजपूत सरदार ईर्ष्या करने लगे और उन्होंने राणा लक्खा के पुत्र चूँडा (जो बहुत पहले मालवा चला गया था) के साथ मिलकर 1438 ई. में रानमल का वध कर दिया, परिणामस्वरूप मारवाड़ और मेवाड़ की शत्रुता आरम्भ हुई। इस कारण राणा कुम्भा के प्रारम्भिक वर्ष बड़ी कठिनाई में गुजरे, परन्तु राणा कुम्भा यशस्वी राणा सिद्ध हुआ। उसने अधिकांश मारवाड़ को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और अपने प्रमुख शत्रु मालवा-राज्य को भी कई युद्धों में परास्त किया। मालवा के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उसने 1448 ई. में चित्तौड़ में कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण कराया जिसे 'हिन्दू देवशास्त्र का चित्रित कोश' कहा गया है। इसके अतिरिक्त, उसने मेवाड़ में अनेक महल, मन्दिर और किलों का निर्माण कराया। जिसे 'हिन्दू देवशास्त्र का चित्रित कोश' कहा गया है। राणा कुम्भा को अनेक युद्ध करने पड़े। मारवाड़ के राठौरों के अतिरिक्त उसके मुख्य शत्रु मालवा और गुजरात के शासक थे जिन्होंने सम्मिलित होकर उसकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे असफल रहे। मध्य-युग के शासकों में राणा कुम्भा एक महान शासक था। अनेक युद्धों में व्यस्त रहते हुए भी उसने साहित्य, ललित-कलाओं आदि की उन्नति की। वह स्वयं विद्वान था और वेद, स्मृति मीमांसा, उपनिषद्, व्याकरण, राजनीति

नोट

व साहित्य का ज्ञाता था। उसने चार स्थानीय भाषाओं में चार नाटकों की रचना की थी और जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' पर रसिकप्रिया नामक टीका लिखी थी। वह एकलिंग महात्म्य के अन्तिम अध्याय का रचयिता था। उसने सुप्रसिद्ध वास्तुविद् सुत्रधार मण्डन को संरक्षण दिया। उसे संगीत से प्रेम था और उसने उस पर तीन पुस्तकें लिखी थीं। उसके समय में स्थापत्य-कला की विशेष उन्नति हुई।



उदाहरण उसने मेवाड़ के 84 किलों में से 32 किलों को बनवाया, चित्तौड़ के किले को दृढ़ किया तथा कुम्भलगढ़ के नवीन नगर और किले में अनेक शानदार इमारतें बनवायीं।

जब उसके समय की पूर्ण जानकारी उपलब्ध हो जायेगी तब सम्भवतया उसे मध्य-युग के महानतम शासकों में स्थान प्रदान करने में इतिहासकारों को कोई आपत्ति नहीं होगी। परन्तु राज्य के लोभवश उसके पुत्र उदय ने राणा कुम्भा का वध करा दिया (1473 ई.)।

सरदारों के विरोध के कारण उदय अधिक समय तक शासन न कर सका और उसके छोटे भाई रायमल ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। रायमल को मुख्यतया अपने विद्रोही सरदारों, मालवा के शासकों और जंगली जातियों से संघर्ष करना पड़ा। रायमल ने 36 वर्ष (1473-1509 ई.) शासन किया। वह एक सफल शासक रहा, परन्तु उसके अन्तिम समय में उसके पुत्रों में राजसिंहासन के लिए संघर्ष हुआ जिसके कारण वह पागल हो गया और बाद में मर गया। उसके सबसे बड़े पुत्र पृथ्वीराज को जहर देकर मारा गया, दूसरा पुत्र जयमल एक सम्बन्धी से द्वन्द्व-युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ तथा तीसरे पुत्र जयसिंह को सरदारों ने राणा मानने से इंकार कर दिया। तब राणा संग्राम सिंह (राणा साँगा जो अपने भाइयों से लड़कर मालवा चला गया था) को सिंहासन पर बैठाया गया। राणा साँगा (1509-1528 ई.) एक महत्वाकांक्षी और युद्धप्रिय शासक सिद्ध हुआ। उसने पड़ोस के दिल्ली, मालवा और गुजरात के राज्यों से युद्ध किये, अपने राज्य का विस्तार किया तथा राजस्थान के प्रायः सभी राज्यों को अपने अधीन कर लिया अथवा उनका समर्थन प्राप्त कर लिया। वह दिल्ली को जीतने के लिए भी उत्सुक था। उसने 1527 ई. में मुगल बादशाह से खानवा का युद्ध किया जिसमें उसकी पराजय हुई और थोड़े समय के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। उसके उपरान्त मेवाड़ की शक्ति दुर्बल हो गयी और अन्त में जहाँगीर के समय में मेवाड़ ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

7.7 मारवाड़ (आधुनिक जोधपुर) [Marwar (Modern Jodhpur)]

मारवाड़ के राठौर प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे। निकट के मुसलमान और राजपूत शासकों से युद्ध करते हुए अन्त में चुन्द (1394-1421 ई.) ने आधुनिक मारवाड़ राज्य की नींव डाली और आधुनिक जोधपुर को अपनी राजधानी बनाया। चुन्द ने अपनी पुत्री का विवाह मेवाड़ के वृद्ध शासक लक्खा से करके अपने प्रभाव में वृद्धि की। चुन्द का सबसे बड़ा पुत्र रानमल था परन्तु वह अपने पिता की आज्ञा से अपने राज्य को छोड़कर मेवाड़ चला गया। चुन्द के पश्चात् कान्हा और कान्हा के पश्चात् सता मारवाड़ का शासक बना। सता प्रायः अन्धा था। रानमल ने सता को हटाकर मारवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया। रानमल ने राणा कुम्भा की उसके प्रारम्भिक वर्षों में बहुत सहायता की परन्तु मेवाड़ के सरदारों ने उसका वध कर दिया। उस समय से मेवाड़ और मारवाड़ में शत्रुता प्रारम्भ हो गयी। रानमल के पुत्र जोधा को मेवाड़ से संघर्ष करना पड़ा। बाद में मालवा और गुजरात के शासकों से युद्ध करते हुए राणा कुम्भा ने जोधा के साथ समझौता करना उपयुक्त समझा और जोधा ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। उसने जोधपुर के दुर्ग का निर्माण कराया, वहाँ पर एक नगर की स्थापना की और उसे अपनी राजधानी बनाया। जोधा के 17 पुत्र थे। 1488 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उनमें संघर्ष हुआ। उसके जीवित रहते हुए भी उसके पुत्रों ने सातल, बीकानेर, मेड़ता आदि में अपने-अपने अर्थ-स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे। परन्तु अन्त में सरदारों की सम्मति से पहले सातल और उसकी मृत्यु के पश्चात् सुजा मारवाड़ का शासक बना। परन्तु जोधा के पुत्र विका ने बीकानेर में अपने स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली और मेड़ता भी मारवाड़ के अधीन न रहा। मेवाड़ के पतन के पश्चात् मारवाड़ को प्रगति का अवसर प्राप्त हुआ और वह राजपूताना का प्रमुख राज्य बन गया। शेरशाह के समय में मारवाड़ का शक्तिशाली शासक मालदेव था। अकबर के समय में मारवाड़ ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली।

नोट

7.8 खानदेश (दक्षिण-भारत) [Khandesh (South-India)]

खानदेश के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् सूबेदार मलिक राजा फारुकी ने की। ताप्ती नदी की घाटी में स्थित खानदेश राज्य कभी भी बहुत शक्तिशाली राज्य न बन सका। खानदेश की राजधानी बुरहानपुर थी तथा असीरगढ़ का किला एक शक्तिशाली सैनिक अड्डा था। इस वंश के सभी शासकों ने खान की उपाधि धारण की जिसके कारण उसे खानदेश कहा जाने लगा। निकट के बहमनी-राज्य से निरन्तर उसका संघर्ष रहता था और समय-समय पर उसे मालवा और गुजरात के शासकों की सहायता लेनी पड़ती थी। अधिकांश समय खानदेश के शासकों ने गुजरात के शासकों की अधीनता को स्वीकार किया जिनसे उसके विवाह-सम्बन्ध थे। 1601 ई. में मुगल बादशाह अकबर ने उसे मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)**बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–**

5. अलाउद्दीन खिलजी ने को दिल्ली-सल्तनत का अंग बनाया।
 (क) मेवाड़ (ख) मालवा
 (ग) गुजरात (घ) मारवाड़
6. महमूदशाह ने मालवा में वंश की नींव डाली।
 (क) खिलजी (ख) शर्की
 (ग) मुगल (घ) बहमनी
7. राज्य के लोभवश उसके ने राणा कुम्भा का वध कर दिया।
 (क) भाई (ख) मंत्री
 (ग) पुत्र (घ) भतीजा
8. बहमनशाह एक योग्य शासक था, उसने अपनी राजधानी गुलबर्गा का नाम रखा।
 (क) हैदराबाद (ख) निजामाबाद
 (ग) अहमदाबाद (घ) दिल्ली।

7.9 बहमनी-राज्य (दक्षिण-भारत) [Bahamani State (South-India)]

मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया और दौलताबाद पर अधिकार करके हसन नामक एक सरदार को सुल्तान चुना। वह 1347 ई. में 'अबुल हसल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा और उसने बहमनी राज्य की नींव डाली। बहमनशाह ने अपने को ईरान के इस्फन्दियार के बहादुर पुत्र बहमन का वंशज बताया था जबकि फरिश्ता के अनुसार वह आरम्भ में एक ब्राह्मण गंगू का नौकर था जिसने अपने कृपालु मालिक का सम्मान करने की दृष्टि से शासक बनने पर 'बहमनशाह' की उपाधि ग्रहण की थी। परन्तु आधुनिक इतिहासकारों में से अधिकांश फरिश्ता के इस विचार को स्वीकार नहीं करते। बहमनी-राज्य दक्षिण का एक महत्वपूर्ण राज्य बना। दक्षिण-भारत के पर्याप्त बड़े भाग पर प्रायः 200 वर्ष तक उसकी सत्ता रही।

बहमनशाह एक योग्य शासक था और उसने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया तथा उसका नाम अहमदाबाद रखा। उसने न केवल अपने साम्राज्य को दृढ़ किया, बल्कि उसका विस्तार भी किया। उसका राज्य उत्तर में वानगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक और पश्चिम में दौलताबाद से लेकर भोंगिरा तक फैला हुआ था। उसके समय में उसके राज्य के दक्षिण-पूर्व में वारंगल और दक्षिण-पश्चिम में विजयनगर के हिन्दू-राज्यों की स्थापना हुई। उसने वारंगल के शासक कापय नायक को वार्षिक कर देने और कौलास का किला छोड़ देने के लिए बाध्य किया। बहमनशाह एक कुशल शासन-प्रबन्धक भी था। उसने दक्षिण के हिन्दू शासकों को अपने अधीन किया तथा अपने

नोट

अनुयायियों को पद और जागीर प्रदान करने की नयी प्रथा आरम्भ की। उसने हिन्दुओं से जजिया न लेने का आदेश दिया। उसने अपने राज्य को चार सूबों (तफों) में बाँटा। गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर उसकी प्रान्तीय राजधानियाँ थीं। एक सुसंगठित राज्य स्थापित करने के पश्चात् 1358 ई. में बहमनशाह की मृत्यु हुई।

बहमनशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मुहम्मदशाह प्रथम (1358-1375 ई.) गद्दी पर बैठा। मुहम्मदशाह के समय की मुख्य घटना वारंगल और विजयनगर के हिन्दू-राजाओं से युद्ध थी। इस काल में बारूद का प्रयोग पहली बार हुआ जिससे रक्षा संगठन में एक नयी क्रान्ति पैदा हुई। सम्भवतया वारंगल के शासक कापय नायक और विजयनगर के शासक बुक्का ने परस्पर समझौता कर लिया था जिसके अनुसार कापय ने मुहम्मद से कौलास के किले की और बुक्का ने उससे कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के दोआब (रायचूर) की माँग की। मुहम्मद ने उन दोनों से युद्ध किया। वह कापय नायक के विरुद्ध अधिक सफल रहा। उसने गोलकुण्डा का किला उससे छीन लिया। तब से उस किले को दोनों राज्यों की सीमा मान लिया गया। परन्तु विजयनगर-राज्य से हुए समझौते में सम्भवतया यह मान लिया गया कि दोनों राज्य एक-दूसरे के युद्धबन्धियों को कत्ल नहीं करेंगे और एक-दूसरे की निःशस्त्र प्रजा को नहीं मारेंगे। मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन मुजाहिद गद्दी पर बैठा। उसने निरन्तर तीन वर्ष तक विजयनगर-राज्य से युद्ध किया। एक अवसर पर वहाँ से वापस आते हुए उसके चचेरे भाई दाऊदखॉ ने उसका वध कर दिया। (1378 ई.)। परन्तु विद्रोही अमीरों ने एक माह में ही दाऊदखॉ का वध कर दिया और उसके एक भाई को 'मुहम्मद द्वितीय' के नाम से सिंहासन पर बैठाया। आन्तरिक संघर्ष के उस समय में विजयनगर-राज्य ने बहमनी-राज्य के पश्चिमी तट की कुछ सीमाओं पर अधिकार कर लिया, परन्तु मुहम्मद द्वितीय ने विजयनगर से युद्ध नहीं किया। वह शान्तिप्रिय शासक था। वह विद्वान था और उसने विद्वानों को आश्रय दिया। 1397 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् गियासुद्दीन और शम्सुद्दीन शासक हुए, परन्तु इन दोनों ने बहुत थोड़े समय राज्य किया। 1397 ई. में ही ताजुद्दीन फीरोजशाह गद्दी पर बैठा। उसने तीन बार विजयनगर से युद्ध किया। दो युद्धों में उसे आंशिक सफलता मिली परन्तु तीसरे युद्ध में उसकी पराजय हुई। इससे उसका सम्मान कम हो गया जिसके कारण उसके भाई अहमदशाह ने उसे गद्दी से हटा दिया और 1422 ई. में स्वयं सुल्तान बन गया। फीरोजशाह एक विद्वान शासक था। उसने फीरोजशाह नामक एक नवीन शहर बसाया था और चौल एवं दभौल के बन्दरगाहों की उन्नति की थी।

अहमदशाह (1422-1436 ई.) ने वारंगल पर आक्रमण करके उसे जीत लिया, विजयनगर-राज्य में लूटमार की और मालवा पर सफल आक्रमण किया, परन्तु गुजरात के विरुद्ध उसे सफलता न मिली। 1425 ई. में उसने बीदर को अपनी राजधानी बनाया। बहमनी साम्राज्य की इस नवीन राजधानी को मुहम्मदाबाद नाम दिया गया जहाँ उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र ने उसकी कब्र पर एक शानदार मकबरा बनवाया। उसका शासनकाल न्याय व धर्मनिष्ठता के लिए प्रख्यात था जिसके कारण उसे इतिहास में अहमदशाह वली या सन्त अहमद भी कहा जाता है। उसके समय में भारतीय मुसलमान अमीरों और विदेशी मुसलमान अमीरों में झगड़े आरम्भ हुए। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन अहमदशाह (1436-1458 ई.) गद्दी पर बैठा। अलाउद्दीन अहमदशाह ने कोंकण के हिन्दू राज्य को जीता, खानदेश के आक्रमण को विफल किया, संगमेश्वर के हिन्दू राजा की पुत्री से विवाह किया तथा विजयनगर-राज्य से युद्ध किया। उसके समय में महमूद गवाँ (जो बाद में बहमनी-राज्य का विख्यात वजीर हुआ) को राज्य की सेवा में लिया गया। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ ने तीन वर्ष शासन किया। वह बहुत क्रूर शासक था जिसके कारण उसे 'जालिम' पुकारा गया। उसे 'दक्कन का नीरो' भी कहा गया। उसने प्रशासनिक परिषद् की स्थापना की जिसमें राजमाता, महमूद गवाँ सहित चार व्यक्ति थे। हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात् उसका आठ वर्षीय पुत्र निजामशाह शासक बना। उसकी माता ने महमूद गवाँ और ख्वाजा जहाँ तुर्क की सहायता से शासन-कार्य सँभाला और उड़ीसा एवं मालवा के आक्रमणों को विफल किया। 1463 ई. में निजामशाह की मृत्यु हो गयी और उसका भाई मुहम्मदशाह तृतीय गद्दी पर बैठा। इस समय में ख्वाजा जहाँ तुर्क का वध करा दिया गया क्योंकि राजमाता उस पर सन्देह करने लगी थीं। उसके पश्चात् महमूद गवाँ को प्रधानमन्त्री अथवा वजीर बनाया गया तथा उसे 'ख्वाजा जहाँ' की उपाधि प्रदान की गयी। मुहम्मद तृतीय के शासनकाल में रूसी यात्री निकितिन ने बहमनी राज्य की यात्रा की थी। उसने बहमनी साम्राज्य की जनसाधारण की दशा का वर्णन अपने लेख में किया है।

नोट

महमूद गाँवा

महमूद गाँवा मूलतया पर्शिया का निवासी था और व्यापार करने के उद्देश्य से बहमनी-राज्य में आया था। उसने पूरी योग्यता से राज्य की सेवा की। उसके समय में कोंकण के हिन्दू राजा का दमन किया गया, संगमेश्वर के राजा से खलना का किला छीन लिया गया, विजयनगर-राज्य के कुछ भाग को लूटा गया तथा उससे गोआ का बन्दरगाह छीन लिया गया। राजमुन्दरी और कोण्डवीर के किलों को जीतने तथा उड़ीसा पर आक्रमण करके वहाँ से बहुत-सा धन लूटने में भी उसने सफलता पायी। योग्य सेनापति के अतिरिक्त महमूद गाँवा एक योग्य शासन-प्रबन्धक भी था। उसने केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाया और प्रान्तों की संख्या चार से आठ कर दी। उसने बरार को गाविल और माहुर, 'गुलबर्गा' को बीजापुर एवं गुलबर्गा, 'दौलताबाद' को दौलताबाद एवं जुन्नार तथा 'तेलंगाना' को राजमुद्री और वारंगल में विभाजित किया। इसके साथ-साथ उसने प्रत्येक प्रान्त से कुछ प्रदेश लेकर उन्हें केन्द्रीय सरकार की अधीनता में ले लिया और उनको खालसा-भूमि (केन्द्रीय सरकार की भूमि) में परिवर्तित कर दिया जिससे प्रान्तों के मामलों में प्रशासकीय आधार पर हस्तक्षेप किया जाना सरल हो सके। उसने प्रान्तपतियों (तर्फदारों) के सैनिक अधिकारों में भी कमी की। सम्पूर्ण प्रान्त (तर्फ) में केवल एक ही किला प्रान्तपति की अधीनता में दिया गया। बाकी सभी किलों को केन्द्रीय सरकार के अधिकार में लेकर वहाँ पृथक् सेनानायकों की नियुक्ति की गयी। इसी प्रकार जिन जागीरदारों के पास जागीरें रहीं उनको उनकी जागीरों की आय के अनुपात में सेना रखने के लिए बाध्य किया गया और जो ऐसा नहीं कर पाये, उन्हें जितनी उनकी सेना कम होती थी उसके अनुपात में शाही खजाने में धन लौटाने के लिए मजबूर किया गया। उसने जागीर-व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयत्न किया तथा पदाधिकारियों को जागीर के स्थान पर नकद वेतन देना आरम्भ किया। उसने सेना की संख्या में वृद्धि की और सैनिकों को नकद वेतन दिया। उसने सैनिकों के प्रशिक्षण और अनुशासन पर भी ध्यान दिया जिससे बहमनी राज्य की सैनिक-शक्ति में वृद्धि हुई। उसने राज्य की आय में वृद्धि करने के लिए भूमि की नाप (पैमाइश) करके लगान निश्चित करना आरम्भ किया। किसान सिक्के या गल्ला दोनों ही शक्तों में लगान दे सकते थे। परन्तु महमूद गाँवा की शक्ति से भारतीय मुसलमान अमीर ईर्ष्या करने लगे जिसके कारण उन्होंने सुल्तान से जबकि वह शराब के नशे में था, महमूद गाँवा के वध की आज्ञा ले ली और 5 अप्रैल 1481 ई. में उसका वध कर दिया। महमूद गाँवा अपने समय का योग्यतम व्यक्ति था। उसने बीदर में एक विद्यालय की स्थापना की। महमूद गाँवा स्वयं भी विद्वान था और उसने 'रौजत-उल-इन्शा' तथा 'दीवान-ए-अश्र' नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। उसने तीन पीढ़ियों तक बहमनी-राज्य की सेवा की। महमूद गाँवा एक योग्य और परिश्रमी व्यक्ति था। उसका व्यक्तिगत जीवन बहुत सादा और दोषरहित था। कहा जाता है कि वह चटाई पर सोता था और मिट्टी के बर्तनों में भोजन करता था। वह उदार, दयालु, साहसी और न्यायप्रिय था। एक सैनिक, सेनापति और शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से भी उसने अपनी योग्यता को सिद्ध किया। उसके शासन के समय में बहमनी-साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ, लगान-व्यवस्था में सुधार किया गया, राज्य सम्पन्न हुआ और केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली हुई। उसने दक्षिणी और विदेशी मुसलमानों में समझौता बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया और पर्याप्त मात्रा में सफल भी रहा।



नोट्स

महमूद खाँ अपने स्वामी और राज्य के प्रति सर्वदा वफादार रहा। वस्तुतः उसकी योग्यता ही उसके प्रति ईर्ष्या का कारण बनी, परिणामस्वरूप जालसाजी से उसका वध किये जाने की व्यवस्था की गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् बहमनी-साम्राज्य के विघटन का प्रारम्भ हुआ क्योंकि सरदारों के पारस्परिक वैमनस्य और महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगाया जाना सम्भव न हो सका। इस प्रकार महमूद गाँवा का बहमनी-साम्राज्य के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान रहा।

महमूद गावाँ की मृत्यु—1482 ई. में मुहम्मदशाह तृतीय की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना परन्तु अल्पवयस्क होने के कारण शासन-सत्ता हसन निजाम-उल-मुल्क (मलिक नाइब) के हाथों में रही। परन्तु महमूद गाँवा की हत्या ने विदेशी मुसलमानों को काफी असन्तुष्ट कर दिया था और वे सुल्तान

नोट

की आज्ञा मानने के लिए तैयार न थे। भारतीय मुसलमानों में तुर्क, मुगल, ईरानी और अरब सम्मिलित थे। इनमें मुख्य झगड़ा नस्ल अथवा जाति का न होकर शक्ति और धर्म का था। विदेशी मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में बहमनी-राज्य में आये थे और प्रतिष्ठित पद प्राप्त किये हुए थे। दक्षिण-भारतीय मुसलमान उनसे ईर्ष्या करते थे। इसके अतिरिक्त, जबकि दक्षिणी मुसलमान सुन्नी थे, अधिकांश विदेशी मुसलमान शिया थे। इस कारण दरबार में दो दल बन गये थे, जो एक-दूसरे को नष्ट करने पर तुले हुए थे। महमूदशाह (जो अल्पायु था) के समय से कोई भी बहमनी शासक योग्य नहीं हुआ। इस कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा मिला। महमूद गाँवा (जो विदेशी मुसलमान था) इन दो दलों में शक्ति-सन्तुलन बनाये हुए था परन्तु नाइब मलिक (जो दक्षिणी मुसलमान था) के षड्यन्त्र के कारण वह मारा गया। उसके वध के कारण दोनों दलों में खुला झगड़ा आरम्भ हो गया जिसे सुल्तान महमूदशाह समाप्त न कर सका। मलिक नाइब को अपनी जान बचाने के लिए भागना पड़ा परन्तु बीदर के सूबेदार ने उसका वध कर दिया। दक्षिणी मुसलमानों ने महल पर आक्रमण करके सुल्तान को कैद करने का प्रयत्न किया परन्तु वे सफल न हुए और उन्हें बहुत बड़ी संख्या में कत्ल कर दिया गया। उसके पश्चात् महमूदशाह शासन से उदासीन हो गया और उसने अपना शासन एक तुर्की अमीर कासिम बरीद के हाथों में सौंप दिया। परन्तु विभिन्न सूबेदार कासिम बरीद की सत्ता को मानने के लिए तैयार न हुए। सर्वप्रथम मृतक नाइब मलिक के पुत्र निजाम-उल-मुल्क ने राज्य की आज्ञाओं को मानना बन्द किया। उसके पश्चात् 1490 ई. में अहमद ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। बीजापुर के आदिलखाँ और बीदर के इमाद-उल-मुल्क ने राज्य की आज्ञाओं को मानना बन्द किया। इस प्रकार बहमनी-राज्य के शक्तिशाली सूबेदार प्रायः स्वतन्त्र हो गये यद्यपि महमूद के समय में किसी ने भी सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की। उनकी एकता का एकमात्र आधार प्रति वर्ष विजयनगर के शासकों के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) करना था। 1518 ई. में महमूद की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् चार दुर्बल सुल्तान हुए परन्तु वे कासिम बरीद के हाथों में कठपुतली बने रहे। उसका नाममात्र का अन्तिम शासक खलीमुल्ला हुआ जिसकी मृत्यु 1538 ई. में हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् नाममात्र का बहमनी-राज्य भी नष्ट हो गया और उसका स्थान पाँच स्वतन्त्र राज्यों ने ले लिया। बहमनी-राज्य के खण्डों से बीजापुर के आदिलशाही राज्य, गोलकुण्डा के कुतुबशाही राज्य, अहमदनगर के निजामशाही राज्य, बीदर के बरीदशाही राज्य और बरार के इमादशाही राज्य की स्थापना हुई। इस प्रकार बहमनी साम्राज्य में कुल 18 शासक हुए जिन्होंने 175 वर्ष तक शासन किया।

दक्षिण-भारत के इन पाँच मुसलमान राज्यों में परस्पर संघर्ष रहा, परन्तु इनका मुख्य शत्रु विजयनगर-राज्य रहा। 1574 ई. में बरार राज्य को अहमदनगर ने जीत लिया और 1618-19 ई. में बीदर राज्य को बीजापुर ने जीत लिया। मुगल बादशाह अकबर ने अहमदनगर के कुछ भाग पर अधिकार किया और शाहजहाँ के समय में इस राज्य का अस्तित्व नष्ट हो गया। बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मुगल बादशाह औरंगजेब ने नष्ट किया।

बहमनी-राज्य के पतन के कारण

प्रायः 200 वर्ष तक दक्षिण-भारत में बहमनी-राज्य का अस्तित्व रहा, उसका मुख्य योगदान दक्षिण में इस्लाम की संस्कृति का प्रसार रहा। उसके विघटन के पश्चात् भी उसके खण्डों से बने हुए राज्यों ने एक लम्बे समय तक दक्षिण-भारत की राजनीति, सभ्यता और संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मुगल बादशाह औरंगजेब के शासनकाल में ही इसके अन्तिम अवशेषों को समाप्त किया जाना सम्भव हुआ। विभिन्न निम्नलिखित परिस्थितियों ने बहमनी-राज्य के पतन में भाग लिया—

1. **विदेशी और भारतीय मुसलमान अमीरों का पारस्परिक द्वेष और संघर्ष**—मुहम्मद तुगलक ने अपने शासनकाल में दक्षिण-भारत के अपने साम्राज्य को संगठित करने के लिए ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति की थी जिनमें से प्रत्येक प्रायः सौ ग्रामों के समूह पर शासन करता था। उन्हें 'अमीरात-ए-सदह' या 'सादी' पुकारा गया। वे न केवल अपने प्रदेश से राजस्व ही वसूल करते थे, अपितु स्थानीय सैनिक टुकड़ियों के प्रधान भी थे। राजस्व और सैनिक अधिकारों के एक ही व्यक्ति के हाथों में होने के कारण वे शासन में बहुत प्रभावशाली थे। उनमें एक बड़ी संख्या में विदेशी मुसलमान थे। उन्होंने ही विद्रोह करके बहमनी-राज्य

नोट

के स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्माण किया। परन्तु भारतीय मुसलमान और अमीर भी शासन के साथ एक बड़ी संख्या में सम्मिलित किये गये थे। विदेशी अमीरों में तुर्क, अफगान, अरब, अबीसीनियन आदि की प्रधानता थी। वे धर्म और जातीयता के आधार पर एक नहीं थे परन्तु भारतीय मुसलमानों से, निस्सन्देह, अपने को पृथक् मानते थे। इस कारण बहमनी-राज्य में दो प्रतिद्वन्द्वी दलों का निर्माण आरम्भ से ही हो गया था—विदेशी अमीर और भारतीय अमीर। इन दोनों दलों में शक्ति के लिए सर्वदा संघर्ष रहा। महमूद गाँवा विदेशी मुसलमान था और जब जालसाजी से उसे सुल्तान द्वारा मरवा दिया गया तब से इन दोनों दलों का संघर्ष खुलकर सामने आ गया जिसे बाद में दुर्बल बहमनी-शासक रोक नहीं सके जिसके परिणामस्वरूप बहमनी-राज्य पाँच राज्यों में विभाजित हो गया।

2. **बाद के बहमनी-शासकों की अयोग्यता**—मध्य युग में शासक की योग्यता और अयोग्यता के अनुरूप ही राज्य के भाग्य का निर्णय होता था। 1458 ई. में अलाउद्दीन अहमदशाह की मृत्यु के पश्चात् कोई भी बहमनी-शासक योग्य न हुआ। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ शासक हुआ। वह बहुत क्रूर शासक था जिसके कारण उसे जालिम पुकारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका आठ वर्षीय पुत्र निजामशाह सिंहासन पर बैठा। उसने अपनी माता की देखरेख में शासन किया। हुमायूँ का शासनकाल तीन वर्ष का और निजामशाह का समय केवल दो वर्ष का रहा। इनके समय से ही राज्य-शासन में अव्यवस्था का आरम्भ हुआ। 1463 ई. में निजामशाह का भाई मुहम्मदशाह तृतीय शासक बना। वह स्वयं योग्य सिद्ध नहीं हुआ परन्तु उसके समय में महमूद गाँवा को वजीर का पद दिया गया। महमूद गाँवा ने बहमनी-राज्य के शासन की उचित व्यवस्था की परन्तु वह भारतीय मुसलमानों की ईर्ष्या का पात्र बन गया जिन्होंने शराब के नशे में चूर मुहम्मदशाह से महमूद गाँवा के लिए मृत्यु-दण्ड की आज्ञा ले ली। 1481 ई. में इस प्रकार जालसाजी से महमूद गाँवा मारा गया। 1482 ई. में सुल्तान मुहम्मदशाह तृतीय की भी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका अल्पवयस्क पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना। उसके समय में विदेशी और भारतीय मुसलमान अमीरों में खुला संघर्ष आरम्भ हो गया जिसे महमूदशाह रोक न सका। उसके पश्चात् भी कोई भी बहमनी-शासक योग्य न हुआ और प्रान्तीय तर्फदारों ने सुल्तान की आज्ञा मानना बन्द कर दिया। 1538 ई. में बहमनी-राज्य के नाममात्र के अन्तिम शासक खलीमुल्ला की भी मृत्यु हो गयी और उसकी मृत्यु के पश्चात् बहमनी-राज्य पाँच स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया।
3. **बहमनी-शासकों की हिन्दू-विरोधी नीति**—बहमनी-शासकों की नीति अधिकांशतया हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की रही जिसके कारण उनकी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा उनसे असन्तुष्ट रही और उनके व उनके राज्य के प्रति वफादारी न रही जो राज्य की दुर्बलता का एक कारण बना।
4. **पड़ोस के हिन्दू-राज्यों, मुख्यतया विजयनगर-राज्य से निरन्तर संघर्ष**—बहमनी राज्य का पड़ोस के हिन्दू-राज्यों, जैसे उड़ीसा, वारंगल, काँची और विजयनगर-राज्य से संघर्ष हुआ। विजयनगर-राज्य से उसका संघर्ष तो निरन्तर ही रहा। जिससे बहमनी-राज्य की सैनिक-शक्ति और शासन-व्यवस्था पर निश्चय ही बुरा प्रभाव पड़ा। विजयनगर-राज्य भी एक सम्पन्न और शक्तिशाली राज्य था। उससे निरन्तर संघर्ष करते रहना निश्चय ही बहमनी-राज्य के लिए प्रत्येक प्रकार से हानिकारक सिद्ध हुआ और वह उसकी दुर्बलता और पतन का एक कारण बना।
5. **प्रान्तीय तर्फदारों की महत्वाकांक्षाएँ**—बहमनी-राज्य में तर्फदारों को विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये थे। सुल्तानों की अयोग्यता के कारण तर्फदारों की महत्वाकांक्षाएँ बलवती हो गयीं। महमूदशाह के समय से ही उन्होंने सुल्तान की आज्ञाओं को मानने से इंकार करना आरम्भ कर दिया जिसके कारण महमूदशाह ने शासन से उदासीन होकर एक तुर्की अमीर कासिम बरीद को शासन के अधिकार सौंप दिये। तर्फदारों ने कासिम बरीद की आज्ञाओं को मानने से इंकार कर दिया और वस्तुतः उसी समय से बहमनी-राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। यद्यपि नाममात्र के लिए बहमनी-राज्य कुछ समय और चला।

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न कारणों और परिस्थितिवश बहमनी-राज्य का पतन हुआ।

नोट

बहमनी राज्य का शासन

बहमनी-शासकों ने नाममात्र के लिए अब्बासी खलीफाओं को अपना प्रधान माना जबकि वस्तुतः वे स्वतन्त्र शासक थे और उसी के अनुरूप उनका व्यवहार रहा। बहमनशाह को अपनी सैनिक-व्यस्तता के कारण शासन की ओर ध्यान देने का विशेष समय नहीं मिला। मुहम्मद तुगलक ने जिन चार प्रान्तों में अपने दक्षिण के राज्य को विभाजित कर रखा था, उसने उन प्रान्तों में अपने अधिकारी नियुक्त कर दिये। मुहम्मदशाह प्रथम ने अपने राज्य को चार 'अतरफों' (प्रान्त) में बाँटा जिनके शासन के केन्द्र-स्थान दौलताबाद, बरार, बीदर और गुलबर्गा (जिसमें बीजापुर भी सम्मिलित था) थे। उनमें से प्रत्येक 'अतरफ' में एक प्रान्तीय सूबेदार की नियुक्ति की गयी जिसे 'तर्फदार' पुकारते थे और जिसे अपने प्रान्त के सम्बन्ध में विस्तृत सैनिक और प्रशासकीय अधिकार दिये गये। तर्फदार अपने प्रान्त में लगान वसूल करता था, सेना का संगठन करता था और अपने प्रान्त के सभी सैनिक और असैनिक अधिकारियों की नियुक्ति करता था। कभी-कभी उनमें से किसी को भी मन्त्री-पद पर कार्य करने के लिए भी नियुक्त कर दिया जाता था। राज्य के विस्तृत हो जाने पर महमूद गवाँ के मन्त्रित्व-काल में प्रान्तों की संख्या चार से बढ़ाकर आठ कर दी गयी। महमूद गवाँ ने प्रान्तीय 'तर्फदारों' की शक्ति पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से प्रत्येक प्रान्त में कुछ भूमि-सुल्तान की भूमि निश्चित कर दी जिसका प्रशासन केन्द्रीय सरकार के हाथों में दे दिया गया। प्रान्त या 'अतरफ' को शासन की सुविधा की दृष्टि से सरकारों में बाँटा गया था और 'सरकार' का विभाजन 'परगनों' में किया गया था। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी।

शासन का प्रधान सुल्तान था जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक होता था। कानूनी तौर पर उसके अधिकारों की कोई सीमा नहीं थी और उनमें से कई ने अपने आप को 'ईश्वर का पृथ्वी पर प्रतिनिधि' भी पुकारा। परन्तु व्यवहार में उसकी शक्तियाँ मन्त्रियों एवं प्रभावशाली सरदारों के अधिकारों और सम्मति से सीमित होती थीं।

सुल्तान की सहायता के लिए मन्त्री होते थे। प्रधान-मन्त्री को 'वकील-उस-सल्तनत' पुकारते थे। वित्त-मन्त्री 'अमीर-ए-जुमला' और विदेश-मन्त्री 'वजीर-ए-अशरफ' कहलाता था। 'वजीर-ए-कुल' और पेशवा नामक दो मन्त्री और भी होते थे परन्तु उनका उत्तरदायित्व निश्चित न था। कभी-कभी प्रान्तीय 'तर्फदारों' की नियुक्ति भी मन्त्री पद पर कर दी जाती थी। सुल्तान के पश्चात् राज्य के मुख्य न्यायाधीश को सद्र-ए-जाहर पुकारते थे। वह धार्मिक कार्यों और राज्य के द्वारा दिये जाने वाले दान की भी व्यवस्था करता था।

पड़ोसी राज्यों से निरन्तर संघर्षरत रहने के कारण बहमनी-शासकों के लिए एक बड़ी सेना रखना एक अनिवार्य आवश्यकता थी। राज्य के सेनापति को अमीर-उल-उमरा पुकारा जाता था। सुल्तान अपने अंगरक्षक रखता था जिन्हें 'खास-खेल' के नाम से पुकारते थे। घुड़सवार, हाथी और पैदलों के अतिरिक्त बहमनी-राज्य ने तोपखाने का निर्माण भी किया था। शिहाबुद्दीन अहमद प्रथम ने अपने समय में 'मनसबदारी-प्रथा' का आरम्भ किया, जिसके अन्तर्गत सैनिक अधिकारियों को उनके 'मनसब' के अनुसार जागिरें दी गयीं जिनसे वे अपनी सेनाओं का व्यय निकालते थे। असैनिक अधिकारियों के वेतन को निश्चित करने के लिए उन्हें भी 'मनसब' दिये गये। जागीरदारों को अपनी आय-व्यय का ब्यौरा केन्द्रीय सरकार को देना होता था। किलों के अधिकारी 'किलेदार' भी प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी थे।

सुल्तान, सरदार और मनसबदार बहुत शान-शौकत से रहते थे जिससे पता लगता है कि बहमनी-राज्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। परन्तु साधारण व्यक्तियों की स्थिति के बारे में कुछ विशेष पता नहीं लगता। सम्भवतया, अन्य भारतीय जनसाधारण की तरह वहाँ के व्यक्ति भी सामान्य जीवन व्यतीत करते थे।

बहमनी-राज्य ने दक्षिण-भारत में मुस्लिम संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया। उत्तर-भारत और विदेशों से बहुत बड़ी संख्या में इस्लाम के समर्थक बहमनी-राज्य में गये। विभिन्न शासकों ने मुसलमान विद्वानों और धर्म-प्रचारकों को संरक्षण प्रदान किया। बहमनी सुल्तानों और बाद में उसके खण्डों से बने अन्य मुसलमान राज्यों ने विभिन्न विद्वानों और कलाकारों को संरक्षण दिया, मदरसे खोले, इमारतें बनवायीं और इस प्रकार मुस्लिम संस्कृति के विकास में भाग लिया। दक्षिण के पड़ोसी हिन्दू राज्यों से संघर्ष ने भी बहमनी-शासकों को राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस्लाम का नेतृत्व करने के लिए बाध्य किया।

नोट

इस प्रकार बहमनी-राज्य ने एक लम्बे समय तक दक्षिण-भारत की राजनीति और संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. महमूद गाँवा मूलतया पर्शिया का निवासी था।
10. बहमनी शासकों की नीति अधिकांशतया हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की रही।
11. शासन का प्रधान सुल्तान था जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक होता था।
12. हरिहर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हरिहर द्वितीय विजयनगर के सिंहासन पर बैठा।

7.10 विजयनगर-राज्य (दक्षिण-भारत) [Vijaynagar State (South-India)]

राजनीतिक इतिहास

भारत के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर विजयनगर-राज्य (जिसका वर्तमान नाम हम्पी है) की स्थापना करने का श्रेय हरीहर और बुक्का नामक दो भाइयों को था। वे कम्पिली राज्य में मन्त्री थे। मुहम्मद तुगलक ने जब कम्पिली को विजय किया तब हरीहर और बुक्का को पकड़कर दिल्ली ले जाया गया और उन्हें मुसलमान बना दिया गया। कम्पिली में ब्रिदोह होने के अवसर पर मुहम्मद तुगलक ने उन्हें वहाँ दिल्ली की सत्ता को स्थापित करने के लिए भेजा। वे उस कार्य में सफल नहीं हुए और अन्त में एक सन्त विद्यारण्य के प्रभाव में आकर वे मुसलमान से पुनः हिन्दू बनने के लिए तैयार हो गये। कापय नायक और वीर बल्लाल तृतीय की मुसलमानों के विरुद्ध सफलता को देखकर उन्होंने भी हिन्दू-आन्दोलन का नेतृत्व करने का निश्चय किया। विद्यारण्य ने अपने गुरु और श्रृंगेरी के मठाधीश विद्यातीर्थ को उन्हें हिन्दू बनाने के लिए राजी कर लिया और वे हिन्दू हो गये। 1336 ई. में हरीहर ने हम्पी हस्तिनावती राज्य की नींव डाली। उसी वर्ष तुंगभद्रा के दक्षिणी तट पर स्थित अनेगोण्डी के सामने उसने विजयनगर का नवीन नगर बसाया। यही राज्य बाद में विशाल विजयनगर-राज्य बना और विजयनगर (विद्यानगर) उसकी राजधानी बना।

हरीहर प्रथम (1336-1356 ई.) इस राज्य का प्रथम शासक हुआ। उसकी पहली राजधानी अनेगोण्डी थी। सात वर्ष के पश्चात् उसने विजयनगर को अपनी राजधानी बनाया। पड़ोस के वारंगल राज्य का संस्थापक कापय नायक, उसका मित्र प्रोलय वेम और वीर बल्लाल तृतीय उसके विरुद्ध थे तथा देवगिरि का सूबेदार कुतलुगखाँ भी उसके राज्य की स्थापना को पसन्द नहीं करता था, परन्तु हरीहर एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने बादामी, उदयगिरि और गूटी के दुर्गों को दृढ़ किया, कृषि की उन्नति का प्रयत्न किया तथा एक व्यवस्थित शासन स्थापित किया उसके राज्य के निकट बल्लाल तृतीय का राज्य था परन्तु बल्लाल मदुरा को जीतने के प्रयत्न में लगा हुआ था जिसके कारण हरीहर ने उसकी पूर्वी सीमाओं के क्षेत्रों को जीत लिया। 1342 ई. में वीर बल्लाल को मदुरा के सुल्तान ने धोखे से मार दिया और उसका पुत्र विरुपाक्ष अथवा बल्लाल चतुर्थ अयोग्य निकला जिसके कारण हरीहर ने होयसल-राज्य को अपने राज्य में मिलाने में सफलता प्राप्त की। उसके पश्चात् उसने कदम्ब-राज्य को जीता और मदुरा के सुल्तान को परास्त किया। इस प्रकार हरीहर ने एक सुदृढ़ और विस्तृत राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। उसने अपने राज्य में एक श्रेष्ठ शासन स्थापित किया जो अन्त तक विजयनगर-राज्य के शासन का आधार बना रहा। हरीहर के पिता का नाम संगम था। इस कारण उसका राजवंश संगम-राजवंश कहलाया। 1356 ई. में हरीहर की मृत्यु हुई। हरीहर की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई बुक्का सिंहासन पर बैठा। बुक्का ने अपने राज्य के सरदारों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया, शासन का केन्द्रीयकरण किया और तमिलनाडु राज्य को विजयनगर-राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसने वारंगल के राजा से एक समझौता करके बहमनी-शासक मुहम्मदशाह प्रथम पर दबाव डाला और उससे कृष्णा तुंगभद्रा के दोआब की माँग की। उस समय से बहमनी और विजयनगर राज्यों का संघर्ष आरम्भ हुआ। वास्तव में

नोट

दोनों राज्य दक्षिण-भारत में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते थे। इस कारण उनमें संघर्ष स्वाभाविक था। बुक्का के समय में कृष्णा नदी को बहमनी और विजयनगर-राज्य की सीमा मान लिया गया। बुक्का की एक महान विजय मदुरा के मुसलमानी राज्य की थी जिसके कारण उसका राज्य सुदूर-दक्षिण में रामेश्वरम् तक फैल गया। इस प्रकार बुक्का ने हरीहर से प्राप्त राज्य को और अधिक विस्तृत किया। वह एक योग्य शासक था। धार्मिक दृष्टि से उसने हिन्दू धर्म की सुरक्षा का दावा किया और 'वेद-मार्ग-प्रतिष्ठापक' की उपाधि ग्रहण की। (हरीहर और बुक्का ने राजा अथवा महाराजा की उपाधि ग्रहण नहीं की) परन्तु उसने जैन, बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमान आदि सभी को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की जो अन्त तक विजयनगर-राज्य की नीति बनी रही। उसने वेद और अन्य धार्मिक ग्रन्थों की नवीन टीकाएँ लिखवाई तथा तेलुगू साहित्य को प्रोत्साहन दिया। 1377 ई. में बुक्का की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हरीहर द्वितीय (1377-1407 ई.) सिंहासन पर बैठा। हरीहर द्वितीय ने महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की। उसने कनारा, मैसूर, त्रिचनापल्ली, काँची आदि प्रदेशों को जीता और श्रीलंका के राजा से राजस्व वसूल किया। बहमनी-राज्य से उसका संघर्ष हुआ। 1377 ई. में सुल्तान मुजाहिद ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। परन्तु मुजाहिद को सफलता नहीं मिली और वापस जाते हुए मार्ग में उसका वध कर दिया गया। उसकी मृत्यु से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाकर हरीहर ने कोंकण और उत्तरी कर्नाटक पर आक्रमण किया। उसने गोआ को भी जीत लिया। बहमनी सुल्तान मुहम्मदशाह द्वितीय और तदुपरान्त सुल्तान फीरोजशाह ने विजयनगर से रायचूर-दोआब को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु सफलता न मिली। इस प्रकार हरीहर ने अपने उत्तराधिकारी के लिए एक बड़ा साम्राज्य छोड़ा। वह एक महान योद्धा और सफल शासक सिद्ध हुआ। 1404 ई. में हरीहर द्वितीय की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में संघर्ष हुआ तथा विरुपाक्ष प्रथम और बुक्का द्वितीय ने क्रमशः सिंहासन को प्राप्त किया परन्तु अन्त में 1406 ई. में देवराय प्रथम शासक बना। देवराय प्रथम के समय में बहमनी-शासक फीरोजशाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया परन्तु कोई विशेष लाभ प्राप्त न कर सका। देवराय ने अपनी घुड़सवार-सेना को शक्तिशाली बनाया और तुर्की धनुर्धरों को अपनी सेना में भर्ती किया। उसके अन्तिम दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत हुए और विजयनगर दक्षिण-भारत में विद्या का केन्द्र बन गया। उसने अनेक कल्याणकारी योजनाएँ प्रारम्भ कीं। 1410 ई. में उसने तुंगभद्रा पर बाँध बनवाकर अपनी राजधानी विजयनगर तक नहरें निकलवायीं। इससे राजधानी में जल का अभाव समाप्त हो गया। उसके शासनकाल में इतालवी यात्री निकोली कोण्टी ने विजयनगर की यात्रा की, जिसने नगर और उसके नरेश तथा विजयनगर में मनाये जाने वाली दीपावली, नवरात्र आदि जैसे उत्सवों का वर्णन किया है। देवराय ने अनेक विद्वानों को भी संरक्षण दिया। हरविलास और अन्य ग्रन्थों के रचनाकार प्रसिद्ध तेलुगू कवि श्रीनाथ उसके दरबार में सुशोभित थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1422 ई. में उसका पुत्र रामचन्द्र सिंहासन पर बैठा परन्तु उसने केवल कुछ माह ही शासन किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई विजय गद्दी पर बैठा। उसने 1422-1430 ई. तक शासन किया परन्तु उसके समय में शासन का उत्तरदायित्व उसके पुत्र देवराय पर था जो अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त शासक बना। देवराय द्वितीय ने 1446 ई. तक राज्य किया। उसके समय में भी बहमनी-राज्य से दो बार कठिन संघर्ष हुआ परन्तु उसका कोई लाभ न निकला, परन्तु उसने आन्ध्र और उड़ीसा के शासकों को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। उसने भी तुर्की धनुर्धरों को अपनी सेना में भर्ती किया। उसी के समय में इटली का एक यात्री निकोली कोण्टी तथा ईरान का राजदूत, अब्दुर्रज्जाक विजयनगर आये जिन्होंने उस राज्य के वैभव और ऐश्वर्य के बारे में बहुत कुछ लिखा। देवराज द्वितीय के पश्चात् उसका भाई विजय (1446-1447 ई.) शासक बना परन्तु उसने शीघ्र ही अपने भतीजे और देवराज द्वितीय के पुत्र मल्लिकार्जुन (1446-1465 ई.) के पक्ष में सिंहासन छोड़ दिया। उसके समय में उड़ीसा और बहमनी राज्यों ने विजयनगर पर आक्रमण किया। यद्यपि मल्लिकार्जुन ने साहसपूर्वक उसका मुकाबला किया परन्तु उड़ीसा ने उसके कोण्डवीर और उदयगिरि नामक दो महत्वपूर्ण किले छीनने में सफलता प्राप्त की। सम्भवतया, 1465 ई. में उसके चचेरे भाई विरुपाक्ष ने उसका और राजवंश के अन्य अनेक व्यक्तियों का वध करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। विरुपाक्ष द्वितीय ने अनैतिक तरीके से सिंहासन पर अधिकार किया था इस कारण प्रान्तीय सरदारों ने उसके आधिपत्य को मानने से इंकार कर दिया और विजयनगर-राज्य दुर्बल हो गया। उस समय बहमनी-राज्य ने विजयनगर से गोआ, कोंकण और उत्तरी कर्नाटक छीन लिये। उड़ीसा के शासक ने भी उसके राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। इन

नोट

परिस्थितियों में चन्द्रगिरि के सरदार नरसिंह सालुव ने राज्य की रक्षा की। विरुपाक्ष द्वितीय की अयोग्यता उसके वंश के पतन का कारण बनी। 1485 ई. में उसके पुत्र ने उसका वध कर दिया परन्तु सिंहासन उसने अपने छोटे भाई प्रोधा देवराय को दिया। परन्तु शीघ्र ही नरसिंह सालुव ने उसे हटाकर 1485 ई. में सिंहासन पर अधिकार कर लिया और सालुव-वंश के राज्य की नींव डाली।

नरसिंह सालुव अपने वंश का एकमात्र शासक हुआ। यद्यपि वह रायचूर-दोआब को बहमनी-राज्य से और विजयगिरि को उड़ीसा-राज्य से न छीन सका परन्तु उसने प्रान्तीय सूबेदारों को अपने अधीन करके राज्य को खण्डित होने से बचा लिया। 1490 ई. में उसकी मृत्यु के अवसर पर उसके दोनों पुत्र अल्पायु थे। इस कारण उसने नरस नायक को उनका संरक्षक नियुक्त किया। नरस नायक ने उसके बड़े पुत्र तिममा को सिंहासन पर बैठा दिया परन्तु शासन-सत्ता का उपभोग स्वयं करता रहा। 1503 ई. में नरस नायक की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र नरसिंह ने तिममा को मरवा दिया और 1505 ई. में स्वयं सिंहासन पर अधिकार करके तुलुव-राजवंश की नींव डाली।

वीर नरसिंह तुलुव ने 1509 ई. तक शासन किया। यद्यपि उसका शासनकाल कम रहा परन्तु फिर भी उसने सेना को सुसंगठित किया, अपने नागरिकों को युद्धप्रिय बनाया, पुर्तगाली गवर्नर आल्मीडिया से उसके द्वारा लाये गये सभी घोड़ों को खरीदने के लिए एक समझौता किया, विवाह-कर को हटाकर एक उदार नीति का आरम्भ किया और सफलतापूर्वक बहमनी-राज्य के आक्रमणों का मुकाबला किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई **कृष्णदेवराय (1509-1529 ई.) सिंहासन पर बैठा। उसके समय में विजयनगर राज्य ऐश्वर्य और शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया।** उस समय तक बहमनी-राज्य पाँच राज्यों में विभाजित हो गया था, परन्तु वे सभी मुसलमान शासक विजयनगर के शत्रु थे। इस कारण उसका मुख्य संघर्ष उन राज्यों से हुआ। वह एक महान योद्धा और सेनानायक था। उसके सिंहासन पर बैठते ही बहमनी शासक महमूदशाह (बहमनी-वंश का वंशज जिसका राज्य छोटा हो गया था परन्तु फिर भी बहमनी-सुल्तान माना जाता था) ने विजयनगर के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) घोषित किया और विजयनगर पर आक्रमण किया। कृष्णदेवराय ने उस सेना को परास्त किया और उसका पीछा किया। बीजापुर का शासक युसुफ आदिलखाँ इस युद्ध में मारा गया, रायचूर के किले तथा कृष्णा-तुंगभद्रा दोआब पर विजयनगर का अधिकार हो गया और बीदर के किले को भी जीत लिया गया यद्यपि महमूदशाह को पुनः बहमनी शासक बनाकर कृष्णदेवराय वापस आ गया। कृष्णदेवराय का बीदर में महमूदशाह को सुल्तान बनाने का मन्तव्य मुसलमानी राज्यों को विभाजित करना था। उसके पश्चात् कृष्णदेवराय ने वारंगल पर अधिकार किया और उड़ीसा के राजा से उदयगिरि और कोण्डवीर के किलों को जीत लिया। उसने गोलकुण्डा की आक्रमणकारी सेना को परास्त किया और बीजापुर की आक्रमणकारी सेना को उसने परास्त ही नहीं किया बल्कि उसका पीछा करके उसकी राजधानी गुलबर्गा पर अधिकार कर लिया यद्यपि मुहम्मदशाह द्वितीय के सबसे बड़े पुत्र को सिंहासन देकर वह वापस आ गया। इस प्रकार उसने अपने सभी शत्रुओं को परास्त किया। उसने उनके द्वारा छीनी गयी विजयनगर की भूमि और किलों को पुनः जीता तथा साम्राज्य का विस्तार किया। कृष्णदेवराय ने जिस युद्ध में भाग लिया उसे उसने विजय किया। उसने नागल्लपुर नाम का एक नवीन नगर बसाया, राज्य में अनेक 'मण्डप' और 'गोपुरम' बनवाये तथा विजयनगर को सुन्दर बनाया। उसके समय में ललित-कलाओं तथा साहित्य-मुख्यतया तेलुगू साहित्य-की प्रगति हुई। वह कलाकारों और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था। उसके समय में विजयनगर शान्ति, शक्ति और समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गया।



क्या आप जानते हैं बाबर ने भी अपनी 'आत्मकथा' में कृष्णदेवराय को भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक बताया।

उसके पुर्तगालियों से अच्छे सम्बन्ध थे, जिसका मुख्य कारण था-पुर्तगालियों का बीजापुर से शत्रुता तथा घोड़ों की आपूर्ति। वह एक महान प्रशासक भी था। उसने अपने प्रसिद्ध तेलुगू ग्रन्थ आयुक्तमाल्यद में अपनी प्रशासकीय नीति का विवेचन किया है। वह एक महान प्रशासक के साथ-साथ महान विद्वान, विद्या-प्रेमी और विद्वानों का उदार

नोट

संरक्षक भी था, जिसके कारण वे अभिनव भोज के रूप में प्रसिद्ध हैं। उसका शासनकाल तेलुगू साहित्य का क्लासिकी युग माना जाता है। उसके दरबार को तेलुगू के आठ महान विद्वान एवं कवि (जिन्हें अष्टदिग्गज कहा जाता था) सुशोभित करते थे। अतः उसे आन्ध्रभोज भी कहा जाता था। उसने अपनी राजधानी विजयनगर के निकट नागल्लपुर नामक नगर की स्थापना की, अनेक मन्दिरों, मण्डपों, तालाबों का निर्माण कराया, उसके समय में पुर्तगाली यात्री डोमिंगो पायस ने यात्रा की थी और कुछ समय तक वह कृष्णदेव राय के दरबार में भी रहा। उसने बंजर एवं जंगली भूमि को कृषि योग्य बनाने की कोशिश की। विवाह कर जैसे अलोकप्रिय करों को हटाकर प्रजा को राहत प्रदान की। उसने हजारों मन्दिर तथा विठ्ठलस्वामी के मन्दिर का निर्माण कराया था। वह सभी धर्मों, सम्प्रदाय का सम्मान करता था यद्यपि उसकी आस्था वैष्णव धर्म में थी।

कृष्णदेवराय की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई अच्युतराय (1530-1542 ई.) सिंहासन पर बैठा, परन्तु वह एक दुर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसके पश्चात् उसका भतीजा सदाशिवराय सिंहासन पर बैठा। वह भी अयोग्य था और उसके समय में शासन-सत्ता का वास्तविक प्रयोग उसका मन्त्री रामराय करता था। रामराय एक योग्य शासन-प्रबन्धक था परन्तु सफल कूटनीतिज्ञ न था। उसने बहमनी-राज्य के खण्डों से बने हुए पाँच मुसलमानी राज्यों में परस्पर फूट डालने और एक दूसरे के विरुद्ध सहायता देने की नीति अपनायी। परन्तु अन्त में इन मुसलमानी राज्यों ने धर्म के आधार पर एक संयुक्त मोर्चा बना लिया तथा बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीदर की सम्मिलित सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण किया। **23 जनवरी, 1565 ई. को तालीकोटा का युद्ध हुआ। इसमें विजयनगर की सेना परास्त हुई और मुसलमानों ने विजयनगर शहर को बर्बाद कर दिया।**

तालीकोटा का युद्ध और विजयनगर का विध्वंस विजयनगर-राज्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ परन्तु फिर भी रामराय के भाई तिरुमाल ने बैनुगोंडा को अपनी राजधानी बनाकर विजयनगर के अस्तित्व को बनाये रखा। 1570 ई. में उसने सदाशिव को सिंहासन से हटाकर अरविन्द-वंश के शासन की नींव डाली। तिरुमाल के पश्चात् उसका पुत्र रंग द्वितीय शासक हुआ और तत्पश्चात् उसका भाई वैंकट। उसके समय में विजयनगर का राज्य नष्ट होने लगा। उसका अन्तिम शासक रंग तृतीय हुआ जिसके समय में मैसूर, बेदनूर, मदुरा, तंजौर आदि स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ और विजयनगर-राज्य नष्ट हो गया।

विजयनगर-बहमनी सम्बन्ध, रायचूर-दोआब समस्या और तालीकोटा का युद्ध

मुहम्मद तुगलक के समय में हुए सफल विद्रोहों का परिणाम बहमनी और विजयनगर राज्यों की स्थापना था। दक्षिण-भारत में स्थापित यह दोनों राज्य पड़ोसी भी थे और समकालीन भी। साथ ही इनके साथ एक विशेषता और रही। अधिकांशतया इनके पारस्परिक सम्बन्ध कटुता और शत्रुता के रहे जिसके कारण ये एक दूसरे के विरुद्ध निरन्तर युद्धों में लगे रहे। इस शत्रुता और पारस्परिक युद्धों के विभिन्न कारण थे।

पड़ोसी राज्य होने के कारण इनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक था। सीमा-विस्तार इनके मध्य हुए युद्धों का दूसरा कारण था। बहमनी-राज्य तुंगभद्रा के दक्षिण की ओर राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील था क्योंकि बाकी तीन ओर से वह तीन शक्तिशाली राज्यों—मालवा, गुजरात और उड़ीसा—से घिरा हुआ था। विजयनगर-राज्य अधिकांशतया समुद्र से घिरा हुआ था और भूमि के विस्तार के लिए उसे तुंगभद्रा नदी के उत्तर की ओर बढ़ना आवश्यक हो गया था। ऐसी स्थिति में दोनों राज्यों के मध्य सीमा-विवाद और संघर्ष होना ही था। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से दक्षिण-भारत का यह क्षेत्र जहाँ ये दो राज्य स्थापित हुए थे, प्राचीन काल से चालुक्य, पल्लव, राष्ट्रकूट और चोल शासकों के संघर्ष का क्षेत्र बना रहा था। इस काल में भी यही हुआ।

कुछ इतिहासकारों ने इन राज्यों के पारस्परिक संघर्ष का कारण धार्मिक और सांस्कृतिक भी बताया। फरिश्ता के अनुसार जब भी विजयनगर-राज्य बहमनी-राज्य को अधीन राज्य की भाँति कर या धन देने से इंकार करता था तभी दोनों राज्यों में युद्ध हो जाता था। फरिश्ता के कथन के अनुसार तो यह आभास होता है कि विजयनगर-राज्य ने बहमनी राज्य के आधिपत्य को स्वीकार कर रखा था। परन्तु फरिश्ता का विचार इतिहासकारों को मान्य नहीं है क्योंकि अन्य तत्कालीन स्रोतों से यह सिद्ध नहीं होता। एक अन्य समकालीन लेखक अजीज उल्लाह तबतबा ने अपनी पुस्तक 'बुरहान-ए-मआसिर' में इनके संघर्ष का कारण पूर्णतया धार्मिक बताया, परन्तु यह विचार भी आधुनिक

नोट

इतिहासकारों द्वारा मान्य नहीं है। यह तो स्वीकार किया गया है कि जहाँ बहमनी-राज्य इस्लाम धर्म और उसकी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता था, विजयनगर-राज्य हिन्दू धर्म और उसकी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता था। ऐसी स्थिति में इन दो राज्यों के संघर्ष में धर्म और संस्कृति के अन्तर्गत को भी एक माध्यम बनाया गया था, मुख्यतया बहमनी-राज्य और उसके खण्डों से बने मुसलमानी राज्यों ने अनेक बार विजयनगर-राज्य के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) घोषित करके धर्म को इस संघर्ष में आवश्यक रूप से सम्मिलित किया। परन्तु यह स्वीकार नहीं किया गया है कि धर्म ही इन राज्यों के मध्य संघर्ष का मूल कारण था।

इन दो राज्यों के संघर्ष का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण आर्थिक था जिसके कारण रायचूर-दोआब समस्या उत्पन्न हुई थी। तुंगभद्रा और कृष्णा नदी के मध्य का भाग रायचूर-दोआब कहलाता था। यह भाग कृषि की दृष्टि से बहुत उपजाऊ था। इसी क्षेत्र में दक्षिण-भारत के अधिकांश महत्वपूर्ण बन्दरगाह थे। इसके अतिरिक्त यह क्षेत्र लोहा और हीरों की खानों के लिए प्रसिद्ध था। इस कारण यह क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक लाभदायक था। अतएव यह दोनों राज्य इस रायचूर-दोआब पर अधिकार करने के लिए संघर्षरत रहे। इसके अतिरिक्त क्योंकि यह क्षेत्र दोनों राज्यों की सीमाओं पर था, इस कारण अधिकांशतया यह इन दोनों राज्यों का युद्ध-स्थल भी बना।

इस प्रकार बहमनी और विजयनगर-राज्यों के मध्य प्रतिस्पर्धा और युद्ध के विभिन्न कारण रहे। एक लम्बे समय तक ये दोनों राज्य आपस में संघर्ष करते रहे। इन राज्यों का संघर्ष इनके अस्तित्व में आने के समय से ही आरम्भ हो गया। बहमनी-राज्य के प्रथम शासक अलाउद्दीन बहमनशाह ने विजयनगर-राज्य के संस्थापक हरीहर प्रथम के समय में ही एक सेना रायचूर के किले पर अधिकार करने के लिए भेजी। इस अवसर पर हरीहर ने धन और घोड़े देकर बहमनी-राज्य से समझौता कर लिया। इस प्रकार युद्ध टल गया। उसके उपरान्त बुक्का प्रथम से बहमनी-शासक मुहम्मदशाह प्रथम ने कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब की माँग की। उसके इंकार करने पर दोनों राज्यों में तीन युद्ध हुए परन्तु कोई निर्णय न हो सका। न इन राज्यों की सीमाओं में कोई परिवर्तन हुआ और न किसी ने एक दूसरे के आधिपत्य को स्वीकार किया। मुहम्मद के उत्तराधिकारी मुजाहिद ने भी बुक्का प्रथम से कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब की माँग की और उसके इंकार करने पर उससे युद्ध किया, परन्तु कई माह के युद्ध के पश्चात् भी कोई परिणाम नहीं निकला। सुल्तान मुजाहिद ने 1377 ई. में पुनः विजयनगर-राज्य पर आक्रमण किया जबकि वहाँ का शासक हरीहर द्वितीय था। इस आक्रमण में भी उसे सफलता नहीं मिली और जबकि वह युद्ध से वापस आ रहा था उसकी हत्या हो गयी। मुजाहिद की हत्या से उत्पन्न बहमनी-राज्य की अव्यवस्था का लाभ उठाकर हरीहर द्वितीय ने उत्तरी कोंकण और कर्नाटक पर आक्रमण किये तथा गोआ को जीत लिया। मुजाहिद की हत्या के पश्चात् बहमनी सुल्तान मुहम्मदशाह द्वितीय और उसके पश्चात् सुल्तान फीरोजशाह ने भी रायचूर-दोआब को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु सफल न हुए। फीरोजशाह के उत्तराधिकारी अहमद प्रथम और उसके पश्चात् अहमद द्वितीय के समय में भी बहमनी और विजयनगर-राज्यों में युद्ध हुए। 1463 ई. में मुहम्मद तृतीय बहमनी-राज्य का सुल्तान बना जिसके शासनकाल में महमूद गवाँ को वजीर के पद पर नियुक्त किया गया। महमूद गवाँ के समय में बहमनी-राज्य की स्थिति दृढ़ हुई और उसने रायचूर-दोआब तथा गोआ को विजयनगर-राज्य से छीन लिया। 1482 ई. में मुहम्मद तृतीय की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र महमूदशाह के समय में बहमनी-राज्य के विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी और अन्ततः 1538 ई. में बहमनी-राज्य पाँच राज्यों में विभक्त हो गया। परन्तु इन राज्यों की शत्रुता भी विजयनगर-राज्य से रही और इनमें से बीजापुर के सुल्तानों ने रायचूर-दोआब पर अपने अधिकार करने की इच्छा के कारण इस समस्या को जीवित रखा। 1509-1529 ई. तक कृष्णदेवनगर विजयनगर-राज्य का शासक रहा। उसके समय में विजयनगर-राज्य अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसके समय में बीदर के शासक महमूदशाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया परन्तु उसकी पराजय हुई। कृष्णदेवराय ने न केवल रायचूर-दोआब पर ही अधिकार किया अपितु गुलबर्गा को भी जीत लिया। उसने बीजापुर और गोलकुण्डा को भी परास्त किया। विजयनगर-राज्य का अन्तिम शासक सदाशिवराय (1542-1572 ई.) हुआ। उसके समय में शासन-सत्ता का वास्तविक उपभोग उसका मुख्य मन्त्री रामराय करता था। सदाशिवराय के आरम्भिक काल में ही बीजापुर-राज्य ने विजयनगर पर आक्रमण किया यद्यपि सफल न हुआ। उसके पश्चात् बीजापुर और अहमदनगर राज्यों ने सम्मिलित होकर विजयनगर पर आक्रमण किया और उसके कुछ प्रदेशों को जीतने में सफलता प्राप्त की। उसके पश्चात् रामराय ने अपने राज्य की सुरक्षा हेतु बहमनी-राज्य के विघटन से

नोट

बने हुए पाँच राज्यों की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप किया। उसने उनमें से एक को दूसरे के विरुद्ध करने की नीति अपनायी और पर्याप्त समय सफल भी रहा। रामराय एक योग्य राजनीतिज्ञ और सेनापति था। उसने विजयनगर-राज्य को शक्तिशाली बनाया। इससे दक्षिण के इन मुसलमान राज्यों को ईर्ष्या हो गयी। उनमें से चार राज्यों ने अपने भेदभावों को भुलाकर और संयुक्त होकर विजयनगर-राज्य से युद्ध करने का निर्णय किया। केवल बरार-राज्य इस संयुक्त प्रयत्न में सम्मिलित नहीं था। बाकी बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर और बीदर के सुल्तानों ने पारस्परिक विवाह-सम्बन्धों द्वारा अपने सम्बन्ध दृढ़ किये और अन्त में अपनी संयुक्त सेनाओं को लेकर विजयनगर-राज्य पर आक्रमण किया। 25 जनवरी, 1565 ई. को तालीकोटा का युद्ध हुआ। आरम्भ में विजयनगर की सेनाएँ सफल होती हुई प्रतीत हुईं परन्तु बाद में मुसलमानों के तोपखाने और विजयनगर-राज्य के मुसलमान सैनिकों के अपने सहधर्मियों से मिल जाने के कारण विजयनगर की पराजय हुई। यह युद्ध भारतीय इतिहास के महाविनाशकारी युद्धों में से एक सिद्ध हुआ। हिन्दू सैनिक बहुत बड़ी संख्या में कत्ल किये गये और विजयनगर शहर को बुरी तरह से लूटा और ध्वस्त किया गया। उसके पश्चात् विजयनगर-राज्य का नाममात्र के लिए अस्तित्व तो रहा परन्तु उसकी स्थिति दक्षिण-भारत में कभी भी सुदृढ़ न हो सकी।

विजयनगर-राज्य का मूल्यांकन

विजयनगर-राज्य दक्षिण-भारत में मुसलमान-आक्रमणों के विरुद्ध हिन्दुओं के राजनीतिक संघर्ष का एक सफल परिणाम था। इस राज्य के संस्थापक हरीहर और बुक्का ने सन्त विद्यारण्य के प्रोत्साहन और वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण की प्रेरणा से हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उसकी स्थापना की थी। इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें सफलता मिली। निस्सन्देह, विजयनगर के शासकों ने उड़ीसा, वारंगल आदि के हिन्दू शासकों से भी युद्ध किये और इन युद्धों में उनका उद्देश्य राजनीतिक था परन्तु उनके मुख्य शत्रु बहमनी-राज्य अथवा उसके खण्डों से बने अन्य मुसलमान राज्य ही रहे। विजयनगर और बहमनी साम्राज्यों के पारस्परिक संघर्ष के कारण राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तीनों ही थे। राजनीतिक संघर्ष का कारण दोनों राज्यों का कृष्णा-तुंगभद्रा दोआब पर अपना अधिकार करना था जो दोनों राज्यों की सीमा पर था। आर्थिक दृष्टि से दो नदियों से बना यह दोआब न केवल खेती की दृष्टि से बहुत उपजाऊ था अपितु यहाँ खनिज पदार्थों में लोहा प्राप्त था तथा हीरों की खानें भी थीं। इस कारण दोनों राज्य इसे प्राप्त करने में अपना आर्थिक लाभ मानते थे। सांस्कृतिक दृष्टि से जबकि बहमनी-राज्य दक्षिण-भारत में इस्लाम धर्म और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता था, विजयनगर-राज्य हिन्दू धर्म और संस्कृति का केन्द्र था। इस अन्तर का लाभ भी दोनों राज्यों के शासकों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए उठाया बल्कि इसी अन्तर को अपनी पारस्परिक शत्रुता का मुख्य कारण बना दिया। इस कारण अर्थ और राजनीति के अतिरिक्त, बहमनी और विजयनगर राज्यों के लम्बे संघर्ष का एक कारण जहाँ एक ओर मुसलमान राज्यों का हिन्दू सत्ता को दक्षिण-भारत से नष्ट कर देने का प्रयत्न था वहीं दूसरी ओर विजयनगर के शासकों का हिन्दू राज्य और हिन्दू संस्कृति की रक्षा करने का प्रयत्न था और इसमें सन्देह नहीं कि एक लम्बे समय तक विजयनगर-राज्य इस कार्य की पूर्ति करने में सफल रहा।

शासन की दृष्टि से विजयनगर-शासकों की व्यवस्था हिन्दू-परम्परा के अनुसार थी। उसमें राजा शासन का प्रधान था और उसमें देवत्व का अंश माना जाता था। वह कानून-निर्माण, शासन-व्यवस्था, न्याय, सैन्य-संचालन आदि सभी का प्रधान था, परन्तु विजयनगर के शासक न निरंकुश थे और न स्वेच्छाचारी। सभी शासक धर्म के अनुसार अपनी प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख उद्देश्य मानते थे। विजयनगर के शासकों के अभिलेखों में धर्म के अनुसार कार्य करने का निरन्तर उल्लेख मिलता है। ऐसे भी अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शासकों ने कृषकों के हितों की सुरक्षा की और उन्हें शोषण से बचाया। विजयनगर के शासकों ने अपने साम्राज्य की सामाजिक एकता, शान्ति और समृद्धि को बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये। उनके शासन की एक मुख्य विशेषता यह भी रही कि उन्होंने सभी धर्मों को केवल समानता ही प्रदान नहीं की वरन् अन्य धार्मिक समुदायों और अल्पसंख्यकों को पूर्ण सुरक्षा भी प्रदान की जिससे बहुसंख्यक उन पर कोई दबाव न डाल सकें। विजयनगर नरेश अपनी प्रजा को शान्ति, सुरक्षा और न्याय प्रदान करना भी अपना प्रमुख कर्तव्य मानते थे। उनका दण्ड-विधान कठोर तो था परन्तु क्रूरता पर आधारित नहीं था। विजयनगर-शासकों में से कोई भी निरंकुश नहीं हुआ। इसके विभिन्न कारण रहे। शासक को धर्म

नोट

के अनुसार शासन करना होता था, जो उस पर सबसे बड़ा अंकुश था। इसके अतिरिक्त, व्यापारिक निगम, स्थानीय ग्रामीण-संस्थाएँ और धार्मिक संस्थाओं से जुड़ी हुई समितियाँ भी शासक की शक्तियों को सीमित करती थीं। शासक पर राज-परिषद् मन्त्री-परिषद् तथा अन्य सलाहकार समितियों का भी प्रभाव रहता था। राज-परिषद् राजा का राज्याभिषेक करती थी और प्रशासकीय मामलों में उसे सलाह देती थी। एक अन्य परिषद् ऐसी थी जिसमें प्रान्तीय प्रान्तपति, नायक, सामन्त आदि सम्मिलित थे जो शासक को प्रान्तों या दूरस्थ प्रदेशों का शासन करने में सलाह देती थी। इनके अतिरिक्त, केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् थी जिसमें प्रधानमंत्री, अन्य मन्त्री विभागों के प्रधान आदि सम्मिलित थे। इनकी संख्या बीस के निकट थी। ये परिषदें अपने-अपने क्षेत्र और तरीकों से शासक को सलाह और सहायता देती थीं और अनेक अवसरों पर शासक को उनकी सलाह को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता था। विजयनगर के शासकों ने उत्तराधिकार के युद्धों से बचने के लिए एक उपयुक्त तरीका अपना रखा था। शासक अपने जीवित रहते हुए अपना युवराज अर्थात् राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया करता था और उसकी स्वीकृति केन्द्रीय परिषदों, प्रान्तपतियों, नायकों आदि से करा लिया करता था। सामान्यतया वह शासक का सबसे बड़ा पुत्र ही होता था। परन्तु राजा के पुत्र न होने पर राजपरिवार के किसी भी योग्य व्यक्ति को शासक अपना युवराज चुन लिया करता था। युवराज को शासन-कार्य में सम्मिलित किया जाता था जिससे अपने पिता के जीवित रहते हुए ही उसे शासन का अनुभव प्राप्त हो जाय। ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि शासक ने अपने जीवित रहते ही शासन युवराज को सौंप दिया। राजा की सहायता के लिए अन्य अनेक पदाधिकारी और शासन के विभिन्न विभाग होते थे जहाँ हजारों असैनिक अधिकारी कार्य करते थे। विजयनगर-राज्य छः प्रान्तों में बँटा हुआ था जहाँ प्रान्तपति प्रधान होता था। वे अधिकांशतया राजा के सम्बन्धी होते थे और उनके अधिकार विस्तृत थे। प्रान्त अन्य छोटी इकाइयों में विभक्त होते थे। प्रान्त राज्य अथवा मण्डलों में विभाजित थे जबकि मण्डल नाद, स्थल, कोट्टम, पर्स आदि छोटी इकाइयों में विभाजित किये गये थे। कुल विद्वानों ने विजयनगर-साम्राज्य के शासन की एक मुख्य विशेषता अन्य क्षेत्रों से कुछ भिन्न जागीरदारी व्यवस्था को बताया है। उसे **नायंकार-व्यवस्था** पुकारा गया है। उनके अनुसार राजा अपने जागीरदारों को एक निश्चित भूमि दे देता था। उस भूमि को **अमरम** पुकारते थे। ऐसी भूमि के स्वामियों अथवा जागीरदारों को **अमर-नायक** पुकारते थे। वे राजा को प्रति वर्ष एक निश्चित धन राशि देते थे और युद्ध के अवसर पर उसकी सहायता के लिए अपने पास एक निश्चित संख्या में सैनिक भी रखते थे। धीरे-धीरे इन नायकों का अधिकार अपनी भूमियों पर पैतृक हो गया। 16वीं सदी के मध्य में इनकी संख्या दो सौ के लगभग हो गयी थी। इनकी एक मुख्य विशेषता यह थी कि प्रान्तपतियों की तुलना में वे अपने आन्तरिक शासन में अधिक स्वतन्त्र थे। इसके अतिरिक्त, शासन सामान्यतया 'नायंकार' प्रदेशों के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। शासक प्रान्तपतियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण कर दिया करता था परन्तु अमर नायकों का स्थान-परिवर्तन किया गया हो इसके प्रमाण प्राप्त नहीं होते; प्रान्तपतियों की तुलना में अमर-नायकों के कर्तव्य भी अधिक थे; और ऐसे उदाहरण हैं जबकि ब्राह्मणों को प्रान्तपति नियुक्त किया गया था परन्तु अमर-नायक ब्राह्मण हों ऐसे उदाहरण कम प्राप्त होते हैं। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी जहाँ पंचायतें प्रायः स्वशासन के आधार पर कार्य करती थीं यद्यपि उनके अधिकार सीमित थे। गाँव के अधिकारियों के पद पैतृक थे। सेनटेयवा गाँव की आय-व्यय की देखभाल करता था, गाँव के चौकीदार को 'तलस' पुकारते थे और 'बेगरा' गाँव में बेगार, मजदूरी आदि की देखभाल करता था। नायंकार-व्यवस्था की भाँति विजयनगर-राज्य के शासन की एक अन्य विशेषता **आयगार-व्यवस्था** थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कुछेक गाँवों को एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में संगठित किया गया और इस ग्रामीण प्रशासकीय इकाई पर शासन करने के लिए बारह व्यक्तियों को नियुक्त किया गया। इन बारह अधिकारियों को सम्मिलित रूप से **आयगार** पुकारा गया। इन अधिकारियों की नियुक्ति सरकार के द्वारा की गयी और उनके पद अधिकांशतया पैतृक हो गये, यहाँ तक कि वे अपने पद को बेच या गिरवी भी रख सकते थे। उनको वेतन नहीं मिलता था परन्तु उनकी सेवाओं के बदले में उन्हें राज्य के करों से मुक्त रखा गया था। उनके प्रशासकीय अधिकार और कर्तव्य भी निश्चित कर दिये गये थे। उनका मुख्य उत्तरदायित्व अपने शासन-क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना था। इन अधिकारियों की स्वीकृति के बिना न तो उनके क्षेत्र की भूमि बेची जा सकती थी और न दान की जा सकती थी। इसी प्रकार गाँव-प्रशासन में उनके अन्य भी अधिकार थे। इस आयगार-व्यवस्था ने गाँव पंचायतों (सभाओं) के अधिकारों को

नोट

बहुत सीमित कर दिया और वे शासन की स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में कार्य करने की स्थिति में नहीं रह गयीं। लगान, सिंचाई-कर, चरागाह-कर, व्यापारिक कर आदि राज्य की आय के मुख्य साधन थे। किसानों से पैदावार का 1/5 भाग अथवा उससे कुछ अधिक लगान के रूप में लिया जाता था। विजयनगर-राज्य में एक विशाल सेना थी। उसके लिए एक पृथक् विभाग था जिसके अधिकारी को दण्डनायक अथवा सेनापति पुकारा जाता था। घुड़सवार, पैदल और हाथी उसके मुख्य अंग थे। उन्होंने तुर्की धनुर्धरों का भी प्रयोग किया था। राजाओं ने तोपखाना भी रखा था परन्तु वह बहुत श्रेष्ठ न था। विजयनगर-राज्य में सोना, चाँदी और तँबे के सिक्कों का प्रचलन था। सिक्कों पर विभिन्न देवताओं अथवा उनके वाहनों (पशुओं) को अंकित किया गया था। विजयनगर के शासकों का दण्ड-विधान कठोर था। मृत्यु-दण्ड, अंग-विच्छेद और सम्पत्ति का जब्त कर लिया जाना मुख्य दण्ड थे। विजयनगर के शासक हिन्दू धर्म के वैष्णव-सम्प्रदाय को मानने वाले थे परन्तु उन सभी ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया। उनके राज्य में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि सभी के प्रति समान व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार विजयनगर के शासकों ने एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की थी, परन्तु उनके सैनिक-संगठन में दुर्बलता रही। मुख्यतया उनका तोपखाना दुर्बल रहा। इसके अतिरिक्त उनके प्रान्तीय सूबेदारों और अमर-नायकों को बहुत अधिक विस्तृत अधिकार थे जिसके कारण ये केन्द्रीय शासन के दुर्बल होने पर स्वतन्त्र हो गये। अपने पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों को बसने का अधिकार देना भी विजयनगर-राज्य की भूल रही।

7.11 सारांश (Summary)

- 1301 ई. में सूहादेव ने कश्मीर में सुदृढ़ राज्य की स्थापना की। परन्तु उसकी पूर्वी एवं उत्तरी सीमाओं पर शत्रुओं ने आक्रमण किये तथा 1320 ई. में पश्चिमी तिब्बत के एक सरदार के पुत्र रिनचन ने उससे कश्मीर छीन लिया।
- बनारस के उत्तर-पश्चिम में 34 मील दूर जौनपुर नगर को फीरोज तुगलक ने बसाया था।
- अलाउद्दीन खिलजी ने राजा कर्ण (रायकरन) को परास्त करके 1297 ई. में गुजरात को दिल्ली-सल्तनत के अधीन किया। उसके पश्चात् 1401 ई. तक वह दिल्ली-सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) रहा। अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा को दिल्ली-सल्तनत का अंग बनाया था। अलाउद्दीन खिलजी ने मेवाड़ को जीतकर दिल्ली-सल्तनत के अधीन किया।
- मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया और दौलताबाद पर अधिकार करके हसन नामक एक सरदार को सुल्तान चुना। वह 1347 ई. में 'अबुल हसल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा और उसने बहमनी राज्य की नींव डाली।
- महमूद गवाँ मूलतया पर्शिया का निवासी था और व्यापार करने के उद्देश्य से बहमनी-राज्य में आया था। योग्य सेनापति के अतिरिक्त महमूद गवाँ एक योग्य शासन-प्रबन्धक भी था। उसने केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाया और प्रान्तों की संख्या चार से आठ कर दी।
- भारत के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर विजयनगर-राज्य (जिसका वर्तमान नाम हम्पी है) की स्थापना करने का श्रेय हरीहर और बुक्का नामक दो भाइयों को था।
- शासन की दृष्टि से विजयनगर-शासकों की व्यवस्था हिन्दू-परम्परा के अनुसार थी। उसमें राजा शासन का प्रधान था और उसमें देवत्व का अंश माना जाता था। वह कानून-निर्माण, शासन-व्यवस्था, न्याय, सैन्य-संचालन आदि सभी का प्रधान था, परन्तु विजयनगर के शासक न निरंकुश थे और न स्वेच्छाचारी।

7.12 शब्दकोश (Keywords)

- धर्मनिष्ठता—धर्म के प्रति निष्ठा या अनुराग।
- भूमि की पैमाइश—भूमि या जमीन की नापी करवाना।

नोट

- वजीर-ए-अशरफ—सल्तनत का विदेश मंत्री।
- अमीर-ए-जुमला—सुल्तान (साम्राज्य) का वित्त मंत्री।
- स्वेच्छाचारी—मनमानी करने वाला, निरंकुश।

7.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. कश्मीर राज्य एवं उसके शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालें।
2. जौनपुर एवं बंगाल राज्यों के शासन-व्यवस्था का वर्णन करें।
3. 15वीं सदी में गुजरात राज्य की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालें।
4. 15वीं सदी के मालवा प्रांत पर एक निबंध लिखें।
5. 14-15वीं सदी में मेवाड़ राज्य के राजनीतिक स्थिति का उल्लेख करें।
6. बहमनी-साम्राज्य का विस्तृत वर्णन करें।
7. मुहम्मद गाँवा कौन था? बहमनी साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने में उसके योगदानों का वर्णन करें।
8. बहमनी-साम्राज्य के पतन के कारणों का उल्लेख करें।
9. बहमनी-साम्राज्य की शासन व्यवस्था की विवेचना करें।
10. विजयनगर-राज्य की राजनीतिक इतिहास का उल्लेख करें।
11. विजयनगर-राज्य के संबंधों, समस्याओं एवं तालीकोटा युद्ध का वर्णन करें।
12. विजयनगर राज्य का मूल्यांकन करें।
13. विजयनगर के राजा कृष्णदेवराय का चरित्र-चित्रण करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|----------------|--------------|-----------------|
| 1. कश्मीर | 2. फिरोज तुगलक | 3. अलाउद्दीन | 4. महानतम |
| 5. (ख) मालवा | 6. (क) खिलजी | 7. (ग) पुत्र | 8. (ग) अहमदाबाद |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य | 12. असत्य। |

7.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।

नोट

इकाई-8 : मुगल साम्राज्य की राजनीतिक और प्रशासनिक संस्थाएँ (Political and Administrative Institutions of Mughal Empire)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 8.1 राज्य का स्वरूप (Nature of State)
- 8.2 सल्तनत काल की प्रशासनिक संरचना
(Administrative Structure of Sultanate Periods)
- 8.3 मुगलकालीन प्रशासनिक संरचना (Administrative Structure of Mughal Periods)
- 8.4 सारांश (Summary)
- 8.5 शब्दकोश (Keywords)
- 8.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 8.7 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- सल्तनत एवं मुगल साम्राज्य में राज्य के स्वरूप को जानने में;
- सल्तनत कालीन प्रशासनिक संरचना को जानने में;
- मुगलकाल की प्रशासनिक संरचना को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सुल्तानों तथा मुगल बादशाहों के अधीनस्थ राज्यों के स्वरूप के संबंध में विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। इस संबंध में विवाद रहा है कि ये राज्य इस्लामी थे या धर्मराज्य। सुल्तानों ने अपने आपको संसार के विशाल मुस्लिम साम्राज्य का अंग मानते हुए बगदाद के खलीफा की प्रभुसत्ता को मान्यता दी थी। वास्तव में खलीफाओं का नामोल्लेख सिक्कों पर था और उनके नाम का खुतबा पढ़ा जाता था। सुल्तान अपने आपको खलीफा का सहयोगी कहते थे। मुगलों द्वारा बगदाद के खलीफा को समाप्त किए जाने (1258) पर भी सुल्तान खलीफा को इस्लाम के नेता के रूप में उल्लेख करते रहे। केवल अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316) ने इस परिपाटी से हटकर स्वयं को इस्लाम का सरगना घोषित किया। किंतु बाद में विद्रोही हठी मुहम्मद बिन तुगलक (1325-1351) ने पुनः मिस्र के खलीफा अब्बासी जिसे

नोट

मामुलुक ने स्थापित किया था, के साथ अपने संबंधों को पुनः कायम कर लिया। इस्लाम कबूल करने के बाद मंगोलों ने यह तय किया कि प्रत्येक स्वतंत्र मुस्लिम साम्राज्य अपने में एक खलीफा है किंतु यह सिद्धांत मुगलों के आने तक दिल्ली में नहीं अपनाया जा सका।

8.1 राज्य का स्वरूप (Nature of State)

एक सुसंगठित समुदाय के रूप में मुसलमानों का, इस्लाम धर्म-नियम-शरीअत-के अनुसार कुछ कार्य और उत्तरदायित्व हैं। ये नियम कुरान पाक में निहित सिद्धांतों तथा सूत्रों पर आधारित हैं जो खुदा के शब्द के रूप में शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय हैं। इसलिए शरीअत सर्वोच्च रहा है तथा कोई भी सम्राट उसके विरुद्ध जाने की हिम्मत नहीं कर सका। अतः यह आश्चर्य नहीं कि बलबन (1265-87) अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद बिन तुगलक जैसे शासकों ने भी प्रत्यक्ष रूप में शरीअत की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। 'यहां तक कि फतेहपुर सीकरी के अविश्वासी युवराज ने भी, जैसा कि अकबर को (1542-1605) कट्टर मुसलमानों ने समझा था'। प्रो० एस० राय के अनुसार : "मुसलमान धर्म नियमों का विरोध नहीं किया। बुखारा के अब्दुल्ला खां को लिखे गए पत्र में अकबर ने अपने ऊपर लगाए गए धर्मविरोधी आरोपों का प्रतिवाद किया तथा स्वयं को इस्लाम का महान समर्थक बताया है। उसने यह भी संकेत किया है कि उसने वैसे क्षेत्रों में जहां इस्लाम की जानकारी नहीं थी, इसका प्रसार किया। साथ ही काफिरों और विधर्मियों के गिरजाघरों और मंदिरों के स्थान पर स्वधर्मी प्रजा के लिए सराय और मस्जिद बनवाए। 1579 के मजहर (घोषणा) के अकबर इमाम और अमीर-उल-मुन्नीन (धार्मिकों का प्रधान) बन गया तथा कुरान को राज्य के मौलिक कानून का दर्जा मिला।" किंतु अकबर ने इस्लाम के नियमों का ही पूर्ण उपयोग नहीं किया, जब भी उसने जरूरत महसूस की नया कानून बनाया। उसके उत्तराधिकारी जहांगीर (1605-1627) और शाहजहां (1627-1658) अकबर की नीति पर ही चले, हालांकि उन्होंने अपने को इस्लाम धर्म के नियमों का रखवाला/अभिभावक माना और 'उसके हित का उचित ध्यान रखा।' औरंगजेब ने अपने पूर्वजों की नीति से बिल्कुल अलग रास्ता अपनाया तथा इस्लाम का कट्टर समर्थक बन कर परंपरागत रीतियों को सीमित करने का प्रयत्न किया। उसका ध्येय राज्य प्रशासन में कुरान के धर्मदेशों को पूर्णतः लागू करने का था। उसने केवल स्वधर्मियों के लिए ही नहीं अपितु गैर-मुसलमानों में कट्टर मुस्लिम रीतियों को प्रचलित कराने के लिए ठोस कदम उठाए। इसलिए यह कहा जा सकता है, सिद्धांत रूप में ही सही, कि सुल्तानों और मुगलों के अधीनस्थ, जिनमें अपवादस्वरूप अकबर, जहांगीर और संभवतः शाहजहां को छोड़कर, मध्ययुगीन भारत एक इस्लामी राज्य था। फिर भी, ज्ञातव्य है कि कुरान में समाहित धर्मदेशों या शरीअत का पूरी तरह पालन मुगल सुल्तानों तथा सम्राटों के द्वारा कुछ व्यावहारिक तथा प्रशासनिक कारणों से नहीं किया जा सका था। मुसलमान धर्मनियमों के अनुसार केवल मुसलमान ही एक इस्लामी राज्य के अधिकृत सदस्य या नागरिक माने जा सकते हैं। फिर भी, जीवनयापन और संपत्ति का हक, 'धर्मग्रन्थ के लोगों' या अहले किताब अर्थात् 'जिम्मी' के रूप में ज्ञात ईसाइयों, यहूदियों आदि को भी जो जजिया और खराज या भूमि कर चुकाने पर प्रदान किया गया था। मूर्ति-पूजकों का कोई स्थान नहीं था, उन्हें या तो मार डालते या धर्म परिवर्तन कराते थे। मुहम्मद-बिन-कासिम के सामने भी यह समस्या आई जब उसने सिंध को फतह किया (712)। यहाँ तक कि तारीखे-फिरोजशाही के लेखक सेरु द्विवादी जियाउद्दीन बरनी ने भी स्वीकार किया है कि "यदि ये बादशाह पैगंबरों की परंपरा का अनुकरण करें इनके लिए बादशाहत और हकूमत असंभव हो जाए।" अलाउद्दीन खिलजी ने भी माना है, "मुझे नहीं मालूम कि ये कानून मेरे धर्म के अनुसार स्वीकार्य हैं अथवा नहीं, किंतु मैं यही समझकर ऐलान करता हूँ कि यह राज्य के लिए अच्छा होगा।" इसके अलावा हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए विस्तृत वैयक्तिक कानून थे, जिसमें सम्राट का दखल देना उचित या संभव नहीं हो पाया था। हिंदुओं के वैयक्तिक कानून के कई संग्रह-ग्रंथ थे, जो रघुनंदन, कमलाकार, मित्र मिश्र आदि श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा लिखे गए थे। उसी प्रकार मुसलमानों के भी वैयक्तिक (स्वीय) कानून थे, जिसे औरंगजेब ने संहिताबद्ध किया था। हिंदुओं के अपने न्यायालय उनकी पंचायतें थी; जिनमें वे स्वयं अपने मामलों का फैसला करते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि शासनतंत्र का गठन, मुगल दरबार के समारोह तथा कायदे, कराधान तथा सरकारी अमलों की भर्ती के प्रचलित विधान इस्लाम से अधिक भारतीय परंपरागत थे। शायद शाहजहां ही केवल ऐसा मुगल सम्राट था जिसने हिंदुओं के वैयक्तिक (स्वीय) कानून में यह

नोट

सुनिश्चित करने के लिए हस्तक्षेप किया कि हिंदू धर्म को त्याग कर इस्लाम ग्रहण करने वाले व्यक्ति अपनी पारिवारिक संपत्ति में भागीदार होने के अधिकार से वंचित नहीं हो सकें। अकबर ने भी मुस्लिम विधि में परिवर्तन किया, जिससे प्रजा और राज्य के संबंध नियंत्रित किए जाते थे। इस प्रकार वह एक लोक विधि कानून था। इसके तहत गैर-मुसलमानों पर पहले से लागू कुछ निर्दयता पूर्ण नियमों का उनके द्वारा उल्लंघन किए जाने पर राज्य सरकार को कानूनी कार्यवाही करने के अधिकार पर पाबंदी लग गई। इसने ऐसे मुसलमानों को भी सुरक्षा प्रदान की जो कुछ धार्मिक नियमों का पालन नहीं करने से दोषी ठहराए जा सकते थे।

इसके साथ ही अब दूसरे मत, जो 'धर्मतांत्रिक प्रकार के राज्य' को प्रतिपादित करने वाला है, पर विचार करना होगा 'पुरोहित सत्ता का शासन' संबंधी अपवाद के अलावा इसमें विशेषकर सुल्तानों के युग में, धर्मतांत्रिक राज्य की सब विशेषताएँ हैं। जैसा कि एस० के० राय लिखते हैं, "मुसलमानों के शासन के अधीन राज्य धर्मतंत्र प्रकार के थे, क्योंकि धर्मतांत्रिक राज्य की विशेषताएँ ईश्वर की प्रभुसत्ता, ईश्वर के आदेशों के अनुसार उसके पुरोहितों (पुजारियों) द्वारा राजकार्य दैविक नियमों के अनुरूप चलाया जाना, मध्ययुगीन मुस्लिम राज्य में विद्यमान था। दिल्ली के सुल्तानों ने अपने को ईश्वर के प्रतिनिधि खलीफा का सहायक या मातहत माना था। शेरशाह (1540-45) और इस्लामशाह ने मुगल बादशाहों के खलीफा की उपाधि ग्रहण की, जबकि अकबर से लेकर औरंगजेब तक ने 'ईश्वर की छाया, ईश्वर के खलीफा, धरती पर ईश्वर के दूत' की उपाधि अपनाई। इस प्रकार ईश्वर की सर्वोच्च प्रभुता प्रमाणित थी। कुरान इस्लाम का मूलभूत कानून था, किंतु पोप जैसी कोई अन्य स्वतंत्र सत्ता नहीं थी, जिसके द्वारा कुरान के भाष्य को अकाट्य मान्यता मिले। खलीफा को निःसंदेह उसी प्रकार का स्थान प्राप्त था, किंतु उसे धर्म के अलावा ऐसा कोई आदेश जारी करने का अधिकार न था जो सभी मुसलमानों पर कानूनी तौर पर लागू किया गया था। मुगल बादशाह सचमुच तानाशाह थे, उन पर अंकुश लगाने वाला कोई जन संस्थान नहीं था। किंतु उनकी अधिकार सीमा के संबंध में यदि हम यह समझ लें तो भ्रांति होगी कि उन्हें यह अधिकार प्रजा के जीवन के समस्त कार्यकलाप या उनकी राजनीतिक गतिविधियों के बारे में आदेश जारी करने का प्राधिकार प्राप्त था। उन्हें कभी कानून का सूत्रधार नहीं माना गया, हालांकि प्रायः उन्हें यह मानना पड़ा कि वे उनके (कानून के) मातहत हैं। उनकी प्रजा की संपूर्ण वैयक्तिक विधि (स्वीय विधि) हिंदू और मुस्लिम विधि के अंतर्गत थी। बादशाहों ने यह स्वीकार किया कि उन्हें कानून बदलने का कोई प्राधिकार नहीं था।"

कुछ अन्य तथ्य भी हैं, जिनसे बादशाह के प्राधिकार नियंत्रित हो जाते थे। उलेमा और मुल्लनिमों के अलावा जो कानून का अर्थ लगाया करते थे, रईस भी थे जो राजकाज में काफी दखल रखते थे। बलवन और अलाउद्दीन खिलजी जैसे कुछ सशक्त बादशाहों ने इन अमीरों की शक्ति को कम करने के अनेक तरह के उपाय किए किंतु लोदियों तथा बाद के कमजोर मुगल शासकों के शासनकाल में अमीर अधिक प्रभावशाली बन गए थे। शेरशाह ने बड़ी चतुराई से अफगानिस्तानी अमीरों को मिला रखा था, जबकि अकबर ने उन्हें अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रभावी माध्यम बना लिया था। बादशाह की तानाशाही प्रवृत्ति के विरुद्ध एक और संभव अंकुश के रूप में शासक की नीतियों के विरोध में असंतोष व्यक्त करने वाले जनविद्रोही का भय रहता था। बादशाह का राजसत्ता पर कोई व्यक्तिगत हक नहीं था। इस्लामी कानून वंशानुगत उत्तराधिकार की स्वीकृति नहीं देता था और किसी बादशाह का हटाया जाना इस कानून पर आघात नहीं था। अतएव किसी बादशाह की मृत्यु के उपरांत उत्तराधिकारी के लिए भयंकर युद्ध और षड्यंत्र अवश्यभावी बन गया था। प्रारंभिक सुल्तानों ने इसीलिए यह उचित समझा कि उत्तराधिकार के लिए खलीफा से औपचारिक स्वीकृति लेकर खलीफा के मातहत के रूप में राज किया जाए। किंतु भारत में मुगलों के आगमन के समय तक मिस्र में खलीफा का पद भी समाप्त हो चुका था। इसके अलावा वे यह मानते थे कि बादशाह दुनिया में ईश्वर की छाया के रूप में है। हुमायूँ का दरबारी इतिहासकार ख्वादेमीर ने उसे 'हजरत बादशाह जिल्ले-इलाही' अर्थात् 'महामहिम सम्राट, ईश्वर की छाया' संबोधित किया। अकबर ने भी अमीर-उल-मुम्नान तथा इमामे-आदिल की उपाधि धारण की। जहांगीर और शाहजहां का भी ऐसा विश्वास था कि बादशाहत एक ईश्वरीय देन है। इस सिद्धांत को हिंदुओं की ओर से भी सबल समर्थन प्राप्त हुआ था जो यह समझते थे कि 'राजा ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक है।' यहाँ यह भी स्पष्ट रूप में समझ लिया जाना चाहिए कि तत्कालीन यूरोप में बादशाहों के दैवी अधिकार और मुगलों की मान्यता में काफी अंतर था। अपनी सत्ता पर विपत्ति के आने पर भी मुगल बादशाह दैवी संरक्षा का आह्वान नहीं कर सकते थे।

नोट



नोट्स

प्रो० श्रीराम शर्मा ने उल्लेख किया है, “किसी काजी ने सलीम को नहीं धिक्कारा जबकि उसने अपने पिता के खिलाफ बगावत की और न ही खुर्रम को किसी मुल्ला ने ‘मजहब और कुरान शरीफ’ के नाम पर चेतावनी दी थी जबकि वह जहांगीर के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था।”

यह सत्य है कि औरंगजेब के राज्यारोहण के समय उसके नाम का ‘खुतबा’ पढ़ कर उसे बादशाह घोषित करने को सद्द-अल-सुदूर ने इसलिए इन्कार कर दिया कि उसके पिता (शाहजहाँ) जीवित थे। किंतु इसे ‘राज-मुकुट के चतुर्दिक ईश्वरीय विधान का बंधन’ नहीं कहा जा सकता है। अकबर के पास भी सुरक्षा की कोई ‘दैवी’ व्यवस्था न थी, जबकि उसके सौतेले भाई हकीम ने भारत पर आक्रमण किया था। उसे भी बाबर के साम्राज्य पर अपना हक जमाने के लिए अपने सैन्य बल पर ही निर्भर होना पड़ा था। अंततः यह कहा जा सकता है कि मुगल राज में ‘बहुत नियंत्रित प्रकार की तानाशाही थी, जिसमें सामान्यतः शासक अपने को इस्लाम का प्रतिनिधि मान कर राज करते थे और अपने निर्णय स्वेच्छा से लेते थे। यह एक ऐसी तानाशाही थी जिसमें सिद्धांत और व्यवहार दोनों में नागरिकों की इच्छा का यथेष्ट स्थान था।’

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) –

1. भारत में मुगलों के आगमन तक मिश्र में का पद भी समाप्त हो चुका था।
2. जहाँगीर एवं शाहजहाँ का ऐसा विश्वास था कि एक ईश्वरीय देन है।
3. मध्यकालीन भारत में प्रशासनिक संरचना पद्धति पर आधारित थी।
4. ने मुगल बादशाहों के ‘खलीफा’ की उपाधि ग्रहण की थी।

8.2 सल्तनत काल की प्रशासनिक संरचना

(Administrative Structure of Sultanate Periods)

मध्यकालीन भारत में सरकार की प्रशासनिक संरचना मुख्यतः फारसी अरबी पद्धति पर आधारित थी किंतु सैन्य संगठन तुर्क मंगोल पद्धति से किया गया था, जबकि हिंदुओं की भूराजस्व पद्धति को भी कायम रखा गया था। इस प्रकार प्रशासनिक पद्धति मिश्रित ढंग की थी।

केंद्रीय सरकार—सुल्तान—सरकार में सुल्तान का स्थान सर्वोच्च था। वह संपूर्ण प्राधिकरण का शीर्षस्थ बिंदु था। वह ‘राज्य का सर्वोच्च संचालक, न्यायाधिकरण में सबसे बड़ा निर्णायक, कानून का सूत्रधार और सेनाओं का प्रधान सेनापति होता था।’ इस पर भी वह पूर्णतः निरंकुश होने की स्थिति में नहीं था। उसे शरीअत का पालन करना होता था साथ ही जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है उसे उलेमा तथा मुल्लाओं की सलाह माननी पड़ती थी तथा ऐसी कोई भी अनुचित कार्रवाई से बचना पड़ता था जिसके कारण विद्रोह की संभावना हो। इसके अलावा एक मंत्री परिषद् भी थी, जिसे ‘मजलिस-ए-खलवत’ (प्रिवी काउंसिल) कहा जाता था, जिसमें कि बादशाह कार्यकारिणी, विधायी तथा वित्तीय महत्व के मामलों पर विचार किया करता था। बहरहाल इस परिषद् की सलाह बादशाह के लिए बाध्यकर नहीं थी। मोहम्मद-बिन-तुगलक जैसे सशक्त बादशाह ने सुदूर स्थानों पर युद्ध अभियान पर नहीं जाने की उनकी सलाह को नहीं माना था, हालांकि इसके लिए उसे बाद में पछताना पड़ा था। किंतु चतुर अलाउद्दीन ने अपने विश्वासी पार्षद, दिल्ली के कोतवाल, की सलाह पर विश्वविजय का विचार त्याग दिया था। बलबन ने भी पार्षदों के विचारों का आदर किया और सिंहासनाधिकारी अपने पुत्र मुहम्मद को ‘बुद्धिमानों की सलाह के बिना कुछ नहीं करने’ की सलाह दी। किसी को केवल अपने पद या ओहदे के बल पर राजकाज के मामलों पर चर्चा के लिए परिषद् में उपस्थित होने का अधिकार प्राप्त नहीं था। यह बादशाह का स्वविवेक (मर्जी) ही था जिसके आधार पर वह केवल विश्वस्त मंत्रियों को ही बुलाता था, जिनकी संख्या सामान्यतः चार होती थी। वह अपने ऐसे पार्षदों को

नोट

भी बुलाता था, जिनकी सलाह महत्व रखती थी। वे राय-जान-ए-दरगाह अर्थात् शाही पार्षद कहलाते थे। बादशाह अपने बार-ए-खास नामक दरबार में अपने सभी दरबारियों : खानों, मलिकों, अमीरों और अन्य रईसों-को बुलाया करता था। सुल्तान बार-ए-आजम (जनसभा हाल) में जो बाद के 'दरबार-ए-आम' की तरह था, राजकाज का अधिकांश कार्य पूरा करता था। यहाँ वह सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में बैठकर निर्णय करता, जनता से दरखास्त लेता और व्यक्तिगत तकलीफों को भी सुनता था तथा इनके लिए आदेश जारी करता था। यहाँ विद्वान मुल्ला और न्यायवेत्ता भी मौजूद रहते थे और बादशाह उनसे परामर्श भी करता था। यहाँ वह विदेशों तथा अधीनस्थ राज्यों के दूतों से भी मुलाकात करता था। 'अमीर-ए-इजीब' (समारोह प्रधान) प्रजा से दरखास्त लेकर बादशाह को प्रस्तुत करता था। इस कार्य में नायब-ए-अमीर-ए-हजीब और हजीब उसकी सहायता करते थे।



क्या आप जानते हैं? सुल्तान ही सेना का प्रधान सेनापति एवं मुख्य न्यायाधीश होता था।

वजीर अथवा मुख्यमंत्री—जब तक बादशाह राजधानी में होता था वह प्रत्यक्ष रूप में सभी विभागों के प्रशासन का उत्तरदायित्व रखता था। उसकी अनुपस्थिति में मुख्यमंत्री या वजीर बादशाह के बदले कार्य संचालन करता था। वह बादशाह का मुख्य सलाहकार था, जो प्रायः गोपनीय और संदिग्ध मामलों में परामर्श देता था। यह साम्राज्य के अंदर किसी असैनिक (सिविल) कर्मचारी को प्राप्त हो सकने वाला उच्चतम पद था। वह वित्तीय विभाग जिसमें दीवान-ए-इसराफ (लेखा परीक्षा विभाग), दीवान-ए-विजारात (राजस्व विभाग), दीवान-ए-इमारत (लोक निर्माण), दीवान-ए-कोही (कृषि विभाग), सम्मिलित थे—के मंत्रियों का प्रभारी था। वह गुप्तचर और डाक विभाग, धर्मार्थ संस्थाओं और कारखानों का भी प्रभारी होता था। इस प्रकार उसके अधिकार व्यापक और सुसंपन्न थे। प्रांतों के सभी गवर्नर (संचालक) उचित परीक्षण के लिए अपने खाते उन्हें प्रस्तुत करते थे। कारखानों के प्रधान की हैसियत से वह सेना को सब सामान जुटाने के लिए उत्तरदायी होता था।



उदाहरण वजीर को छोटा वजीर तथा अन्य अनेक अधिकारीगण जैसे मुस्तफा-ए-मामलिक अथवा महालेखापरीक्षक, मुसरिफ-ए-मामलिक या महालेखाकार, मजुमदार, जो शेष राशि का हिसाब रखता और खाजिन या कोषाध्यक्ष सहायता करते थे।

दीवान-ए-रिसालत : अन्य मंत्रालय—तीन अन्य मंत्री होते थे, अर्थात् दीवान-ए-रिसालत (अपील मंत्रालय), दीवान-ए-अर्जा (सेना मंत्रालय) और दीवान-ए-इंसा (पत्राचार मंत्रालय)। अपील मंत्रालय का मुख्य काम प्रजा की शिकायतें सुनकर बादशाह की तरफ से उन्हें राहत पहुंचाना होता था। वह काजी के फैसले के विरुद्ध अपीलों की भी सुनता था।

आरिज-ए-मामलिक या सेना मंत्री—सेना का मंत्री सैनिकों की भर्ती तथा सेना के साज-सामान जुटाने के लिए उत्तरदायी होता था। युद्ध के समय वह रसद, शस्त्रादि का प्रबंध करता था। किंतु वह प्रधान सेनापति नहीं होता था, जिसे सुल्तान विशेष युद्ध अभियान के लिए नियुक्त करता था। सैन्यनीति से संबंधित सभी मामलों का निर्णय बादशाह स्वयं लेता था, जिसके लिए वह आरिज-ए-मामलिक की सलाह लिया करता था। अभियानों में शाही सेना के हाथ में आने वाले लूट से प्राप्त सामान को भी वही रखता था।

दबीर-ए-खास या पत्राचार मंत्री—दबीर-ए-खास (पत्राचार मंत्री) बादशाह और प्रांतीय गवर्नरों के बीच होने वाले पत्राचार की व्यवस्था रखता था। वह प्राप्त पत्रों को पढ़ता था तथा सुल्तान की ओर से उनके उत्तर का प्रारूप तैयार करता था। बहुधा बादशाह स्वयं भी पत्र लिखवा दिया करता था। बादशाह की अनुमति से दबीर समस्त सरकारी आदेशों, फतहनामों (विजय घोषणाओं) और फरमानों को जारी करता था। उसके पास कार्य में सहयोग के लिए अनेक सचिव और दबीर होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विभाग का स्तर फिरोज तुगलक के समय में नीचा कर दिया गया और इसके बाद यह मंत्रिमंडलीय पद नहीं माना जाने लगा। शायद उसका स्थान न्याय विभाग के प्रमुख द्वारा लिया गया था, फिर बाद में गुलामों के विभाग के नाम से नया विभाग, जो दीवान-ए-बंदगान कहा जाता है, के प्रधान द्वारा संभाला गया।

नोट

काजी-ए-मामलिक : मुख्य न्यायाधीश—वह सुल्तान के बाद सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी था। वह मुख्य अपीलीय न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश होता था। अधीनस्थ न्यायालयों में काजियों के सभी फैसलों, फौजदारी या दीवानी, की अपीलें यहां भेजी जाती थीं। वह राज के धार्मिक मामलों की देखरेख करता था, जिसमें मदरसों की देखभाल और विद्वान तथा जरूरतमंदों, दरवेशों को खैरात (दान) देना भी शामिल है। इस हैसियत में वह सद्र-अल-सदूर समझा जाता था।

अन्य विभाग—इसके अलावा ऐसे ही कई अन्य महत्वपूर्ण विभाग भी थे। एक खुफिया विभाग भी था, जिसका प्रधान बरीद-ए-मामलिक या मुख्य आयुक्त (खुफिया) होता था। उसका काम बादशाह को राज्य में होने वाली सभी घटनाओं की जानकारी देना था। सल्तनत के सभी क्षेत्रीय स्थानों में एक बरीद या संवाददाता रहता था, जो सुल्तान को राज्य के अधिकारियों के कार्यों के विषय में तथा बाजार में कारोबार और अन्य घटनाओं की सूचना देता था। अमीर-ए-कोह कृषि विभाग का अधिकारी होता था। मीर-ए-अमारत भवन निर्माण की देखभाल करता था। मुहम्मद-बिन-तुगलक ने सियासत अथवा दंड विभाग बनाया, जो उसकी योजनाओं के विरोधियों की जांच करता था। फिरोज तुगलक ने खैरात विभाग खोला था, जिससे जरूरतमंद तथा उन निर्धन मुसलमानों की सहायता हो सके जो धनाभाव के कारण अपनी बेटियों की शादी करने में असमर्थ थे। शाही घरेलू विभाग का स्थान महत्वपूर्ण था। इसका अफसर वकील काफी प्रभाव रखता था। वह बादशाह के समस्त घरेलू कार्यों पर नियंत्रण करता था तथा बादशाह के निजी कर्मचारियों को वेतन देता था। वह शाही बावर्चीखाना, शराब विभाग तथा शाही समारोहों का भी इंतजामकार था।

राजधानी दिल्ली का प्रशासन—राजधानी दिल्ली का प्रशासन एक कोतवाल को सौंपा गया था, जो न्यायिक तथा पुलिस कार्य करता था। वह शहर में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी था, किसी अपराध के होने पर अपराधी को पकड़कर न्यायालय के सामने पेश करने का काम भी उसी का था। अलाउद्दीन ने व्यापारियों पर विशेष ध्यान रखने के लिए दीवान-ए-रियासत का पद बनाया था। दीवान बाजारों पर नियंत्रण रखता था तथा माप और तौल का भी निरीक्षण करता था। मुहतासिब शहर के अंदर दूसरा महत्वपूर्ण अधिकारी था। 'इसका कार्य लोगों के सामान्य आचरण का रिकार्ड रखना तथा नैतिक नियमों को लागू करना था।'

प्रांतीय प्रशासन, नायक अथवा गवर्नर—समस्त सल्तनत अनेक प्रांतों में विभाजित थी, प्रत्येक का अधिकारी गवर्नर होता था, जिसे नायब, वली या मुक्ती कहा जाता था। वह बादशाह के द्वारा नियुक्त किया जाता था तथा उसी के द्वारा उसे पदच्युत किया जा सकता था। उसे सैन्य, करसंग्रह तथा न्यायिक कार्य करने होते थे। वह फौजी दस्ते, पैदल सैनिक तथा घुड़सवार रखता था तथा उन्हें अपने प्रांतीय राजस्व से वेतन देता था। वह आवश्यकता के समय केंद्र को फौजी दस्तों की नियत संख्या देता था। वह बाह्य आक्रमणों से प्रांत के बचाव का तथा कानून और व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होता था। वह राजस्व इकट्ठा करने के कार्य की देखभाल करता था तथा प्रशासनिक तथा सैन्य व्ययों के भुगतान के पश्चात् शेष राशि केंद्र को देता था। वह समस्त राजस्व से होने वाली आय का हिसाब दीवान-ए-विजारत को देता था। प्रांतों के अंदर न्यायालयों के अध्यक्ष के रूप में वह उच्चतर प्रांतीय न्यायालयों की अध्यक्षता करता था तथा महत्वपूर्ण मामलों के निर्णय देता था। गवर्नर का वेतन प्रांत के राजस्व का एक निश्चित अंश होता था। किसी घोटाले के संबंध में, जैसाकि समकालीन इतिहासकार **जियाउद्दीन बरानी** ने लिखा है, "वह (मुक्ती) जो धन का घोटाला करे और खाते में गड़बड़ी पैदा करे तथा 'इक्ता' में से निर्धारित अंश से अधिक हथिया ले, बांध कर जेल में डाल दिया जाएगा।" बहुधा दंडस्वरूप किसी गवर्नर को बड़े प्रांत से छोटे प्रांत में तबादला कर दिया जाता था। किंतु इसे नौकरशाही का अंग समझना गलत होगा।

शासन समुचित रूप से केंद्रित नहीं था। वस्तुतः उस समय केंद्रीकरण तथा पूर्ण स्वायत्तता के समर्थकों के मध्य संघर्ष हुआ करता था। प्रांतों में बादशाह के नाम से 'खुतबा' पढ़ा जाता था और उसकी अवहेलना दंड का कारण बनती थी। स्थानीय न्यायालय या गवर्नर के विरुद्ध सुल्तान के यहाँ अपील की जाती थी। इसके अलावा वहाँ बरीद अर्थात् केंद्रीय गुप्तचर विभाग के अधिकारी होते थे, जो प्रांतों में हुई घटनाओं की रिपोर्ट सुल्तान को दिया करते थे। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है गवर्नर को 'दीवान-ए-विजारत' को हिसाब देना होता था, साथ ही किसी प्रकार की

नोट

गड़बड़ी के लिए सफाई भी देनी होती थी। इस अपवाद के अलावा गवर्नर को पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त थी। कुछ मामलों में गवर्नर केंद्र में रहते थे तथा सूबे में उनके कनिष्ठ अफसर ही शासन की देखभाल करते थे।



उदाहरण बलबन, जिसे 'अमीर-ए-हजीब' होने के कारण न्यायालय में मौजूद रहना पड़ता था, अपने प्रांत हांसी और सिवालक की हुकूमत उपशासक के द्वारा करता था।

बड़े प्रांतों में गवर्नर मुख्य शहरों और चौकियों के शासन के लिए विशेष अधिकारियों की नियुक्ति करता था। सचिवालय का प्रधान 'दबीर' या सचिव होता था।

जिला प्रशासन—प्रत्येक प्रांत जिलों (शिकक) में विभाजित था। एक जिले का शासक 'अमील' या 'नजीम' कहा जाता था, एक शहर या सौ गांवों के समूह का शासक 'अमीर-ए-सदा' होता था। उसकी सहायता के लिए कनिष्ठ अफसर और कर्मचारी थे, जिनमें 'मुतसर्रिफ' कारकुन, बलाहर, मुकद्दम, चौधरी, पटवारी, पियादा आदि होते थे। गांवों का शासन सामान्यतः पंचायतों पर छोड़ दिया गया था, जिसका उत्तरदायित्व एक 'मुक्ती' पर होता था।

सामंती राज्य—केंद्र के अधीनस्थ सामंतों या जागीरदार शासकों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त थी, जोकि राजस्व प्राप्त करने तथा न्याय व्यवस्था के संबंध में अपने कानून बनाने के लिए स्वतंत्र थे। फिर भी उन्हें नियमित रूप में अंशदान तथा 'टोल टैक्स' या गैर-मुस्लिम लोगों से 'जजिया' वसूल कर सुल्तान को भेजना पड़ता था। कुछ अपवादों के अलावा उन्हें अपना सिक्का चलाने की अनुमति नहीं थी। ऐसी विशेष परिस्थिति में भी जागीरदार शासक को सुल्तान की प्रभुसत्ता की स्वीकृति में सिक्के पर बादशाह का नाम देना होता था। दक्षिण के कुछ सामंतों ने, जैसा कि रणथंभौर के वलनदेव (1215) और देवगिरि के रामदेव (1296) ने अपने सिक्के जारी किए थे।

खालसा या केंद्र शासित क्षेत्र—प्रांतों के अलावा कुछ 'खालसा' या केंद्र शासित क्षेत्र थे, जिनमें जिले और शहर शामिल थे। इनके प्रभारी अफसर 'अमीर या शाहना' (अधीक्षक) कहलाते थे और सुल्तान द्वारा नियुक्त होते थे। इनका वेतन 'दीवान-ए-वजारत' द्वारा दिया जाता था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

- सरकार में का स्थान सर्वोच्च था।
 (क) वजीर (ख) सुल्तान
 (ग) सेनापति (घ) काजी
- अपील मंत्रालय का मुख्य काम प्रजा की सुनकर बादशाह की तरफ से उन्हें राहत पहुँचाना था।
 (क) सुख (ख) दुख
 (ग) शिकायत (घ) उपदेश
- दबीर-ए-खास, ... तथा प्रांतीय गवर्नरों के बीच होने वाले पत्राचार की व्यवस्था रखता था।
 (क) बादशाह (ख) सेनापति
 (ग) मंत्री (घ) न्यायाधीश
- समस्त सल्तनत अनेक में विभाजित थी।
 (क) जिलों (ख) पंचायतों
 (ग) प्रांतों (घ) देशों

नोट

8.3 मुगलकालीन प्रशासनिक संरचना

(Administrative Structure of Mughal Periods)

मुगलों के आगमन (1526) ने सुल्तानों के द्वारा चलाई गई शासन पद्धति को शीघ्र ही नहीं बदला। प्रथम मुगल बादशाह बाबर के पास पुनर्निर्माण के लिए विचार करने का समय नहीं था। हुमायूँ का पूरा राज्यकाल संघर्षपूर्ण रहा। उसने अपना साम्राज्य ही एक बहादुर और सचेष्ट अफगान नेता शेरशाह के हाथों गंवा दिया तथा अनेक परेशानियों के झेलने पर पंद्रह वर्षों के उपरांत पुनः प्राप्त किया। किसी प्रशासनिक सुधार के लिए शायद ही उसे कोई अवसर मिला था। शेरशाह में ऐसा सामर्थ्य था, किंतु उसका राज्यकाल बहुत संक्षिप्त था। फिर भी, उसके सुधारों ने उत्तराधिकारियों का पथ प्रदर्शन किया है।

बादशाह—उत्तर भारत में सदियों तक मुस्लिम शासन के दौरान किए गए कारनामों से प्राप्त सबक के अनुसार पुनर्निर्माण के कार्य का जिम्मा अकबर को मिला। शेरशाह ने सत्ता के अधिकारों को सम्राट के हाथों में केंद्रित करने की बात पर जोर दिया था, अकबर ने उसे अपनाया। अपने धर्मभीरु पूर्वजों की भांति अकबर ने भी यह माना कि राज्यसत्ता ईश्वरीय देन है। उसके इतिहासकार अबुलफजल का कथन है : “बादशाहत ईश्वर की देन है और यह तब तक नहीं प्रदत्त की जाती है, जबतक कि किसी एक व्यक्ति में कई हजार उत्तम गुण एक साथ ही प्रगट न हो जाएँ।” इस प्रकार बादशाह ‘पृथ्वी पर ईश्वर की छाया’ के रूप में प्रशासन का शीर्षस्थ बिंदु होता था। वह समग्र सैनिक और नागरिक सत्ता का केंद्र था तथा सभी न्यायिक और कार्यपालक मामलों में अपील का उच्चतम न्यायाधिकरण था।

‘वजीर’ या प्रधानमंत्री—सल्तनत काल में बादशाह की सहायता के लिए ‘वजीर’ या प्रधानमंत्री होता था। वह सुल्तान के बहुत से अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को हथिया लिया करता था और इस प्रकार निरंतर सम्राट वजीर और अमीरों के मध्य कलह का कारण बनता था। अकबर ने ‘पूर्ण अधिकारसंपन्न वजीर’ का पद समाप्त कर दिया तथा अपने अधिकारों तथा कार्यों को चार मंत्रियों में बांट दिया, जिनमें दीवान, मीर बख्शी, मीर समन और सदर थे, जिन्हें लगभग बराबर का ओहदा तथा अधिकार प्राप्त थे। उसने किसी भी श्रेणी, ओहदे, कौम या वर्ग से दीवान चुन लिए जाने की प्रथा चलाई।

‘दीवान’ या वित्तमंत्री—दीवान राजस्व तथा वित्त विभागों का प्रधान होता था। **इब्न हसन** ने अपनी पुस्तक ‘सेंट्रल स्ट्रक्चर आफ दि मुगल इंपायर’ में उसके अधिकार तथा कर्तव्यों के बारे में लिखा है कि ‘दीवान’ की नजर राज्य के ऐसे प्रत्येक अफसर पर होती थी जो अपना वेतन जागीर से प्राप्त करता था। अपने राजस्व अधिकारों के अलावा, राज्य के मुख्य कार्यकारी अफसर होने के नाते उसका नियंत्रण प्रांतों तथा प्रांतीय अफसरों पर भी था, जिसमें गवर्नर से लेकर ‘अमील’ और ‘पटवारी’ तक थे। वित्तमंत्री के रूप में उसे प्रत्येक ऐसी पाई (दाम) का हिसाब मालूम रहता था, जो शाही खजाने में आई हो या निकाली जा रही हो। इस प्रकार तीन प्रकार के कार्यों के कारण उसका संबंध अपने अलावा केंद्रीय सरकार के तीनों विभागों में रहता था। उसका संपर्क अमीनों और अमीरों से भी था, चाहे वे अपने पद पर हो या नहीं; साथ ही उसे प्रांतीय प्रशासन के प्रत्येक अंग की जानकारी भी होती थी। सामान्य पर्यवेक्षक की यह जिम्मेवारी उसे राज्य के मंत्रियों में श्रेष्ठ स्थान दे देती थी। वह ‘सूबेदारों, फौजदारों, दीवानों, करोड़ियों, अमीनों, तहसीलदारों, खजांचियों’ आदि की नियुक्ति तथा तबादला भी करता था। इसके अलावा इस विभाग में ही ‘दीवान-ए-खालसा (सुरक्षित या केंद्रशासित इलाकों के लिए)’ ‘दीवान-ए-तान’ वेतन के लिए ‘मुसरिफ’ (लेखा-पाल) और ‘मुस्तौफी’ या लेखा परीक्षक भी थे।

मीर बख्शी—मीर बख्शी के अधिकार और कर्तव्य सुल्तानों के अधीन रहने वाले ‘आरिज-ए-मामलिक’ के समान ही थे, उनके कामों की सूची में से एक विशेष मद हटा दिया गया था। भंडार और शस्त्रागारों पर नियंत्रण का यह मद संचार संबंधी मामलों के साथ मीर समन को सौंप दिया गया था। मनसबदारी प्रथा के चलन से सरकारी सेवाओं में परिवर्तन आया, जिससे वे सैन्य व्यवस्था के समान हो गए। इससे मीर बख्शी का प्रभाव बढ़ गया। जैसा कि **इब्न हसन** ने कहा है, “सैनिक व्यवस्था के अनुसार सेनाओं में भर्ती, किसी अफसर का ओहदा उसके द्वारा रखे गए सैनिकों की संख्या के अनुपात में होना तथा उसके द्वारा वेतन प्राप्ति के लिए एक निश्चित संख्या में घुड़सवार सैनिकों

नोट

का एक अवधि पर प्रस्तुत किया जाना, ऐसी बातें थीं जिससे वजीर और मीर बख्शी के उत्तरदायित्व और सम्मान में समकक्षता आ गई थी। उसके विभाग का काम सभी श्रेणी के मनसबों की नियुक्ति कर आदेश जारी करना था, साथ ही उसमें वकालत 'वजारत' या 'सदारत' जैसे ऊँचे पद भी थे। राजधानी में प्रांतों से आने वाले सभी ऊँचे अफसर तथा दूसरे देशों से आए हुए राजदूतों को वही बादशाह के सामने पेश करता था। राजकाज संबंधी गोपनीय और महत्वपूर्ण बातचीत में बादशाह के साथ उसके दरबार तथा निजी कमरे में भी वह सदैव मौजूद रहता था। प्रांतों से वाक्यानवीस (संवाददाता) अपनी गोपनीय रिपोर्ट उसके पास ही भेजते थे, जिसे वह बादशाह को देता था। सैनिकों के आराम के लिए जरूरी व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व भी उसी का था। जब बादशाह किसी अभियान में बाहर निकलता था तो वह सदैव साथ रहता था। कभी-कभी वह खुद भी कमान संभालता था। इस प्रकार उसके कर्तव्यों के लिए साहित्यिक क्षमता के साथ ही सैनिक गुणों की भी आवश्यकता थी। फिर भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि न तो वह प्रधान सेनापति ही था और न सबको वेतन देने वाला मालिक। प्रत्येक अभियान का सेनापति बादशाह द्वारा नियुक्त किया जाता था। मीर बख्शी का काम आर्थिक मामलों, वेतन का वितरण तथा सैनिकों को कर्ज देने आदि का, जबकि सेना युद्ध क्षेत्र में हो, रहता था। जैसे ही वह मुख्यालय में लौटता उसे कुल लेखाजोखा दीवान को सौंप देना पड़ता था। मीर बख्शी के कामों में सहायता देने के लिए दो या तीन और बख्शी हुआ करते थे।"

मीर समन—'मीर समन' जिसे 'खान समन' भी कहा जाता था, बादशाह की घरेलू व्यवस्था, शाही इमारतों, सड़कों, बागों, भंडारों, कारखानों और खरीद का प्रभारी मंत्री होता था। शाही घरेलू व्यवस्था का प्रभार मंत्री होने के नाते 'मीर समन' की जिम्मेवारी शाही परिवार के लिए जवाहरात से लेकर तोप और तलवार सब कुछ की व्यवस्था करने की थी। वह बादशाह के अभियान के लिए भी जरूरी प्रबंध किया करता था। वह बादशाह की ओर से श्रेष्ठ सेनापतियों और मनसबदारों, कलाकारों तथा विदेशी राजदूतों को दी जाने वाली भेंट का चुनाव भी करता था। मीर समन कारखानों की देख-रेख भी करता था, जहाँ देश के गहने (जेवर) और अन्य विलास सामग्रियों का निर्माण होता था। ये कारखाने राजधानी में तथा प्रांतों में भी स्थित थे। वह राज्य की ओर से सब प्रकार की खरीद करता था, साथ ही राज्य में नमक, हाथी, जवाहरात आदि के एकाधिकार से संबंधित बातों की देख-रेख करता था। किसी अमीर की मृत्यु हो जाने पर यह विभाग नियमानुसार उसकी जायदाद को अपने नियंत्रण में लेकर एक फेहरिश्त तैयार करता था। उसकी सहायता के लिए दीवान-ए-बुतात होता था, जोकि विभाग के वित्तीय अनुभाग को संगठित करता था और जिसे वित्त विभाग से सीधा संबंध रखने की अनुमति थी। मीर समन की सलाह से वह कारखानों की जरूरतों को देखने, वस्तुओं के दाम नियत करने, पुरानी और जीर्ण चीजों को बेचने के निमित्त कार्य करता था। विभाग के मुसरिफ या प्रमुख लेखपाल को उस विभाग की प्रत्येक शाखा के लेखपाल से कार्य में सहयोग मिलता था। कारखाने की प्रत्येक शाखा में एक दारोगा होता था, जो कारीगरों को काम देता था और सामग्रियों की तालिका रखता था। विभाग के अन्य अफसरों में तहसीलदार जो नकदी तथा उस शाखा की जरूरी चीजों का प्रभारी होता था 'मुस्तौफी' जो लेखा परीक्षा करके खर्चों की जांच करता था और 'दारोगा-ए-कचहरी' जो सामान्य प्रशासन का प्रभारी होता था, रहा करते थे। अकबर ने मीर समन की सहायता के लिए एक नाज़िर नियुक्त किया था।

सद्र—मुसलमान न्यायवेत्ताओं के अनुसार सद्र प्रजा और बादशाह के बीच एक संपर्क सूत्र, 'शरा' का निर्वाह करने वाला और उलेमा की ओर से प्रबोधक था। इस प्रकार सिद्धांत रूप में ही सही, सद्र धार्मिक मामलों, खैरात और धार्मिक संस्थाओं का निदेशक तथा न्याय विभाग का प्रधान होता था। वह राज्य में शिक्षा से संबंधित मामलों की देखरेख भी करता था।



सावधानी

वास्तविक रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि सद्र का अधिकार विद्वानों और जरूरतमंद लोगों को जागीर और वजीफा देने तक सीमित था। फिर भी पक्षपात तथा सरकारी धन की गड़बड़ी के कई मामले बादशाह की जानकारी में आए जिसके कारण अकबर को इस विभाग की देखभाल खुद करनी पड़ी। उसने वजीफा देने संबंधी सद्र के अधिकारों को कम कर दिया तथा जो अनुदान दिए गए थे उसमें भी कमी कर दी।

नोट

इस प्रकार उसने महत्वपूर्ण परिवर्तन किया था। यह अनुदान उलेमाओं और मुसलमानों तक ही सीमित नहीं रखे गए बल्कि किसी भी कौम का जरूरतमंद व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता था। सद्र ऐसे सभी मामलों को बादशाह के पास भेजता था, जिस पर बादशाह का निर्णय अंतिम होता था। बाद के वर्षों में अकबर ने सद्र को 'मनसब' देने का चलन आरंभ किया जिससे उसका ओहदा कम होकर राज्य के एक अफसर के समान हो गया। इसके अलावा अकबर ने मुख्य सद्र के अतिरिक्त प्रांतीय सद्रों की नियुक्ति कर दी। इस तरह अनुदान के लिए सिफारिश करने का हक केवल सद्र को नहीं रहा। यही प्रथा जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब तक चलती रही। यहाँ तक कि काजी को भी, जिन्हें पहले अनुदान के रूप में जमीन मिलती थी, शाहजहां और औरंगजेब के समय में 'मनसब' दी जाने लगी थी किंतु फिर भी इन सब मामलों में सद्र से परामर्श किया जाता था। बहुधा एक ही व्यक्ति काजी और सद्र दोनों का पद संभालता था। 'काजी-अल-कजात' के रूप में सद्र अपना दरबार लगाता और न्यायपालिका के अफसरों की नियुक्ति के लिए सिफारिश करता और अपने विभाग के कामों का निरीक्षण करता था। अकबर और औरंगजेब के समय में हम पाते हैं कि मुख्य काजी और सद्र के पदों पर अलग-अलग व्यक्तियों की नियुक्ति की गई। सद्र को 'दीवान-ए-सदात' और कुछ लिपिकों की सहायता प्राप्त थी।

नायब बादशाह का उप-अधिकारी—बहुधा कोई उच्च-अधिकारी बादशाह की मर्जी से उसका उप-अधिकारी नियुक्त किया जाता था, जो सुल्तानों के नायब के समान होता था। उसे 'वकील' कहा जाता था जो वजीर से श्रेष्ठ माना जाता था। 'सेंट्रल स्ट्रक्चर आफ दि मुगल इंपायर' के लेखक इब्न हसन ने स्पष्ट किया है कि यह पद 'केवल दिखावे तथा सम्मान के लिए होता था, वह नाम के लिए अमीरों का प्रधान तो था किंतु प्रशासन का नहीं।' बहुत हद तक यह सही है, किंतु सिद्धांत रूप में वजीर का दर्जा वकील के बाद था और वजीर को सभी ऐसे मामलों को वकील के पास भेजना पड़ता था जो उसकी अधिकार सीमा से ऊपर के होते थे। अबुलफजल ने इसे 'राजसत्ता और राजघराने से संबंधित सभी मामलों के लिए बादशाह का उप अधिकारी' बताया है। इक़राम अपनी पुस्तक 'मुस्लिम सिवलाइजेशन इन इंडिया' में लिखते हैं कि अकबर, जहांगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में, जिसकी अवधि सत्तानवें वर्ष (1560-1657) थी, दस वकील हुए जिनका कार्यकाल कुल मिलाकर उनतालीस वर्ष का रहा था।

न्याय-व्यवस्था—मुगलों ने सुल्तानों के द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया था। बादशाह को सर्वोच्च न्यायाधिकरण की मान्यता थी, उसके बाद मुख्य काजी को जो सद्र का पद भी संभालता था। प्रांतीय राजधानियों, बड़े शहरों और कभी-कभी गांवों में भी इंसाफ करने के लिए काजी हुआ करते थे। ये बादशाह की सहमति से मुख्य काजी के द्वारा नियुक्त किए जाते थे। गांवों में पंचायतों द्वारा भी यही काम होता था। सिविल मामलों में संप्रदाय के अनुसार हिंदू विधि या मुस्लिम विधि का उपयोग होता था। फौजदारी मामलों में न्यायाधीशों को बहुत छूट रहती थी। फौजदारी मामलों में गवर्नर को भी पर्यवेक्षक का सामान्य अधिकार प्राप्त था। **इब्न हसन** लिखते हैं, "वह (गवर्नर) स्वयं न्यायालय में बैठकर मुकद्दमों का फैसला करता था और जिले का फौजदार गिरफ्तार किए गए अपराधियों को वहाँ भेजता था। यह उसके अधिकार क्षेत्र में था कि वह अभियोगों के बारे में जांच करे, शरा के अंतर्गत आने वाले मामलों को काजी के यहाँ भेजे, राजनीतिक मामलों का फैसला स्वयं करे तथा राजस्व संबंधी मामलों को दीवान के पास भेज दे।" फौजदारी तथा असैनिक दोनों प्रकार के मामले बादशाह के पास लाए जा सकते थे, जिसे 'आरंभिक न्यायालय तथा अपीलीय न्यायालय दोनों का अधिकार प्राप्त था।' साधारण मामलों का फैसला बादशाह खुले दरबार में किया करता था, किंतु ऐसे मामले जिसमें गवाहों की गवाही और जिरह की जरूरत होती थी, उन्हें न्याय प्रशासन के लिए निश्चित किसी खास दिन में रखा जाता था। मुगल बादशाह न्याय निर्णय में बड़े निष्पक्ष रहा करते थे, जिसके प्रमाण समकालीन अभिलेखों में होते हैं। सभी मामलों में इस्लामी कानून का सहारा लिया जाता था, हालांकि इसके कुछ अपवाद भी हैं।

कारावास की कोई निश्चित अवधि नहीं होती थी। किसी भी अपराधी को काजी उस समय मुक्त कर देता था, जब वह समझता कि अपराधी को संताप हुआ है। वहाँ कैदियों की दशा अत्यंत असंतोषप्रद थी। नियमित रूप में कोई जेलखाना नहीं था और कैदियों को बांधकर पहरों में रखा जाता था। रईस कैदियों को ग्वालियर या अन्य किसी दुर्ग में भेज दिया जाता था, जहाँ उन्हें बेड़ियों में बांधकर रखा जाता था। उन्हें बादशाह के दौरे पर आने और मुलाकात

नोट

होने पर ही मुक्ति की आशा रहती थी। बादशाह अपने दौरे के समय ऐसे कैदियों के मामलों पर विचार करता और जिसे राज्य के लिए हानिकारक नहीं समझता उसे मुक्त कर देता था।

अन्य केंद्रीय पद—‘मुहतासिब’ या लोक नैतिकता का जांचकर्ता—केंद्र के अन्य महत्वपूर्ण अफसरों में मुहतासिब या लोक नैतिकता का जांचकर्ता होता था। नाप-तोल की जांच तथा मद्यपान और जुआ निषेध के अलावा वह यह भी देखता था कि मुसलमान कुरान के अनुसार नमाज पढ़ना, रमजान में उपवास रखना, शराब से परहेज करना जैसे धार्मिक आचरण रखते हैं या नहीं। औरंगजेब के राज्यकाल में मुहतासिब के अधिकार काफी बढ़ गए थे। उसने धार्मिक नियमों के पालन में कड़ाई की थी, साथ ही उसने बृहस्पतिवार को दरगाहों पर संगीत के साथ दिया जलाना, जीवों की शक्ति के खिलौनों की बिक्री, धार्मिक नियमों में बताए गए आकार से अलग प्रकार की दाढ़ी रखना इत्यादि की मनाही कर दी थी। उसके समय में मुहतासिब को नवनिर्मित हिंदू मंदिरों को तोड़ कर गिरा देने का अतिरिक्त काम भी सौंप दिया गया था।

प्रांतीय प्रशासन—मुगल साम्राज्य, सूबा या प्रांतों में विभाजित था। अकबर के समय में सूबा की संख्या पंद्रह थी जो औरंगजेब के काल में बीस हो गई थी। एक प्रांत के प्रमुख कार्यवाही अफसर या प्रांतीय अफसर को अकबर के समय सिपहसालार तथा बाद में नजीम कहा जाता था, लेकिन वह सूबेदार या सूबा के नाम से अधिक लोकप्रिय था। उसका मुख्य काम प्रांत में कानून और व्यवस्था बनाए रखना तथा शाही फरमानों की तालीम कराना था। वह आंतरिक लड़ाई झगड़ों तथा बलवों को दबाकर शांत किया करता था और बाहरी आक्रमण की स्थिति में केंद्र से सहायता लेता था। वह स्थानीय राजा रजवाड़ों से नजराना भी लिया करता था तथा जरूरत पड़ने पर वसूल करने में दीवान की सहायता करता था। वह इजलास में बैठकर अधिकतर फौजदारी मुकदमों का फैसला भी किया करता था। वह पदोन्नति तथा पुरस्कार के लिए अपने मातहत अफसरों की सिफारिश लिखकर केंद्र को भेजा करता। अपने प्रांत में होने वाली घटनाओं के संबंध में वह केंद्र को साप्ताहिक रिपोर्ट भेजता था। सूबेदार की नियुक्ति के लिए ‘फरमान-ए-साबती’ नामक एक विशेष फरमान जारी किया जाता था, उसके कर्तव्यों के लिए विशेष आदेश ‘हिदायत-उल-कवायद’ जारी होता था। लगभग दो हजार से पांच हजार सिपाहियों को रखने वाले श्रेष्ठ मनसबदारों को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था।



टास्क मीर समन पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

दीवान—प्रांत में दूसरा महत्वपूर्ण अफसर दीवान होता था, जिसका काम राजस्व से संबंधित था। वह शाही दीवान के प्रति उत्तरदायी था और उसी के द्वारा नियुक्त किया जाता था। उसका मुख्य काम अपने अफसरों अमील, तहसीलदार आदि के द्वारा भूमिकर, बिक्रीकर, राहदारीकर, चुंगीकर आदि वसूल कर केंद्र को भेजना था। वह वसूली, उसके लेखे-जोखे तथा लेखा परीक्षा के लिए उत्तरदायी होता था। वह शाही हुक्मत के द्वारा अनुमोदित कार्यों के लिए धन की स्वीकृति भी देता था। जहाँ फसलें मारी जाती वहाँ के लिए राजस्व में छूट देने का अधिकार भी इसे प्राप्त था। वह प्रत्येक पखवारे में अपने सूबे की रिपोर्ट केंद्र को भेजता था। इस प्रकार दीवान वहाँ के सूबेदार पर एक अंकुश स्वरूप था, हालांकि वह मनसबदार के रूप में काफी छोटा अफसर था और कम वेतन पाता था। बुलाए जाने पर उसे सूबेदार के इजलास में उपस्थित होने का अधिकार भी था, अथवा दीवान अपने से वरिष्ठ रूप में सूबेदार को मान्यता नहीं देता था। इन दो अफसरों में बहुधा झगड़ा होने की घटनाएँ हुई हैं, जिनमें केन्द्र को दखल देना पड़ा। कई बार गवर्नर ने खिलाफत की है, किन्तु वह अपने साथ दीवान को सहमत नहीं कर पाता। फिर भी, अकबर द्वारा बड़ी चतुराई से प्रतिबंध और संतुलन के लिए चलाई गई यह प्रथा औरंगजेब काल में अवरुद्ध हो गई, जबकि एक ही व्यक्ति को सूबेदार और दीवान दोनों का पद दिया जाने लगा।

बख्शी—प्रांत में बख्शी दूसरा महत्वपूर्ण अफसर होता था। वह मीरबख्शी का प्रतिनिधि होता था और उसकी राय से नियुक्त किया जाता था। वह प्रांत में फौजी इंतजाम का प्रभारी अधिकारी होता था तथा सैनिकों की भर्ती तथा उनके साज सामान के बारे में दिए गए शाही एलान का पालन करवाया करता था। वह मनसबदारों के द्वारा रखे जाने वाले

नोट

फौजी दस्तों का मुआइना करता था तथा उनके बारे में सालाना रिपोर्ट भी बनाता था। युद्ध के समय वह यह सुनिश्चित करता था कि अफसरों के पास उचित संख्या में सिपाही हैं तथा उनसे सेना की आवश्यकता पूरी हो जाएगी। वास्तविक रूप में अभियान के समय उनका एक प्रतिनिधि भी सेना के साथ होता था। मनसबदारों तथा उनके सिपाहियों के निमित्त भुगतान के लिए बिल पास करने का उत्तरदायित्व भी उसी का था। मुख्य रिपोर्टर या वाकया नगर के रूप में प्रांतीय मामलों के संबंध में नियमित रूप से वह केंद्र को रिपोर्ट भेजा करता था जिसकी सूचना वह प्रत्येक परगना में रखे गए अपने एजेंट से लेता था।

दीवान-ए-बयतत—प्रांत में सरकारी इमारतों, कारखानों तथा सड़कों के रख-रखाव के लिए दीवान-ए-बयतत जिम्मेदार होता था। वह किसी मृत मनसबदार की संपत्ति का भार भी संभालता था और उसकी तालिका बनाकर केंद्र को भेज देता था। जब कभी बादशाह उस प्रांत का दौरा करता तो आराम और देखरेख की जिम्मेदारी भी दीवान-ए-बयतत की होती थी।

अन्य अफसर—प्रांत के अन्य अफसरों में पुलिस और जेल का प्रभारी कोतवाल, लोक नैतिकता को देखने वाला 'मुतासिब' और प्रांत में न्यायपालिका का प्रधान 'काजी' होते थे।

जिला प्रशासन—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, प्रत्येक प्रांत सरकारों (जिलों) में विभाजित था। 'सरकार' का प्रशासनिक प्रधान 'फौजदार' होता था, जोकि जिला स्तर पर 'सूबेदार' के सारे काम करता था। वह बादशाह के द्वारा नियुक्त किया जाता था किन्तु सूबेदार के मातहत होता था। उसके मुख्य कार्यों में कानून की व्यवस्था बनाए रखना, स्थानीय जमींदारों के बलबों को दबाना, अमील के द्वारा राजस्व वसूली में सहायता देना तथा सड़कों की देख-रेख करना शामिल था। जैसा कि इसके नाम से ही जाहिर है वह जिले में रहनेवाली फौज का फौजदार होता था। अमील या अमलगुजार के कर्तव्य भी जिलों में वही होते थे जैसा कि उनके अफसर 'दीवान' के प्रांत स्तर पर होते थे। वह दीवान की प्रत्यक्ष देखरेख में काम करता था तथा जिले के राजस्व विभाग का प्रधान होता था। उसका किसानों से सीधा संपर्क था तथा वह उन्हें अधिक और अच्छी उपज के लिए सहायता देने का प्रयत्न करता था। जब भी जरूरत होती थी वह किसानों को कर्ज देता था तथा उनसे आसान किस्तों में कर्ज वसूल करता था। 'अमील' जमीन की नाप जोख भी करता था तथा उसकी रिपोर्ट वह शाही दीवान को भेजता था। अपने अधिकार क्षेत्र में रहने वाले लोगों की आर्थिक स्थिति, अनाजों के दाम, जागीरदारों द्वारा किए गए विरोधी कार्य आदि के विषय में वह प्रत्येक महीने शाही दरबार को रिपोर्ट भेजा करता था। केंद्र तथा शहरों में रहने वाले लोगों के बीच वह एक मुख्य कड़ी के रूप में था। वह सूबेदार के मातहत काम करता था तथा उसी के द्वारा बर्खास्त किया जा सकता था।

कोतवाल—जिला स्तर पर दूसरा मुख्य अधिकारी कोतवाल होता था। कानून व्यवस्था बनाए रखना, फौजदारी मुकदमों की सुनवाई, जमाखोरी रोककर बाजार में अनाजों का भाव ठीक बनाए रखना और सरकार से जाने वाले और आने वाले लोगों पर नजर रखना उसके मुख्य कर्तव्य थे। वह तौल की जांच करके अपराधी को सजा देता था। जिले में विभाग के प्रधान के रूप में अपने न्यायिक कर्तव्यों के अलावा, काजी केंद्र के सदर-अल-सूदूर के स्वीकृत 'मदद-ए-माश' के भुगतान का भी ध्यान रखता था। वह मुसलमानों की जुम्मे की नमाज का मुखिया होता था तथा शादियां भी करवाया करता था। औरंगजेब के राज्यकाल में जकात तथा जजिया की वसूली की भी देखरेख करता था।

परगना प्रशासन—जिलों को परगना में बांट दिया गया था। प्रत्येक जिला तीन मुख्य अधिकारियों—शिकदार, अमीन और कानूनगो द्वारा नियंत्रित किया जाता था। फौजदार और कोतवाल के कार्य संयुक्त कर दिए गए थे, उसका मुख्य कार्य कानून व्यवस्था बनाए रखना, फौजदारी मामलों की सुनवाई तथा राजस्व वसूली में अमीन की मदद करना था। वस्तुतः परगना एक राजस्व इकाई था। यहाँ का राजस्व मुकदम द्वारा खजाने में जमा किया जाता था (विशेषकर ग्राम सरपंच या पंचायत के प्रधान द्वारा) या स्वयं किसान भी राजस्व जमा कर दिया करते थे। अमील और कानूनगो राजस्व अधिकारी थे जो सर्वेक्षण करके राजस्व निर्धारित करते और उसे एकत्र करते थे। कुछ परगनों में काजी मुकदमों का फैसला करता था।

नोट

ग्राम—प्रत्येक परगना में कई गाँव होते थे। गांव स्वायत्त इकाई होता था। जहाँ सरकारी हस्तक्षेप के बिना अपने मामलों का निपटान स्वयं कर लिया जाता था। प्रत्येक गांव की अपनी एक परिषद् या पंचायत होती थी। गांव अपना प्रधान स्वयं चुन लिया करता था, जो गांव तथा सरकार के मध्य एक कड़ी के रूप में होता था। वह किसानों से राजस्व एकत्र करके खजाने में जमा किया करता था। विलंब होने पर सरकार उससे स्पष्टीकरण मांगती थी। राजस्व का 2½ प्रतिशत वह अपने शुल्क के रूप में रख लेता था। पटवारी या ग्राम लेखापाल उसके मातहत काम करता था तथा फसलवाले खेतों और किसानों के पास बकाया राजस्व का हिसाब रखता था। पंचायत के द्वारा सिंचाई, शिक्षा तथा ग्रामीणों के धार्मिक और नैतिक चरित्र का ध्यान रखता था। यह मेले तथा त्यौहारों के मनाए जाने की व्यवस्था करता था और कानून तथा व्यवस्था बनाए रखना भी इसका उत्तर-दायित्व था। पंचायत को न्यायाधिकरण के रूप में मामलों का फैसला करने का भी अख्तियार था। इस प्रकार पंचायतों के अधिकार का एक व्यापक परिवेश था, जिसके प्रभाव स्वरूप विदेशी पर्यटकों ने इसे 'लघु गणतंत्र' (लिटल रिपब्लिक्स) कहकर पुकारा है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. सल्तनत काल में राजा की सहायता के लिए वजीर या प्रधानमंत्री होता था।
10. दीवान राजस्व तथा वित्त विभाग का प्रधान होता था।
11. मीरसमन को सद्र भी कहा जाता था।
12. मुगल-साम्राज्य सूबा या प्रांतों में विभाजित था।

8.4 सारांश (Summary)

- सुल्तानों तथा मुगल बादशाहों के अधीनस्थ राज्यों के स्वरूप के संबंध में विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। इस संबंध में विवाद रहा है कि ये राज्य इस्लामी थे या धर्मराज्य।
- एक सुसंगठित समुदाय के रूप में मुसलमानों का, इस्लाम धर्म-नियम-शरीअत-के अनुसार कुछ कार्य और उत्तरदायित्व हैं। ये नियम कुरान पाक में निहित सिद्धांतों तथा सूत्रों पर आधारित हैं जो खुदा के शब्द के रूप में शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय हैं। इसलिए शरीअत सर्वोच्च रहा है तथा कोई भी सम्राट उसके विरुद्ध जाने की हिम्मत नहीं कर सका।
- मध्यकालीन भारत में सरकार की प्रशासनिक संरचना मुख्यतः फारसी अरबी पद्धति पर आधारित थी किंतु सैन्य संगठन तुर्क मंगोल पद्धति से किया गया था, जबकि हिंदुओं की भूराजस्व पद्धति को भी कायम रखा गया था। इस प्रकार प्रशासनिक पद्धति मिश्रित ढंग की थी।
- मुगलों के आगमन (1526) ने सुल्तानों के द्वारा चलाई गई शासन पद्धति को शीघ्र ही नहीं बदला। प्रथम मुगल बादशाह बाबर के पास पुनर्निर्माण के लिए विचार करने का समय नहीं था। हुमायूँ का पूरा राज्यकाल संघर्षपूर्ण रहा। फिर भी, उसके सुधारों ने उत्तराधिकारियों का पथ-प्रदर्शन किया है।
- अपने धर्मभिरू पूर्वजों की भाँति अकबर ने भी यह माना कि राज्यसत्ता ईश्वरीय देन है। उसके इतिहासकार अबुलफजल का कथन है : “बादशाहत ईश्वर की देन है और यह तब तक नहीं प्रदत्त की जाती है, जबतक कि किसी एक व्यक्ति में कई हजार उत्तम गुण एक साथ ही प्रगट न हो जाएँ।” इस प्रकार बादशाह ‘पृथ्वी पर ईश्वर की छाया’ के रूप में प्रशासन का शीर्षस्थ बिंदु होता था।

नोट

8.5 शब्दकोश (Keywords)

- दीवान-ए-इसराफ़-वित्तीय विभाग का लेखा परीक्षा विभाग।
- दीवान-ए-कोही-कृषि विभाग।
- शिक्क-जिला।
- वाकयानवीस-संवाददाता।

8.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. मुगलकालीन राज्यों के स्वरूप या प्रकृति का वर्णन करें।
2. सल्तनत काल की प्रशासनिक संरचना का उल्लेख करें।
3. मुगलकालीन प्रशासनिक संरचना का विस्तृत वर्णन करें।
4. टिप्पणी लिखें—
(क) मुगलकालीन न्याय-व्यवस्था (ख) सल्तनत कालीन प्रांतीय प्रशासन।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|----------------|---------------|---------------|-----------------|
| 1. खलीफा | 2. बादशाहत | 3. फारसी-अरबी | 4. शेरशाह |
| 5. (ख) सुल्तान | 6. (ग) शिकायत | 7. (क) बादशाह | 8. (ग) प्रांतों |
| 9. सत्य | 10. सत्य | 11. असत्य | 12. सत्य |

8.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
2. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
3. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
4. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
5. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-9 : अठारहवीं सदी के उत्तरवर्ती राज्य (Successor States of 18th Century)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 हैदराबाद (Hyderabad)

9.2 बंगाल (Bengal)

9.3 अवध (Awadh)

9.4 मराठे (Marathas)

9.5 आर्थिक और सामाजिक स्थिति (Economic and Social Condition)

9.6 सारांश (Summary)

9.7 शब्दकोश (Keywords)

9.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

9.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- हैदराबाद एवं बंगाल राज्य को जानने में;
- अवध एवं मराठा को जानने में;
- आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मुगल-साम्राज्य के खण्डों से भारत में विभिन्न स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ। उनमें से कुछ बहुत शक्तिशाली बने। इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य का निर्माण मराठों ने किया। छत्रपति शाहू के प्रथम तीन पेशवाओं ने मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। वस्तुतः मुगलों के पश्चात् भारत की राजसत्ता मराठों के हाथों में गयी। मराठों की एक बहुत बड़ी भूल यह रही कि उन्होंने स्वयं भारत की सार्वभौमिक सत्ता को स्पष्ट रूप से अपने हाथों में नहीं लिया और न उसके अनुकूल भारत के शासन का उत्तरदायित्व लिया। वे मुगल बादशाह को अपना पेंशनर (गुजारा भत्ता पाने वाला) बनाने मात्र से ही सन्तुष्ट हो गये अन्यथा केवल वे ही भारत की सत्ता का उपभोग करने की क्षमता रखते थे। अठारहवीं सदी, निस्सन्देह, भारत में मराठों की श्रेष्ठता की सदी थी। मराठों के अतिरिक्त दक्षिण-भारत में निजाम-उल-मुल्क ने हैदराबाद में एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया और उसके

नोट

पश्चात् हैदरअली ने मैसूर के दृढ़ राज्य का निर्माण किया। उत्तरी भारत में औरंगजेब की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा में एक धनवान एवं शक्तिशाली स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हुआ। अवध के विस्तृत राज्य का निर्माण सआदतख़ाँ बुरहानमुल्क ने किया और अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में रणजीतसिंह ने पंजाब, कश्मीर तथा उत्तर-पश्चिमी भारत के अधिकांश भाग को विजय करके सिखों के शक्तिशाली राज्य का निर्माण करने में सफलता पायी। छोटे राज्यों में कर्नाटक, रुहेलखण्ड और भरतपुर के राज्य प्रमुख रहे। राजस्थान में राजपूतों के स्वतन्त्र राज्य थे परन्तु वे आपस में निरन्तर झगड़ते रहे और उनमें कोई भी राजपूतों के गौरव को पुनः स्थापित न कर सका। ये सभी बड़े और छोटे राज्य आन्तरिक दुर्बलताओं से ग्रस्त रहे। इनमें से कोई भी भारत को राजनीतिक और आर्थिक स्थिरता प्रदान न कर सका। इनके सभी शासकों की विचारधारा मध्ययुगीन रही। कोई भी भारत को आधुनिक विचार और साधन उपलब्ध कराने में सफल न रहा। इस कारण इन राज्यों के शासकों ने अपनी प्रजा पर शासन करने का नैतिक अधिकार खो दिया। वे न तो स्वयं अपनी रक्षा कर सके और न ही अपने नागरिकों के सम्मान और आर्थिक साधनों की। इस कारण धीरे-धीरे सभी अंग्रेजों से परास्त हुए। इनमें से कुछ के राज्य छोटे कर दिये गये और कुछ अन्यो के समाप्त कर दिये गये। जिन राज्यों का अस्तित्व बना रह सका, वे सभी अंग्रेजों के अधीन राज्य रहे। अन्त में भारत की सार्वभौमिक सत्ता अंग्रेजों के अधीन हो गई।

9.1 हैदराबाद (Hyderabad)

पहली बार दक्कन में स्वतन्त्र राज्य का सपना जुल्फिकार ख़ाँ ने देखा था। 1708 में बहादुरशाह ने उसे दक्कन का सूबेदार बनाया था। जुल्फिकार ख़ाँ दक्कन का कार्य अपने नायब दारुद ख़ाँ द्वारा चलाता रहा और 1713 में उसकी मृत्यु हो गई। अतः दक्कन को एक स्वतन्त्र राज्य बनाने की जुल्फिकार ख़ाँ की योजना भी समाप्त हो गई। दक्कन सूबा मीर कमरुद्दीन चिनकिलिचख़ाँ के अधीन एक स्वतन्त्र राज्य बना, जो **निजाम-उल-मुल्क** के नाम से अधिक प्रसिद्ध था।

निजाम-उल-मुल्क के दादा बुखारा का ख्वाजा आबिद शेखुल इस्लाम 17वीं सदी में भारत आया था और उसने मुगलों के यहाँ नौकरी कर ली थी। निजाम-उल-मुल्क का पिता गाजीउद्दीन फिरोजजंग भी औरंगजेब के शासनकाल में भारत आया था और मुगलों के अधीन कई राजकीय पदों पर रहा। स्वयं निजाम को 13 वर्ष की उम्र में एक छोटा-सा पद प्राप्त हुआ। मीर कमरुद्दीन ने शीघ्र ही उन्नति की और उसे 'चिनकिलिचख़ाँ' की उपाधि मिली। फलतः उसे चिनकिलिचख़ाँ के नाम से जाना जाने लगा। औरंगजेब की मृत्यु के अवसर पर चिनकिलिचख़ाँ बीजापुर में था। उसने औरंगजेब के पुत्रों में सिंहासन के लिए हुए उत्तराधिकार के युद्ध में कोई भाग नहीं लिया। उस युद्ध में बहादुरशाह प्रथम ने अपने विरोधियों को समाप्त करके मुगल सिंहासन को प्राप्त किया। उसने चिनकिलिचख़ाँ को दक्षिण-भारत से हटाकर अवध का सूबेदार नियुक्त किया। बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् मुगल शाहजादों में सिंहासन के लिए पुनः युद्ध हुआ। उस अवसर पर चिनकिलिचख़ाँ ने जहाँदारशाह के विरुद्ध फर्रुखसियर को सहायता दी। फर्रुखसियर मुगल बादशाह बनने में सफल हुआ। चिनकिलिचख़ाँ को उसकी सेवाओं के उपलक्ष में बादशाह फर्रुखसियर ने दक्षिण-भारत के छह सूबों की सूबेदारी तथा 'खानखाना' और 'निजाम-उल-मुल्क बहादुर फतहजंग' की उपाधियाँ प्रदान कीं। उसी समय से चिनकिलिचख़ाँ ने दक्षिण-भारत में अपने स्वतन्त्र राज्य के निर्माण की आकांक्षा की। 1715 ई. में उसे पुनः दिल्ली बुलाया गया। इस प्रकार उसका पहला दक्कन के वायसराय के रूप में कार्यकाल 1713-1715 तक रहा। उसके स्थान पर 1715 में दक्कन का वायसराय सैयद हुसैन अली को नियुक्त किया गया।

पहले उसे मुरादाबाद का सूबेदार बनाया गया और उसके पश्चात् उसे मालवा की सूबेदारी दी गयी। मुगल बादशाह फर्रुखसियर उस समय सैयद-भाइयों के हाथों में कठपुतली बना हुआ था। चिनकिलिचख़ाँ उर्फ निजाम-उल-मुल्क ने मालवा में अपनी शक्ति का विस्तार किया। इस कारण सैयद-भाई उससे ईर्ष्या करने लगे और उन्होंने उसे मालवा की सूबेदारी से वंचित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने दिलावरख़ाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। निजाम-उल-मुल्क ने इसका विरोध किया और दिलावरख़ाँ को एक युद्ध में मार डाला। उसने बुरहानपुर व असीरगढ़ के किलों पर भी अधिकार कर लिया। हुसैन अली उसके विरुद्ध सेना लेकर बढ़ने की तैयारी करते समय मारा गया।

नोट

हुसैन अली के वध के पश्चात् चिनकिलिचखॉ का भाग्य पुनः उदित हुआ और 1720 में दूसरी बार दक्कन का सूबेदार बना और 1722 तक रहा।

सैयद-भाइयों ने मुगल बादशाह फर्रुखसियर का कत्ल करने में सफलता पायी तथा मुहम्मदशाह को बादशाह बनाया। मुहम्मदशाह ने सैयद-भाइयों को समाप्त कर दिया। 1721 में दिल्ली के वजीर अमीनखॉ की मृत्यु होने पर निजाम को दिल्ली बुलाया गया और फरवरी 1722 में उसे वजीर के पद पर नियुक्त कर दिया गया। दिल्ली में निजाम-उल-मुल्क ने सुव्यवस्था स्थापित करने की कोशिश की किन्तु सम्राट मुहम्मदशाह के कामुक दरबारी उसके परामर्शों को अस्वीकार करवा देते थे। उसके कठोर अनुशासन ने लोगों के हृदय में उसके प्रति ईर्ष्या और द्वेष की भावना उत्पन्न कर दी। फलतः दुःखी मन से निजाम दिसम्बर 1723 में बिना सम्राट की अनुमति के दक्कन के लिए चला गया।

सम्राट मुहम्मदशाह को बहुत बुरा लगा और सम्राट के सलाहकारों ने उसे विश्वास दिला दिया कि यह निजाम का सम्राट के विरुद्ध विद्रोह है। मुहम्मदशाह ने हैदराबाद के नवीन सूबेदार मुबारिकखॉ को दक्कन का पूर्णरूपेण वायसराय बनाकर आदेश दिया कि निजाम को परास्त करके जीवित या मृत उपस्थित करे। निजाम मुबारिकखॉ से अधिक शक्तिशाली था और उसने अक्टूबर 1724 में 'शकूरखेड़ा के युद्ध' में मुबारिकखॉ को हराकर मार डाला। सम्राट मुहम्मदशाह बेबस दिल्ली में बैठे यह सब देखकर भी कुछ भी करने की स्थिति में नहीं था। उसने अपनी बाह्यरूपेण मर्यादा बनाये रखने के लिए निजाम को दक्कन का सूबेदार नियुक्त करते हुए 'आसफ़जाह' की उपाधि दे दी, जिसे अब तक उसके उत्तराधिकारी धारण करते थे। इस प्रकार 1725 ई. में निजाम ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। उसी समय से दक्षिण-भारत में हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य की नींव पड़ी और हैदराबाद नगर उसकी राजधानी बना। निजाम ने पूर्ण स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन किया यद्यपि उसने अपने नाम के सिक्के नहीं चलाये और न राजछत्र को ग्रहण किया।

दक्षिण-भारत में निजाम के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मराठे सिद्ध हुए। पेशवा बाजीराव के नेतृत्व में मराठे निजाम की शक्ति को सीमित रखने और उससे चौथ व सरदेशमुखी नामक कर वसूल करने के लिए कटिबद्ध रहे। निजाम ने उनके विरुद्ध कूटनीति और शक्ति दोनों का ही प्रयोग किया। उसने मराठों में फूट डालने का प्रयत्न किया, उसने चौथ व सरदेशमुखी देने से इन्कार किया और मराठा सेनापति त्रिम्बकराव को पेशवा बाजीराव प्रथम के विरुद्ध भड़काया। परन्तु बाजीराव उससे अधिक सफल सेनापति सिद्ध हुआ। उसने निजाम को 1728 ई. में 'पालखेड के युद्ध' में और पुनः 1738 ई. में भोपाल के निकट एक अन्य युद्ध में परास्त किया। दोनों बार निजाम को सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा और दोनों ही अवसरों पर उसने मराठों को चौथ व सरदेशमुखी देने का वायदा किया। इस प्रकार पेशवा बाजीराव निजाम की शक्ति को सीमित रखने में समर्थ हुआ। निजाम को नादिरशाह के आक्रमण के समय सम्राट ने 1739 में दिल्ली बुला लिया था। उसने सम्राट के साथ नादिरशाह के विरुद्ध 'करनाल के युद्ध' में भाग लिया। निजाम ने नादिरशाह से दो बार भेंट भी की थी परन्तु वह नादिरशाह से समझौता कराने में असफल रहा और हैदराबाद वापस आ गया। उसके पश्चात् निजाम ने कभी भी दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया। 1748 ई. में 77 वर्ष की आयु में निजाम-उल-मुल्क आसफ़जाह की मृत्यु हुई। वह न केवल हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक ही था अपितु दक्षिण-भारत के तत्कालीन शासकों में योग्यतम भी था।



नोट्स सिडनी ओवन ने कहा है कि "निजाम-उल-मुल्क एक चालाक, कूटनीतिज्ञ और अवसरवादी था।"

हैदराबाद के निजाम

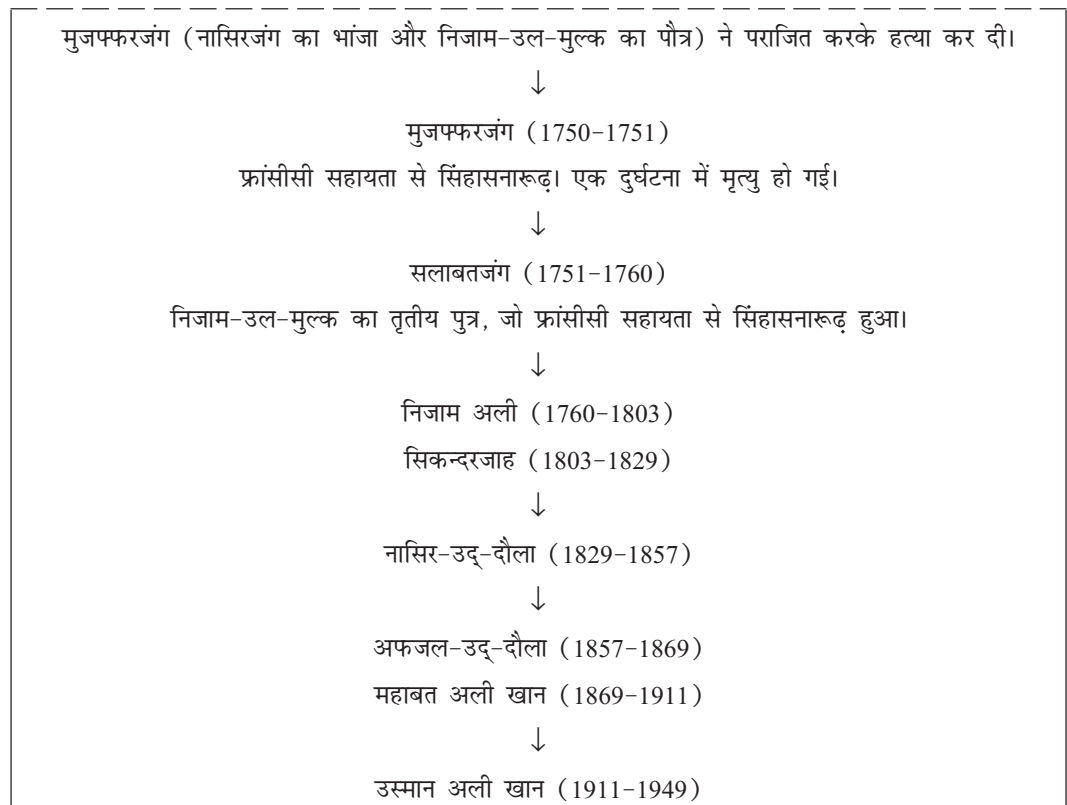
निजाम-उल-मुल्क आसफ़जाह (1724-1748)



नासिरजंग (1748-1750)



नोट



निजाम-उल-मुल्क की मृत्यु के पश्चात् हैदराबाद राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र नासिरजंग और पोते मुजफ्फरजंग में गद्दी के लिए संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में नासिरजंग ने अंग्रेजों से सहायता ली और मुजफ्फरजंग ने फ्रांसीसियों से सहायता प्राप्त की जिसके परिणामस्वरूप इन विदेशी शक्तियों को हैदराबाद के निजाम राज्य या निजामशाही में अपने प्रभाव को बढ़ाने का अवसर मिला। हैदरअली के नेतृत्व में मैसूर राज्य की शक्ति का विस्तार हुआ और मराठों की शक्ति भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। इन दोनों शक्तियों ने भी हैदराबाद के राज्य के लिए कठिनाइयाँ उपस्थित कीं। वस्तुतः निजाम-उल-मुल्क की मृत्यु के पश्चात् हैदराबाद के शासकों की दक्षिण-भारत की राजनीति में जो भूमिका रही वह असम्मानजनक थी। हैदराबाद का कोई भी शासक योग्य सिद्ध न हुआ। उन्हें इसका परिणाम भी भुगतना पड़ा।



उदाहरण 1798 ई. में हैदराबाद के तत्कालीन निजाम, निजाम अली ने वैलेजली की सहायक-सन्धि (निजामों ने ही सर्वप्रथम सहायक संधि को स्वीकार किया) को स्वीकार कर लिया। उस समय से हैदराबाद के शासक अंग्रेजों पर आश्रित हो गये।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. अठारहवीं सदी, भारत में मराठों की की सदी थी।
2. पहली बार दक्कन के स्वतंत्र राज्य का सपना खाँ ने देखा था।
3. औरंगजेब की मृत्यु के समय बीजापुर में था।
4. सैयद भाइयों ने मुगल बादशाह का कत्ल करवाकर मुहम्मदशाह को बादशाह बनाया।

9.2 बंगाल (Bengal)

नोट

औरंगजेब की मृत्यु के कुछ वर्षों के पश्चात् बंगाल में भी एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हो गया। उसकी मृत्यु के अवसर पर मुर्शिदकुली खाँ बंगाल का नाइब-निजाम और उड़ीसा का सूबेदार था। 1717 ई. में मुगल बादशाह फर्रुखसियर ने उसे बंगाल का भी सूबेदार नियुक्त किया और उसे 'मुत्तात-उल-मुल्क अलाउद्दीन जफरखाँ बहादुर नासिरी नासिरजंग' के पद से विभूषित किया। 1719 में फर्रुखसियर ने उसे उड़ीसा का भी वायसराय बना दिया। उस समय बिहार भी बंगाल की सूबेदारी में सम्मिलित था। इस कारण मुर्शिदकुली खाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार बन गया। वह केवल नाममात्र के लिए मुगल बादशाह की अधीनता को स्वीकार करता था। वस्तुतः उसने एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार किया। मुर्शिदकुली खाँ एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने बंगाल की राजधानी को ढाका से बदलकर 'मुर्शिदाबाद' कर दिया। उसकी मुख्य सफलता अपने राज्य को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने में रही। उसने सभी जागीरदारी भूमि को राज्य के अधीन कर लिया और लगान वसूल करने के लिए भूमि ठेकेदारों को दी। इससे राज्य की आय में वृद्धि हुई। यही वे ठेकेदार थे जो बाद में जमींदार कहलाये और जिनको लॉर्ड कार्नवालिस ने अपने स्थायी बन्दोबस्त के द्वारा भूमि का स्वामी बनाया। मुर्शिदकुली खाँ ने व्यापार और उद्योग को भी प्रोत्साहन दिया जिससे राज्य में सम्पन्नता की वृद्धि हुई। वह स्वयं चरित्रवान भी था। उसने अपने विलास पर धन व्यय नहीं किया। इन सभी कारणों से वह बंगाल, बिहार और उड़ीसा के राज्य को धनवान बनाने में सफल हुआ। जून 1727 ई. में मुर्शिदकुली खाँ की मृत्यु हुई।

मुर्शिदकुली खाँ का कोई पुत्र न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका दामाद शुजाउद्दीन मुहम्मद खाँ गद्दी पर बैठा। शुजाउद्दीन मुहम्मद खाँ एक योग्य शासक था। उसने अपने राज्य को शासन की सुविधा के लिए चार भागों में बाँटा, राज्य को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाया, न्याय की उचित व्यवस्था की और अपनी प्रजा की भलाई का प्रयत्न किया। शुजाउद्दीन के शासनकाल में ही बिहार सूबा 1733 में बंगाल में मिला लिया गया। अलीवर्दीखाँ को बिहार का नायब सूबेदार बनाकर भेजा गया। परन्तु उसके व्यक्तिगत चरित्र में कुछ दुर्बलताएँ थीं जिनके कारण उसके शासन के अन्तिम वर्षों में राज्य के शासन में दोष उत्पन्न हो गये और राज्य की शक्ति कुछ स्वार्थी व्यक्तियों के एक गुट में एकत्रित हो गयी। इस गुट में अलीवर्दीखाँ का भाई हाजी अहमद, आलमचन्द और जगत-सेठ फतेहचन्द सम्मिलित थे। मार्च 1739 ई. में शुजाउद्दीन मुहम्मद खाँ की मृत्यु हो गयी।



सावधानी

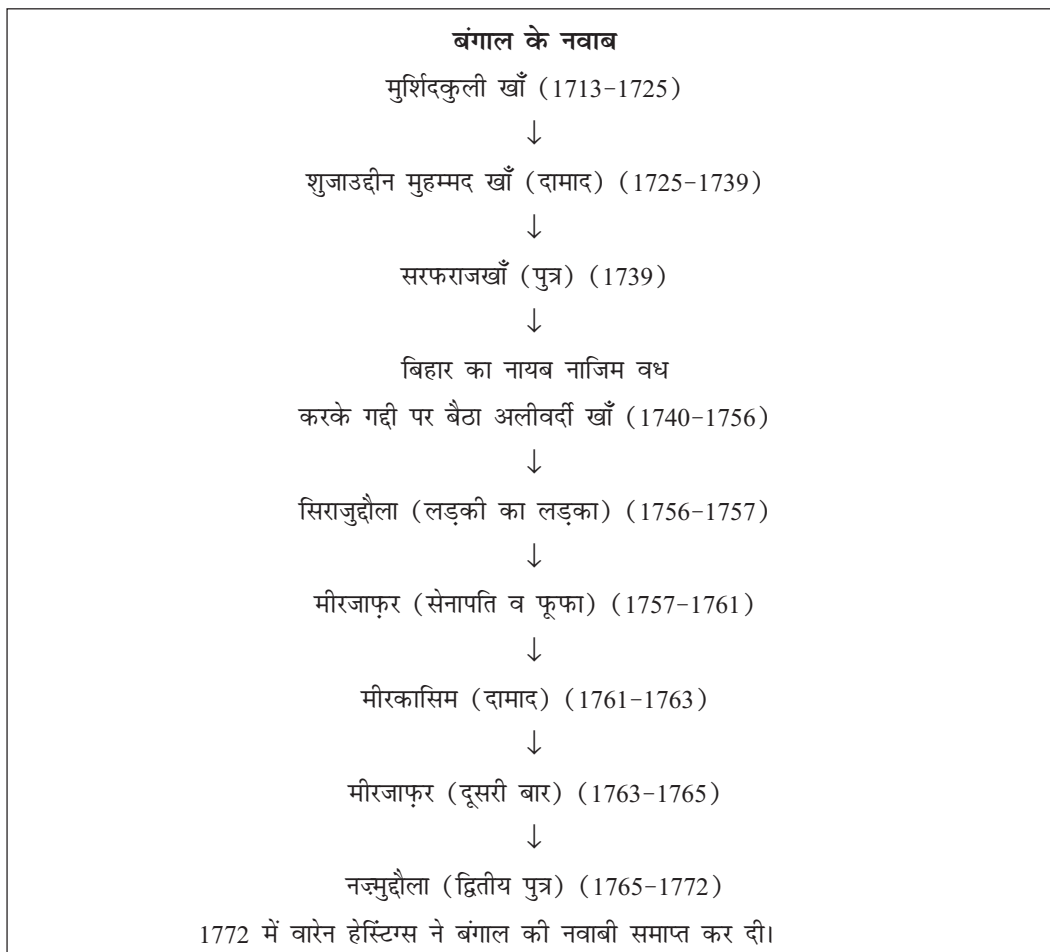
शुजाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सरफराजखाँ गद्दी पर बैठा। वह विलासप्रिय था और उसने शासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस कारण उसके पिता के अन्तिम वर्षों में गठित स्वार्थी व्यक्तियों के गुट ने राज्य-शक्ति अपने हाथों में ले ली। सरफराजखाँ को अपनी असावधानी का मूल्य चुकाना पड़ा।

उसके दरबार में गठित प्रभावशाली गुट का एक प्रमुख सदस्य हाजी अहमद था। हाजी अहमद का भाई अलीवर्दीखाँ बिहार का नाइब-सूबेदार था। सरफराजखाँ की असावधानी और अपने भाई हाजी अहमद का समर्थन प्राप्त करके अलीवर्दीखाँ ने बंगाल के राज्य को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया। उसने मुर्शिदाबाद पर आक्रमण किया। 10 अप्रैल, 1740 ई. को राजमहल के निकट 'गिरिया' नामक स्थान पर एक युद्ध में सरफराजखाँ मारा गया और बंगाल की गद्दी पर अलीवर्दीखाँ का अधिकार हो गया। उसने मुगल बादशाह से भी 2 करोड़ रुपये सम्राट को नजराने के रूप में देकर इस अधिकार की स्वीकृति प्राप्त कर ली।

अलीवर्दीखाँ एक योग्य शासक था। उसने बंगाल को एक शक्तिशाली राज्य बनाने का प्रयत्न किया परन्तु उसके कार्य में दो बाधाएँ उपस्थित हुईं। 1748 ई. में ही वह अफगानों की शक्ति को नष्ट करने में सफल हो सका। उसके कार्य में दूसरी कठिनाई मराठों के आक्रमणों ने उपस्थित की। इस अवसर पर मराठे भारत के सभी भागों पर आक्रमण कर रहे थे। उन्होंने बंगाल पर आक्रमण किया तथा अलीवर्दीखाँ ने 12 लाख रुपया प्रति वर्ष मराठों को चौथ के रूप में और उड़ीसा के एक भाग का राजस्व देना स्वीकार करके उनसे 1751 में सन्धि कर ली। मराठों ने अपनी तरफ

नोट

से वायदा किया कि जब तक उन्हें यह धनराशि मिलती रहेगी तब तक वे बंगाल की सीमाओं में प्रवेश नहीं करेंगे। उसने अंग्रेजों को कलकत्ता और फ्रांसीसियों को चन्द्रनगर के अपने-अपने कारखानों की किलेबन्दी करने से भी रोका था। 10 अप्रैल, 1756 ई. को अलीवर्दीख़ाँ की मृत्यु हो गयी।



अलीवर्दीख़ाँ की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। सिराजुद्दौला ने अपने विरोधियों को नष्ट किया और बंगाल के शासन को दृढ़ किया, परन्तु उसके शत्रुओं की संख्या अधिक हो गयी। उसका झगड़ा अंग्रेजों से भी हुआ। अंग्रेज उसके राज्य में बिना कर दिये हुए व्यापार करते थे, उसके शत्रुओं को शरण देते थे तथा उसकी आज्ञा के विरुद्ध कलकत्ता के किले को दृढ़ कर रहे थे। सिराजुद्दौला ने उनके इन कार्यों में बाधा डाली। अंग्रेजों ने उसके शत्रुओं से मिलकर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया। इस शत्रुता का अन्तिम परिणाम जून 1757 ई. में लड़ा गया **प्लासी का युद्ध** था। युद्ध में सिराजुद्दौला की पराजय हुई। बाद में उसे मार डाला गया। अंग्रेजों ने उसके एक सम्बन्धी मीरजाफ़र को बंगाल का नवाब बनाया। 1760 ई. में अंग्रेजों ने मीरजाफ़र को गद्दी से हटाकर मीरकासिम को गद्दी पर बैठाया, परन्तु मीरकासिम का भी अंग्रेजों से झगड़ा हुआ। मीरकासिम को बंगाल से भागना पड़ा। उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सहायता ली। शुजाउद्दौला ने मीरकासिम की ओर से 1764 ई. में अंग्रेजों से **बक्सर का युद्ध** किया। उसकी पराजय हुई। बंगाल का शासन उस समय से अंग्रेजों के हाथ में चला गया। अंग्रेजों ने कुछ वर्षों तक नाममात्र के नवाब को बंगाल का शासक रहने दिया। अन्त में 1772 ई. में उन्होंने बंगाल, बिहार और उड़ीसा का शासन प्रत्यक्षतः अपने हाथों में ले लिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. हैदरअली के नेतृत्व में मैसूर राज्य की शक्ति का हुआ।
 (क) हास (ख) विस्तार
 (ग) लाभ (घ) हानि
6. 1719 में बिहार भी की सूबेदारी में सम्मिलित था।
 (क) अवध (ख) उड़ीसा
 (ग) बंगाल (घ) मैसूर
7. मुर्शिदाकुली खाँ बंगाल की राजधानी को ढाका से बदलकर कर दिया।
 (क) मुर्शिदाबाद (ख) मुरादाबाद
 (ग) अहमदाबाद (घ) निजामाबाद
8. अलीवर्दी खाँ की मृत्यु के बाद उसका पौत्र सिराजुद्दौला का नवाब बना।
 (क) अवध (ख) बंगाल
 (ग) मैसूर (घ) बिहार।

9.3 अवध (Awadh)

अवध-राज्य में अवध की सीमाओं के अतिरिक्त पूर्व में कानपुर, इलाहाबाद और बनारस तक के जिले तथा पश्चिम में वर्तमान पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के भी कुछ जिले सम्मिलित थे। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के शासनकाल में अवध के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हुआ। अवध के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक सआदत खाँ अथवा बुरहान-उल-मुल्क था। सआदत खाँ शिया था और निशापुर के सैयद वंश से सम्बन्धित था। उसे 1720 में सम्राट मुहम्मदशाह ने बयाना का फौजदार नियुक्त किया। सआदत खाँ ने सैयद-बन्धुओं के विरुद्ध हुए षड्यन्त्र में सम्राट का साथ दिया था फलस्वरूप मुहम्मदशाह ने उसे 1720 से 1722 तक आगरा का गवर्नर बनाया और 'बुरहान-उल-मुल्क' की उपाधि से विभूषित किया। उसने आगरा का शासन अपने नायब नीलकण्ठ के द्वारा चलवाया। 1722 ई. में मुगल बादशाह मुहम्मदशाह ने सआदत खाँ को अवध का सूबेदार नियुक्त किया। सआदत खाँ योग्य शासक सिद्ध हुआ। वह नाममात्र के लिए मुगल बादशाह के आधिपत्य को स्वीकार करता था। वस्तुतः वह स्वतन्त्र रहा। नादिरशाह के आक्रमण के अवसर पर उसे मुगल बादशाह ने दिल्ली बुलाया। वह वीरता से लड़ा किन्तु बन्दी बना लिया गया। सआदत खाँ ने नादिरशाह को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया और 20 करोड़ रुपया मिलने का विश्वास दिलाया। जब उससे वह धन माँगा गया तो उसने 1739 ई. में आत्महत्या कर ली।

सआदत खाँ के कोई पुत्र नहीं था इसलिए उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका दामाद सफरदरजंग अवध का नवाब बना। वह एक योग्य शासक था जिसने अवध-राज्य को शान्ति और सम्पन्नता प्रदान की। 1748 ई. में मुगल बादशाह ने उसे अपना वजीर नियुक्त किया और दिल्ली बुलाया। इसके बाद से उसके उत्तराधिकारी *नवाब वजीर* कहलाने लगे। अपने विरोधी सरदारों की ईर्ष्या के कारण वह दिल्ली में सफल न हो सका और 1753 ई. में अवध वापस आ गया। अक्टूबर 1754 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

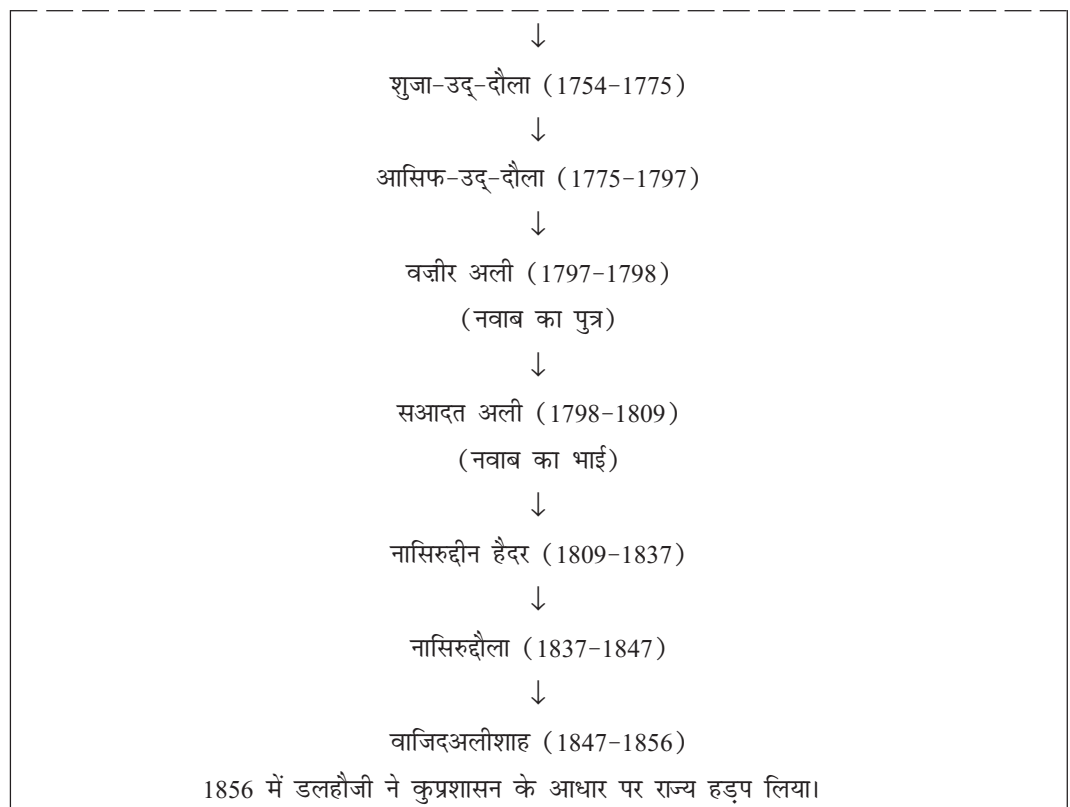
अवध के नवाब

सआदत खाँ बुरहान-उल-मुल्क (1722-1739)



सफरदरजंग (1739-1754)

नोट



सफदरजंग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र शुजाउद्दौला अवध का **नवाब** बना। उसके समय में अवध की राजनीति में गम्भीर परिवर्तन हुए। उसने मुगल शाहजादा शाहआलम द्वितीय या अलीगौहर को अपने राज्य में शरण दी। उसने **पानीपत के तृतीय युद्ध** में मराठों के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली का साथ दिया। शाहआलम द्वितीय के मुगल बादशाह बनने पर 1762 ई. में उसे वजीर का पद प्रदान किया गया। उसने बंगाल के शासक मीरकासिम को अपने राज्य में शरण दी और अंग्रेजों के विरुद्ध 1764 में बक्सर का युद्ध लड़ा। इस युद्ध में उसकी पराजय हुई। अंग्रेजों ने उस समय उसके राज्य पर अधिकार नहीं किया। उन्होंने (लॉर्ड क्लाइव ने) उससे एक राजनीतिक समझौता **‘इलाहाबाद की सन्धि’** किया था, जिसके अनुसार 50 लाख रुपया लिया तथा इलाहाबाद और कड़ा के जिले मुगल बादशाह शाहआलम को दिला दिये और अवध नवाब को वापस कर दिया गया।

वारेन हेस्टिंग्स के समय में 1773 ई. में 50 लाख रुपया लेकर इलाहाबाद और कड़ा नवाब को पुनः वापस कर दिये गये और अंग्रेजों की सहायता पाकर नवाब ने रुहेलखण्ड पर अपना अधिकार किया। 1775 ई. में एक सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने अवध से बनारस का राज्य छीन लिया। 26 जनवरी, 1775 को शुजाउद्दौला की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र आसफ-उद्-दौला अवध का नवाब बना। शुजा-उद्-दौला के शासन काल में ही अंग्रेजों का प्रभाव अवध राज्य पर हो गया था। आसफ-उद्-दौला के शासन काल में उनके प्रभाव में वृद्धि हुई। वारेन हेस्टिंग्स से सहायता प्राप्त करके अवध के नवाब ने अपने पिता की बेगमों से धन का अपहरण किया। अंग्रेजी सेना के व्यय के लिए नवाब से उसी समय से धन लिया जाने लगा।

जिस समय लॉर्ड कार्नवालिस भारत आया, अवध की शासन-व्यवस्था खराब थी। अवध को अंग्रेजी सेना के व्यय के लिए पर्याप्त धन देना पड़ता था और उसके शासन में अंग्रेज प्रतिनिधि का हस्तक्षेप था। स्वयं कार्नवालिस ने अवध के शासन की कटु शब्दों में आलोचना की। लेकिन अंग्रेजों के लिए अवध महत्वपूर्ण था। अंग्रेज चाहते थे कि अवध का राज्य उनके और मराठा-राज्य के बीच का राज्य बना रहे। इस कारण वे उसे सर्वथा निर्बल भी नहीं बनाना चाहते थे। इस प्रकार अवध उस समय तक अंग्रेजों के लिए मराठा आक्रमणों से बचने का आधार था। कार्नवालिस ने तत्कालीन नवाब के योग्य मन्त्री हैदरबेग से भेंट की। हैदरबेग ने माँग की कि अंग्रेजी सेना अवध से हटा ली जाए

नोट

क्योंकि उसके व्यय का भार बहुत अधिक था। कार्नवालिस ने अंग्रेज सेना को हटाना तो स्वीकार नहीं किया परन्तु नवाब से प्रति वर्ष लिये जाने वाले धन में कमी कर दी। उस समय से 74 लाख रुपये के स्थान पर नवाब 50 लाख रुपये प्रति वर्ष अंग्रेजों को देने लगा।

1797 ई. में नवाब आसफउद्दौला की मृत्यु हो जाने के बाद उसके भाई सआदतअली और उसके लड़के वजीरअली में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ। सर जॉन शोर ने उस झगड़े में हस्तक्षेप किया और 1798 ई. में सआदतअली को नवाब बना दिया। उसके साथ **एक सन्धि** की गयी, जिसके अनुसार—

1. अंग्रेजों को प्रति वर्ष दी जाने वाली धनराशि 50 लाख से 76 लाख रुपये कर दी गयी।
2. इलाहाबाद का किला अंग्रेजों को दे दिया गया।
3. नवाब ने 12 लाख रुपये अंग्रेजों को इसलिए दिये कि उन्होंने उसे गद्दी पर बैठाने में सहायता दी थी।
4. नवाब ने वायदा किया कि वह बिना अंग्रेजों की आज्ञा के किसी अन्य राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा और न किसी यूरोपियन व्यक्ति को अपने यहाँ नौकरी देगा और न उसे अपने राज्य में बसने देगा।
5. नवाब मृतक नवाब आसफउद्दौला के पुत्र वजीरअली को पचास हजार रुपये प्रति वर्ष और उसके अन्य भाइयों को भी उचित धन पेंशन के रूप में देगा।

इस प्रकार इस सन्धि से नवाब का व्यय बढ़ा और अंग्रेजों की सत्ता का अवध में विस्तार हुआ। इससे शासन में बुराईयाँ बढ़ीं। लॉर्ड वैलेजली ने आते ही अवध की ओर ध्यान दिया। उसका लक्ष्य अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करना था। उसने नवाब से माँग की कि वह अपनी सेना को भंग कर दे क्योंकि अंग्रेजी सेना उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करेगी और नवाब केवल उतनी ही सेना अपने पास रखे जितनी कर की वसूली के लिए आवश्यक है। नवाब ने एक बार गद्दी छोड़ने का निर्णय कर लिया परन्तु बाद में अपने निश्चय में परिवर्तन कर दिया और वैलेजली के हाथ से अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का एक अवसर निकल गया। लेकिन 1801 ई. में वैलेजली ने नवाब सआदत अली को **एक सहायक-सन्धि** स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, जिसके अनुसार—

1. अंग्रेजों की सहायक-सेना के व्यय के लिए रुहेलखण्ड और निचले दोआब को सर्वदा के लिए अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया;
2. अवध का नवाब किसी भी अन्य राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं रख सकता था;
3. अवध की सीमाओं में एक अंग्रेजी सहायक-सेना रखी गयी; और
4. एक अंग्रेज रेजीडेण्ट नवाब के दरबार में रखा गया।

इस प्रकार लॉर्ड वैलेजली के समय तक अवध का नवाब पूरी तरह से अंग्रेजों के हाथ में चला गया और उसका प्रायः आधा राज्य उससे छीन लिया गया। नवाब अपने आन्तरिक शासन में केवल नाममात्र के लिए स्वतन्त्र था। वस्तुतः उसे अंग्रेज रेजीडेण्ट की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। नवाब के हाथों में वास्तव में कोई सत्ता न थी, उसकी अपनी कोई सेना न थी, शासन में अंग्रेज हस्तक्षेप करते थे और विदेशी आक्रमण से उसकी सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व अंग्रेजों का था। ऐसी स्थिति में अवध का शासन निरन्तर खराब होता चला गया। नवाब और उसके ताल्लुकेदारों के अत्याचार जनता पर बढ़ते गये और उनसे बचने का कोई मार्ग न था क्योंकि आन्तरिक विद्रोह और विदेशी आक्रमण से अंग्रेज नवाब की सुरक्षा करते थे। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि शासन की दुर्व्यवस्था का उत्तरदायित्व बहुत कुछ अंग्रेजों पर था। अंग्रेज निरन्तर नवाब से धन की माँग करते थे और केवल अपने हितों के रक्षार्थ शासन में हस्तक्षेप करते थे। ऐसी स्थिति में कोई योग्य नवाब भी शासन की बुराईयों को दूर नहीं कर सकता था। अंग्रेजों ने कई बार नवाब को धमकी दी कि यदि उसने शासन में सुधार नहीं किया तो उसका राज्य उससे छीन लिया जायेगा। परन्तु अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया क्योंकि अवध का प्रत्येक नवाब सर्वदा अंग्रेजों के प्रति वफादार रहा। एक अंग्रेज इतिहासकार लिखता है : “इसमें सन्देह नहीं कि नवाब बुरे शासक थे परन्तु इसे भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वे अच्छे मित्र थे। अपनी मनुष्यता और अपनी प्रजा को धोखा देते हुए भी वह अंग्रेज सरकार के प्रति वफादार थे।” इस कारण अवध को बहुत समय तक अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलाया गया।

नोट

लॉर्ड हेस्टिंग्स को युद्धों के कारण धन की आवश्यकता हुई और अवध के नवाब ने उसे दो करोड़ रुपये दिये। इसके बदले में उसे राजा का पद दिया गया। लॉर्ड एम्हर्स्ट के समय में नवाब से पचास लाख रुपये लिये गये और लॉर्ड विलियम बैंटिक ने नवाब से 62 लाख रुपया प्राप्त किया।

लॉर्ड विलियम बैंटिक ने नवाब से धन भी प्राप्त किया और उसे धमकी भी दी कि यदि उसने अपने शासन में सुधार नहीं किया तो उसका राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया जायेगा। नवाब और उसके योग्य मन्त्री हकीम मेहदी (Hakim Mehdi) ने शासन में सुधार करने का प्रयत्न किया और इस विषय में अंग्रेजों से सहायता माँगी। परन्तु बैंटिक ने सहायता देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस बात पर हकीम मेहदी ने अपने पद को छोड़ दिया।



नोट्स

बेवरिज (Beveridge) ने इस विषय में लिखा है कि अवध के जागीरदारों का यह सोचना उचित था कि “गवर्नर-जनरल का मुख्य उद्देश्य अवध के शासन में सुधार करना न था; वह तो शासन की कुव्यवस्था को अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का आधार बनाना चाहता था।”

1837 ई में नवाब नासिरुद्दीन की मृत्यु हो जाने पर अंग्रेजों ने अवध के उत्तराधिकार के प्रश्न पर पुनः हस्तक्षेप किया और नासिरुद्दीन को गद्दी पर बैठा दिया। वह एक दुर्बल और वृद्ध व्यक्ति था तथा उसने अंग्रेजों को विश्वास दिलाया था कि यदि वे उसे नवाब बना देंगे तो वह किसी भी प्रकार की सन्धि पर हस्ताक्षर कर देगा। गद्दी पर बैठते ही उसने यही किया। एक नवीन सन्धि के द्वारा उसने स्वीकार किया कि नवाब अपनी पुरानी सेना को पूर्णतः समाप्त कर देगा और एक नवीन सेना की भर्ती करेगा जिसका संगठन अंग्रेज करेंगे लेकिन जिसका व्यय नवाब देगा। उसने यह भी वायदा किया कि वह अंग्रेज रेजीडेण्ट की सहायता से शासन में सुधार करेगा और आवश्यकता होने पर सम्पूर्ण अथवा उसके किसी भी हिस्से का शासन अंग्रेजों को सौंप देगा। इस सन्धि को ब्रिटिश (इंग्लैण्ड की) सरकार ने भी स्वीकार नहीं किया। यह इस बात का प्रमाण था कि यह सन्धि सर्वथा अनैतिक थी। परन्तु भारत-सरकार के सम्मान की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार ने इस सन्धि को समाप्त करने का अधिकार भारत-सरकार को ही दे दिया, परन्तु भारत-सरकार ने इस सन्धि की अस्वीकृति की सूचना नवाब को कभी नहीं दी।

अगले दस वर्षों तक भारत-सरकार पंजाब, अफगानिस्तान और सिन्ध के युद्धों में व्यस्त रही। इसी कारण उसे अवध की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला। 1847 ई. में लॉर्ड हार्डिज ने पुनः अवध की ओर ध्यान दिया। उसने तत्कालीन नवाब वाजिदअली शाह से भेंट की और उसे चेतावनी दी कि यदि नवाबों ने अगले दो वर्षों में शासन में सुधार नहीं किया तो अवध उससे छीन लिया जायेगा। नवाब शासन में कोई सुधार न कर सका। लेकिन द्वितीय सिख-युद्ध के आरम्भ हो जाने के कारण अवध उस समय बच गया।

अवध पर केवल शासन की अव्यवस्था (कुशासन) का ही दोष लगाया जा सकता था। इसी आधार पर पिछले गवर्नर-जनरल भी निरन्तर अवध के नवाबों को उनसे उनका राज्य छीनने की धमकी देते रहे थे। लॉर्ड डलहौजी ने भी उसी आधार का सहारा लिया। सर्वप्रथम, सर डब्ल्यू. एच. स्लीमैन (Sir W.H. Sleeman) को, जो अवध का रेजीडेण्ट था, आदेश दिया गया कि वह अवध में घूमकर शासन के बारे में एक रिपोर्ट तैयार करे। स्लीमैन के त्यागपत्र देने के पश्चात् जनरल आउट्राम (General Outram) को एक रिपोर्ट तैयार करने के लिए कहा गया और इसकी रिपोर्ट के आधार पर तथा शासन की खराबी का आरोप लगाकर अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का निर्णय किया गया।

अवध को किस प्रकार अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया जाए, इस विषय में मतभेद था। इस विषय में स्वयं अंग्रेजों में दो मत थे। **एक मत** उदारवादियों का था जिनका कहना था कि अंग्रेजों को अवध का शासन अपने हाथों में लेना चाहिए लेकिन नवाब को हटाने की आवश्यकता नहीं है। शासन पर व्यय किये जाने के पश्चात् अवध की आय में से जो भी धन बचे उसे नवाब को दे देना चाहिए।



उदाहरण स्वयं स्लीमैन जिसकी रिपोर्ट के आधार पर अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया, अवध को पूरी तरह से अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के विरुद्ध था।

नोट

उसकी राय थी : “अवध का शासन अपने हाथों में ले लो लेकिन उस देश की आय पर अधिकार न करो। अवध की सम्पूर्ण आय अवध के नवाब, उसके परिवार और वहाँ की सेना के हित में व्यय की जानी चाहिए।” स्लीमैन राजनीतिक आधार पर भी अवध तथा अन्य भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के विरुद्ध था। एक बार उसने कहा था : “देशी राज्य तो एक प्रकार से पानी पर लगे बाँधों के समान हैं। जब ये समाप्त हो जायेंगे तब हम भारतीय सेना की दया पर निर्भर हो जायेंगे जिसको अपने अधिकार में रखना सर्वथा असम्भव है।” अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने के विषय में **सर हेनरी लॉरेन्स** (Sir Henry Lawrence) ने कहा था : “अन्ततोगत्वा अवध का शासन एक व्यक्ति अर्थात् नवाब के हित में नहीं अपितु उसके (नवाब) और उसकी प्रजा के हित में होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, शासन भारतीयों के ही हाथों में रखा जाये। एक रुपया भी कम्पनी के खजाने में नहीं आना चाहिए।” इस प्रकार अनेक अंग्रेज भी नैतिक और राजनीतिक आधार पर अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के विरुद्ध थे। वे केवल अवध के शासन को अंग्रेजों के हाथों में लिये जाने के पक्ष में थे।

परन्तु **दूसरा** वर्ग उन व्यक्तियों का था जो पूर्णतः साम्राज्यवादी थे और स्पष्ट रूप से नवाब को हटाकर अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के पक्ष में थे। इस कारण नवाब को हटाकर अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का निर्णय किया गया।

4 फरवरी, 1856 ई. को अंग्रेज रेजीडेण्ट ने नवाब वाजिदअली शाह से भेंट की और एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने की माँग की जिसके अनुसार नवाब से माँग की गयी कि वह स्वेच्छा से अपनी गद्दी को त्याग दे और अवध को अंग्रेजों को सौंप दे। लेकिन उस अवसर पर वाजिदअली शाह ने एक राजा के सम्मान के अनुकूल कार्य किया। उसने कहा : “सन्धियाँ बराबर वालों में हुआ करती हैं। इस कारण सन्धि पर उसके हस्ताक्षर आवश्यक नहीं हैं।” उसने सन्धि करने से इन्कार कर दिया और अपनी पगड़ी उतारकर अंग्रेज रेजीडेण्ट के हाथों में रख दी। अंग्रेज उसे 12 लाख रुपया प्रति वर्ष देना चाहते थे। उसने उसे भी अस्वीकार कर दिया।



क्या आप जानते हैं वाजिदअली शाह ने कहा—“अंग्रेजों ने उससे उसका सम्मान और देश छीन लिया है। जीवनयापन के लिए वह उनसे कुछ नहीं माँगेगा।”

इस प्रकार सन्धि पर नवाब के हस्ताक्षर न हो सके। अंग्रेजों के एक घोषणा मात्र से अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया।

अवध के इस आखिरी नवाब को पेंशन देकर कलकत्ता से निष्कासित कर दिया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. सआदत खाँ के कोई पुत्र नहीं था।
10. जिस समय कार्नवालिस भारत आया, अवध की शासन-व्यवस्था श्रेष्ठ थी।
11. अंग्रेजों के लिए अवध महत्वपूर्ण नहीं था।
12. 1801 ई. में वैलेजली ने नवाब सआदत अली को एक सहायक-संधि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।

9.4 मराठे (Marathas)

इसे इकाई 13 में (13.4) पर देखें।

नोट

परन्तु तब भी भारतीय उद्योग एवं व्यापार पूर्णतः नष्ट नहीं हुए। निःसन्देह, पिछली कुछ सदियों की तुलना में अठारहवीं सदी में भारत में उद्योगों और व्यापार की स्थिति दुर्बल रही परन्तु तब भी वह इस क्षेत्र में सन्तुलन बनाये रख सका। यह कहना सत्य के अधिक निकट है कि अठारहवीं सदी में आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होकर भी भारत अपनी सम्पन्नता को बनाये रखने में समर्थ हो रहा। पिछली कुछ सदियों की तुलना में गिरावट आने के पश्चात् भी भारत, इस सदी में भी, विश्व-व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र-स्थल बना रह सका जिसके कारण विभिन्न यूरोपीय राज्यों ने भी भारत से प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये जो सफल भी हुए। भारत उस समय भी प्रचुर मात्रा में कपास, रेशम, शक्कर, जूट, नील, चाय, अफीम, दवाइयाँ, कीमती पत्थर, मोती आदि विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करता था। भारत के तत्कालीन उद्योगों में सबसे अधिक प्रगतिशील उद्योग और व्यापार सूती कपड़े का था। भारत अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि का और विभिन्न किस्मों एवं रंगों का सूती कपड़ा तैयार करता था। जिसकी माँग संसार के सभी महत्त्वपूर्ण राज्यों में थी। इस उद्योग के प्रभाव के केन्द्र-स्थल ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना, सूरत, अहमदाबाद, बड़ौदा, बुरहानपुर, जौनपुर, बनारस, लखनऊ, आगरा, मुल्तान, लाहौर, मछलीपट्टम, विशाखापट्टम, बैंगलौर, कोयम्बटूर, मदुराई आदि थे। कश्मीर अपने ऊनी वस्त्रों के लिए विख्यात था। रेशमी कपड़ा भी भारत में तैयार होता था। समुद्री जहाजों का निर्माण भी भारत का एक प्रमुख उद्योग था। यूरोपीय व्यापारी भी भारत में बने हुए समुद्री जहाजों को खरीदते थे। भारत का विदेशी व्यापार उस सदी में भी उसके पक्ष में था। यूरोप, अफ्रीका और एशिया के विभिन्न देशों से उसका व्यापार होता था। इस व्यापार से भारत पर्याप्त लाभ प्राप्त करता था जिससे उसकी सम्पन्नता-वृद्धि में सहायता मिलती थी।

आर्थिक दृष्टि से भारत की एक दुर्बलता प्रमुख रही। भारत में आर्थिक विषमताएँ बहुत गम्भीर थीं। विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के आर्थिक साधनों में बहुत गम्भीर अन्तर था। समाज में एक वर्ग पर्याप्त सम्पन्न था। उस वर्ग में शासक, कुलीन, जागीरदार, उद्योगपति, व्यापारी आदि सम्मिलित थे। इस वर्ग के व्यक्ति सभी सुविधाओं का उपभोग करने की स्थिति में थे। दूसरा वर्ग निर्धनों का था जो बहुसंख्यक वर्ग था।



टास्क बंगाल के शासक अलीवर्दी खाँ पर संक्षिप्त परिचय दें।

8.6 सारांश (Summary)

- मुगल-साम्राज्य के खण्डों से भारत में विभिन्न स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ। उनमें से कुछ बहुत शक्तिशाली बने। इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य का निर्माण मराठों ने किया।
- मराठों की एक बहुत बड़ी भूल यह रही कि उन्होंने स्वयं भारत की सार्वभौमिक सत्ता को स्पष्ट रूप से अपने हाथों में नहीं लिया और न उसके अनुकूल भारत के शासन का उत्तरदायित्व लिया। वे मुगल बादशाह को अपना पेंशनर (गुजारा भत्ता पाने वाला) बनाने मात्र से ही सन्तुष्ट हो गये अन्यथा केवल वे ही भारत की सत्ता का उपभोग करने की क्षमता रखते थे।
- मराठों के अतिरिक्त दक्षिण-भारत में निजाम-उल-मुल्क ने हैदराबाद में एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया और उसके पश्चात् हैदरअली ने मैसूर के दृढ़ राज्य का निर्माण किया।
- पहली बार दक्कन में स्वतन्त्र राज्य का सपना जुल्फिकार खाँ ने देखा था। 1708 में बहादुरशाह ने उसे दक्कन का सूबेदार बनाया था। दक्कन सूबा मीर कमरुद्दीन चिनकिलिचखाँ के अधीन एक स्वतन्त्र राज्य बना, जो निजाम-उल-मुल्क के नाम से अधिक प्रसिद्ध था।
- औरंगजेब की मृत्यु के कुछ वर्षों के पश्चात् बंगाल में भी एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हो गया। उसकी मृत्यु के अवसर पर मुर्शिदकुली खाँ बंगाल का नाइब-निजाम और उड़ीसा का सूबेदार था। 1717 ई. में मुगल बादशाह फर्रुखसियर ने उसे बंगाल का भी सूबेदार नियुक्त किया और उसे 'मुल्तात-उल-मुल्क अलाउद्दीन जफरखाँ बहादुर नासिरी नासिरजंग' के पद से विभूषित किया।

नोट

- अवध-राज्य में अवध की सीमाओं के अतिरिक्त पूर्व में कानपुर, इलाहाबाद और बनारस तक के जिले तथा पश्चिम में वर्तमान पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के भी कुछ जिले सम्मिलित थे। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के शासनकाल में अवध के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हुआ। अवध के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक सआदत खाँ अथवा बुरहान-उल-मुल्क था।
- भारत के जनजीवन के सभी क्षेत्रों में दुर्बलता तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पतन इस सदी की विशेषता रहीं। इसी के परिणामस्वरूप भारत एक विदेशी शक्ति के अधीन हुआ।

9.7 शब्दकोश (Keywords)

- अवसरवादी—अवसर देखकर निर्णय लेने या बदलने वाला।
- किलेबन्दी—चारों ओर घेरा डालना, सुरक्षा दीवार बनाना।

9.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. 18वीं सदी के हैदराबाद की राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करें।
2. बंगाल की शासन-व्यवस्था (18वीं सदी) का वर्णन करें।
3. अवध राज्य के राजनीतिक स्थिति एवं शासन-व्यवस्था का उल्लेख करें।
4. अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किये जाने पर प्रकाश डालें।
5. 18वीं सदी के भारत की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का वर्णन करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|----------------|--------------|--------------------|--------------|
| 1. श्रेष्ठता | 2. जुल्फिकार | 3. चिनकिलिचखाँ | 4. फरूखसियर |
| 5. (ख) विस्तार | 6. (ग) बंगाल | 7. (क) मुर्शिदाबाद | 8. (ख) बंगाल |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. असत्य | 12. सत्य। |

9.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।

नोट

इकाई-10 : कम्पनी के अधीन प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन (Changes in Administrative Policies Under The Company)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 10.1 ईस्ट इंडिया कंपनी (East India Company)
- 10.2 ईस्ट इंडिया कंपनी पर ब्रिटिश संसद का नियंत्रण
(Control of British Parliament on East India Company)
- 10.3 सारांश (Summary)
- 10.4 शब्दकोश (Keywords)
- 10.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 10.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- भारत में व्यापार के लिए आए ईस्ट इंडिया कंपनी को जानने में;
- ईस्ट इंडिया कंपनी पर ब्रिटिश संसद के नियंत्रण को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

Government of an exclusive company of merchants is perhaps the worst of all government for any country.

—Adam Smith

सर सी. पी. इल्बर्ट ने सत्य ही कहा है कि भारत में अंग्रेजी राज के इतिहास को तीन युगों में बांटा जा सकता है। अर्थात् (1) 17वीं शताब्दी के आरम्भ से 18वीं शताब्दी के मध्य तक जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी केवल एक व्यापारिक संस्थान ही थी तथा जिसकी डच तथा फ्रांसीसी कम्पनियों से प्रतिस्पर्धा थी। (2) 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के मध्य से जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने राज्य का विस्तार तथा उसे संगठित करना आरम्भ किया। इस काल में उसकी अपनी प्रभुसत्ता अंग्रेजी मुकुट (British Crown) के साथ बंटी हुई थी। शनैःशनैः उसने अपने विशेषाधिकार तथा व्यापारिक एकाधिकार खो दिए। (1813 और 1833 के चार्टर एक्टों की ओर संकेत है)। (3) 1857 के उपरान्त कम्पनी का व्यापारिक अस्तित्व समाप्त हो गया तथा उसकी शेष शक्तियाँ इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री के मन्त्रिमण्डल के सदस्य 'भारत सचिव' (Secretary of State for India) के हाथों में चली गईं और यह परिस्थिति 1947 तक बनी रही।

नोट

10.1 ईस्ट इंडिया कंपनी (East India Company)

कम्पनी के व्यापारी तथा अधिकारी भारत में व्यापार के लिए ही आए थे तथा उनका स्पष्ट उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना ही था। डच तथा फ्रांसीसी कम्पनियों की कड़ी स्पर्धा के कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापार तथा लाभ सीमित रहता था। मार्ग स्पष्ट था। इन कम्पनियों को भारतीय व्यापार के मार्ग से हटाया जाए। इस उद्देश्य से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने युद्ध किए और 1763 तक इस में पूर्णतः सफलता प्राप्त कर ली। अब भारतीय व्यापार पर ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार हो गया।

ज्यों-ज्यों कम्पनी ने अन्य देश जीते, त्यों-त्यों अंग्रेजी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आया और उनकी धन लोलुपता बढ़ी। उनका प्रशासनिक ढांचा भी बदलता गया और उन्होंने इस में नए-नए प्रयोग तथा परिवर्तन किए। उदाहरण स्वरूप 18वीं शताब्दी के अन्त तक अंग्रेजी साम्राज्यवादी तंत्र में वाणिज्यवादी विचारधारा (Mercantilist ideas) ही निर्देशक शक्ति (guiding force) के रूप में कार्य करते थे। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पनपने के उपरान्त 19वीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में अधिक बल बन्द मण्डियों (closed markets) पर दिया जाने लगा ताकि औद्योगिक वस्तुएं मनमाने भाव पर बिना किसी प्रतिस्पर्धा से बेची जा सकें। समस्त प्रशासन और नीतियां इसी दिशा में केन्द्रित की गईं। इसका एक परिणाम भारतीय हस्त-शिल्प का विनाश तथा भारतीय मुद्रा का बहिर्गमन था। फिर अंग्रेजों ने भारतीय कृषि का ग्रामीणीकरण किया और अंग्रेजी औद्योगिक उत्पादन के लिए भारत एक मुख्य कच्चे माल का उत्पादक बन गया। भारतीय अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से अंग्रेजी आर्थिक हितों के अधीन हो गई।

19वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों तक अंग्रेजी औद्योगिक पूंजी पर्याप्त रूप से बढ़ गई थी और उसके लाभकारी प्रयोग के लिए भारत में निकाय स्थापित करने भी आरम्भ कर दिए। इस प्रकार भारत में वित्तीय पूंजी निवेश (Finance Capital Investments) के युग का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार रेलवे, सड़क परिवहन, व्यापारिक नौवाहन (Merchant shipping), खनिज उद्योग (कोयला, लोहा और सोना इत्यादि), वित्तीय संस्थाओं की स्थापना (बैंक, और बीमा) इत्यादि आर्थिक ऊपरी संस्थाएँ स्थापित की जाने लगीं। इन संस्थाओं ने भारत के अवसंरचनाओं (Infrastructure) के विकास में योगदान करने (जैसा कि अन्य यूरोपीय देशों में हुआ) के स्थान पर, भारत के आर्थिक और प्राकृतिक साधनों के अधिकाधिक शोषण में सहायता की।

यह स्मरण रहे कि आर्थिक शोषण के यह सब चरण पहले चरणों में से ही उभरते रहे अर्थात् यह सब साथ-साथ चलते रहे। यह नहीं हुआ कि शोषण का पहला चरण पूर्ण होने पर ही दूसरा चरण आरम्भ हुआ। प्रायः यह एक-दूसरे के सहायक और पृथक् थे। सबसे दुःख की बात यह थी कि इन बैंकों और बीमा कम्पनियों द्वारा भारतीय मध्यम वर्ग से एकत्रित किया हुआ धन स्थानीय लोगों के विकास के लिए नहीं दिया जाता था। सरकार द्वारा पूंजी पर नियंत्रण के लिए रचे गये नियम तथा अधिनियम इस प्रकार के थे कि जिनसे स्थानीय लोगों को कोई लाभ नहीं पहुंच सकता था।



उदाहरण एक कृषक जिस की दस बीस बीघे निज की भूमि हो, उसे कूप अथवा नल-कूप खोदने के लिए बैंक से ऋण नहीं मिल सकता था, यद्यपि उसकी आवश्यकता बहुत बड़ी नहीं होती थी परन्तु एक अंग्रेज को रबड़, चाय और काफी अथवा नील का बगीचा (plantation) लगाने के लिए बैंकों से ऋण बहुत सरलता से मिल जाता था चाहे उनकी आवश्यकता कितनी ही बड़ी क्यों न हो।

इस प्रकार भारत का धन भी भारत के ही शोषण के लिए प्रयोग में लाया जाता रहा।

मुख्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसकी उत्तराधिकारी अंग्रेजी सरकार की लन्दन स्थित गृह सरकार (Home Government), भारत सरकार, उसका वित्तीय तथा कर प्रशासन, सिविल सर्विस का गठन, न्यायिक व्यवस्था, आर्थिक नीति में परिवर्तन, सामाजिक और शैक्षणिक नीतियाँ और उनमें समय-समय पर किए गए परिवर्तनों का केवल एक उद्देश्य था, कि भारत में अंग्रेजी प्रशासन को दृढ़ किया जाए और भारत से अधिकाधिक आर्थिक लाभ उठाया जाए।

नोट

गृह सरकार (Home Government) लन्दन में कम्पनी के कार्य की देखभाल 24 निदेशकों (Directors) की बनी एक समिति करती थी जिसका चुनाव एक संस्था करती थी जिसे स्वामियों का अधिकरण (Court of Proprietors) कहा जाता था। निदेशकों का अधिकरण, आपस में कई समितियाँ बना लेते थे जो लन्दन में दिन प्रतिदिन के भिन्न-भिन्न कार्यों की देखभाल करती थीं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कम्पनी के विशेषाधिकारों की पुष्टि, नियमन अनुपूरण और पीछे चलकर उनमें कमी करना, यह ब्रिटिश संसद का अधिकार था क्योंकि उसकी अनुमति से कम्पनी को भारत से व्यापार का अधिकार मिला था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. 18वीं शताब्दी के मध्य तक ईस्ट इंडिया कंपनी केवल एक संस्थान ही थी।
2. इस काल में कंपनी की अपनी अंग्रेजी मुकुट के साथ बँटी हुई थी।
3. भारतीय अर्थव्यवस्था पूर्णरूप से अंग्रेजी हितों के अधीन हो गई।
4. भारत का धन की भारत के ही के लिए प्रयोग में लाया जाने लगा।

10.2 ईस्ट इंडिया कंपनी पर ब्रिटिश संसद का नियंत्रण (Control of British Parliament on East India Company)

सी. पी. इल्बर्ट के अनुसार भारत में कम्पनी के प्राधिकार (authority) के दो स्रोत थे—(1) अंग्रेजी सम्राट और संसद द्वारा दी गई अनुमति, (2) भारतीय मुगल सम्राटों तथा अन्य भारतीय प्रशासकों द्वारा दिए गए प्रमाण पत्र। इंग्लैण्ड में यह शक्तियाँ तथा विशेषाधिकार की पुष्टि भिन्न-भिन्न चार्टर अधिनियमों तथा अन्य विधेयकों तथा नियमों द्वारा दी जाती रही जैसा कि रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773), संशोधन एक्ट (1781), पिट का भारत एक्ट (1784) तथा भारत सरकार अधिनियम (Act for Better Government of India 1858)।



नोट्स भारत में स्थानीय राजाओं तथा महाराजाओं ने उन्हें समय-समय पर भिन्न-भिन्न रियायतें दीं। कई बार यह रियायतें उनसे नैतिक और राजनैतिक दबाव से बलपूर्वक छीन ली जाती थीं, जिससे कम्पनी और अंग्रेजी क्राउन भारत के कुछ भागों के स्वामी बन गए।

1639 में वन्दीवाश के अधिकारी ने मद्रास का शासन अंग्रेजों को दे दिया और वहाँ एक दुर्ग बनाने तथा मुद्रा चलाने की अनुमति भी दे दी। उसके उपरान्त मुगल अधिकारियों ने मद्रास पर समस्त अधिकार कम्पनी को दे दिए। 1669 में इंग्लैण्ड के सम्राट चार्ल्स द्वितीय ने एक चार्टर द्वारा बम्बई द्वीप और बन्दरगाह जो उसे 1661 में पुर्तगाल की राजकुमारी ब्रंजेज़ा की कैथरीन से विवाह करते समय दहेज में मिली थीं, वह उसने कम्पनी को दस पाउण्ड वार्षिक किराए पर दे दिए। इसी प्रकार कम्पनी ने बंगाल में मुगल सूबेदार अजीमुशान से कालीकट, सूतानाती तथा गोविन्दपुर (आधुनिक कलकत्ता का क्षेत्र) के गांवों की जमींदारी उस क्षेत्र के पुराने स्वामियों को 1,200 रुपये का मुआवज़ा दे कर प्राप्त कर ली। 1717 में मुगल सम्राट फर्रुखसीयर ने एक फ़रमान जारी कर दिया जिससे अंग्रेजों को आसपास के क्षेत्र को किराये पर लेने की अनुमति दे दी। 2 जून 1756 को हुई ब्लैक होल (Black Hole) घटना के उपरान्त एक अंग्रेजी सेना ने कलकत्ता को घेर लिया। नवाब सिराजुद्दौला ने विवश होकर कलकत्ता जिसे अब फोर्ट विलियम की संज्ञा दे दी गई थी, कम्पनी को लौटा दिया। उसका दुर्गीकरण भी करने की और सिक्के चलाने की अनुमति मिल गई।

मद्रास (फोर्ट सेंट जॉर्ज), मुम्बई और कलकत्ता (फोर्ट विलियम), अर्थात् पूर्वी पश्चिमी तटों पर अंग्रेजी बस्तियों का प्रशासन, वहाँ नियुक्त प्रधान जिसे प्रेज़ीडेंट अथवा गवर्नर कहते थे तथा उसकी सहायता के लिए नियुक्त कम्पनी के प्रवर अधिकारियों की एक समिति करती थी। यह प्रधान तथा समिति मिलकर बहुमत से निर्णय करते थे और

नोट

फिर यह आदेश जारी किए जाते थे। तीनों प्रधान एक-दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र थे और केवल लन्दन स्थित निदेशकों के प्रति ही उत्तरदायी थे।



क्या आप जानते हैं प्लासी तथा बक्सर के युद्ध के उपरान्त कम्पनी के अधिकारियों, निदेशकों, स्वामियों तथा लन्दन की अंग्रेज़ सरकार ने समझा कि एक सोने की खान (भारत) उनके हाथ लग गई है।

सबने इस लूट में भाग लिया और 1771 में कम्पनी आर्थिक रूप से दिवालिया हो गई और कम्पनी ने लन्दन की सरकार से 10 लाख पाउण्ड का ऋण मांगा। अब अंग्रेज़ी संसद को अवसर मिला कि वह कम्पनी के आन्तरिक कार्य कलाप की जांच करे और उस का नियमन करे। परिणामतः रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773) पारित किया गया। स्वामियों के अधिकरण का प्रभाव कम हो गया। निदेशकों के अधिकरण (Board of Directors) का 4 वर्ष के लिए चुनाव किया गया (जो पहले प्रति वर्ष होता था) और आदेश हुआ कि निदेशकों को लन्दन स्थित शाही कोष को अपना समस्त भारतीय कर तथा सेना सम्बन्धी पत्र व्यवहार देना पड़ेगा।

रेग्यूलेटिंग एक्ट में एक गवर्नर जनरल तथा 4 पार्षदों की बनी एक परिषद् का प्रावधान भी था जिन्हें बहुमत से निर्णय लेना होता था। यह गवर्नर जनरल मुख्य रूप से बंगाल के लिए था परंतु उसे कुछ मामलों में मद्रास तथा बम्बई प्रान्तों के प्रशासन पर भी अधिकार था।

1784 में पारित पिट के भारत अधिनियम (Pitt's India Act) ने ब्रिटिश संसद का कम्पनी के प्रबन्ध पर नियंत्रण और भी सुदृढ़ बना दिया। इंग्लैण्ड में एक नियंत्रण बोर्ड (Board of Control), जिसके सदस्यों को 'भारतीय मामलों के आयुक्त' (Commissioners for the Affairs of India) कहते थे नियुक्त किया गया जिस का प्रधान वित्त मंत्री (Chancellor of Exchequer) होता था। इस बोर्ड का कार्य इंग्लैण्ड में स्थित भारतीय मामलों की प्रशासकीय व्यवस्था की देखभाल करना भी था। इस बोर्ड को भारत के प्रशासन से सम्बन्धित सभी पत्र व्यवहार तथा आदेश इत्यादि देखने का अधिकार था। भारत में गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्यों की संख्या 4 से घटा कर 3 कर दी जिसमें से एक कम्पनी की सेना का मुख्य सेनापति (Commander in Chief) होता था। इसके उपरान्त लार्ड कॉर्नवालिस के काल में परिषद् के निर्णयों में बहुमत का प्रावधान समाप्त कर दिया गया और पार्षद पूर्ण रूप से गवर्नर जनरल के अधीन हो गए। 1833 में परिषद् में एक चौथा सदस्य जिसे विधि का पार्षद (Law Member) कहते थे, जोड़ दिया गया।

1813 में पारित चार्टर एक्ट द्वारा अंग्रेज़ी संसद ने कम्पनी के चीन के व्यापार को छोड़कर भारत में व्यापार करने के एकाधिकार को समाप्त कर दिया। 1833 में चार्टर एक्ट द्वारा कम्पनी को आदेश दिया गया कि वह भारत में अपनी व्यापारिक गतिविधियाँ शीघ्रातिशीघ्र बन्द कर दे और केवल प्रशासन की ओर ध्यान दे जिसे वह महामहिम अंग्रेज़ी सम्राट तथा उसके उत्तराधिकारियों की ओर से न्यास के रूप में सम्भाले हुए है।

1833 के चार्टर द्वारा मद्रास तथा बम्बई में गवर्नरों के तथा उनकी परिषदों के विधेयक पारित करने की शक्ति समाप्त कर दी और गवर्नर जनरल तथा उसके परिषद् को ही समस्त भारत के लिए विधेयक पारित करने, कानून बनाने की शक्ति दे दी गई। यह व्यवस्था 1857 तक जब तक कम्पनी का प्रशासन था, बनी रही।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

5. भारत में स्थानीय राजाओं-महाराजाओं ने कंपनी को समय-समय पर भिन्न-भिन्न रियायतें दी।
6. रेग्यूलेटिंग एक्ट 1873 ई. में पारित हुआ।
7. पिट के भारत अधिनियम ने ब्रिटिश संसद का कंपनी पर नियंत्रण सुदृढ़ कर दिया।
8. 1835 में चार्टर एक्ट पारित हुआ।

10.3 सारांश (Summary)

- कम्पनी के व्यापारी तथा अधिकारी भारत में व्यापार के लिए ही आए थे तथा उनका स्पष्ट उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना ही था। डच तथा फ्रांसीसी कम्पनियों की कड़ी स्पर्धा के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार तथा लाभ सीमित रहता था।
- ज्यों-ज्यों कम्पनी ने अन्य देश जीते, त्यों-त्यों अंग्रेजी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आया और उनकी धन लोलुपता बढ़ी। उनका प्रशासनिक ढांचा भी बदलता गया और उन्होंने इस में नए-नए प्रयोग तथा परिवर्तन किए।
- मुख्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसकी उत्तराधिकारी अंग्रेजी सरकार की लन्दन स्थित गृह सरकार (Home Government), भारत सरकार, उसका वित्तीय तथा कर प्रशासन, सिविल सर्विस का गठन, न्यायिक व्यवस्था, आर्थिक नीति में परिवर्तन, सामाजिक और शैक्षणिक नीतियाँ और उनमें समय-समय पर किए गए परिवर्तनों का केवल एक उद्देश्य था, कि भारत में अंग्रेजी प्रशासन को दृढ़ किया जाए और भारत से अधिकाधिक आर्थिक लाभ उठाया जाए।
- इंग्लैण्ड में यह शक्तियाँ तथा विशेषाधिकार की पुष्टि भिन्न-भिन्न चार्टर अधिनियमों तथा अन्य विधेयकों तथा नियमों द्वारा दी जाती रही जैसा कि रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773), संशोधन एक्ट (1781), पिट का भारत एक्ट (1784) तथा भारत सरकार अधिनियम (Act for Better Government of India 1858)।
- 1784 में पारित पिट के भारत अधिनियम (Pitt's India Act) ने ब्रिटिश संसद का कम्पनी के प्रबन्ध पर नियंत्रण और भी सुदृढ़ बना दिया।

10.4 शब्दकोश (Keywords)

- **वाणिज्यवादी**—व्यापारिक नीतियों को मानने वाले या व्यापारिक नीति पर चलने वाले।
- **हस्त-शिल्प**—हाथों से की जाने वाली कारीगरी द्वारा निर्मित वस्तुएँ।

10.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. भारत में व्यापार करने आये ईस्ट इंडिया कंपनी की व्यापारिक नीति एवं एकाधिकार का वर्णन करें।
2. ईस्ट इंडिया कंपनी पर ब्रिटिश संसद के नियंत्रण का उल्लेख करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|---------------|-----------|----------|
| 1. व्यापारिक | 2. प्रभुसत्ता | 3. आर्थिक | 4. शोषण |
| 5. सत्य | 6. असत्य | 7. सत्य | 8. असत्य |

10.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।

नोट

इकाई-11: राजनीतिक गतिविधियाँ (Political Activities)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 11.1 प्लासी के बाद प्रशासनिक व्यवस्था (After Plassey an Administrative System)
- 11.2 क्लाइव का द्वैध शासन (Diarchy of Clive)
- 11.3 वारेन हेस्टिंग्स का युग (An Age of Waren Hestings)
- 11.4 ब्रिटिश संसद और भारत : 1773 का रेगुलेटिंग एक्ट
(British Parliament and India : Regulating Act-1773)
- 11.5 पिट इंडिया एक्ट के बाद प्रशासनिक घटनाएँ
(Administrative Events After Pitt's India Act)
- 11.6 ब्रिटिश संसद और चार्टर एक्ट (British Parliament and Charter Act)
- 11.7 सत्ता हस्तांतरण और ब्रिटिश शासन
(Transfer of Power and British Administration)
- 11.8 कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका क्षेत्रों में विकास
(Development in the area of Executive, Legislative and Judiciary)
- 11.9 सारांश (Summary)
- 11.10 शब्दकोश (Keywords)
- 11.11 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 11.12 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- अंग्रेजों का प्लासी के बाद भारत में प्रशासनिक प्रयोग को जानने में;
- क्लाइव का द्वैध शासन एवं वारेन हेस्टिंग्स के युग को जानने में;
- रेगुलेटिंग एक्ट, पिट्स इंडिया एक्ट एवं चार्टर एक्ट को जानने में;
- सत्ता हस्तांतरण एवं कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका क्षेत्रों में विकास को जानने में।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

जहाँ अंग्रेज भारत में अपने पैर जमाने की कोशिश में लगे हुए थे वहीं अन्य यूरोपीय देश भी अपने लिए वैसे ही अधिकार और विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए अपने-अपने तरीके अपना रहे थे। एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ लग गई और अंत में अंग्रेज और फ्रांसीसी दोनों भारत में सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे से भिड़ गए। 18वीं शताब्दी के पहले 50 वर्षों के दौरान फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने आप को अंग्रेजों की कंपनी के मुकाबले की एक जबर्दस्त संस्था के रूप में गठित कर लिया। फ्रांसीसी अपने मुख्य केंद्र पांडेचेरी से दक्षिण भारत में अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव को बड़ी जलन के साथ देख रहे थे।

इस बीच यूरोप में औपनिवेशिक प्रभुता के लिए फ्रांस और इंग्लैंड के बीच संघर्ष की शुरुआत के लिए परिस्थितियाँ बन चुकी थीं। आखिरकार 1744 ई. में आम यूरोपीय युद्ध, आस्ट्रियाई उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया और इसमें फ्रांस और इंग्लैंड दोनों एक-दूसरे के विरोधी पक्षों में थे। इंग्लैंड के पहले प्रधानमंत्री सर राबर्ट वालपोल अपनी शांति की नीति के कारण सत्ता खो चुके थे। ब्रिटिश जनता सारे विश्व पर छा जाने की महत्वाकांक्षा किए बैठी थी और भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी, इंग्लैंड की जनता की आम भावनाओं को ही दर्शाती थी। फ्रांसीसियों ने भी विश्वविजेता बनने का स्वप्न देखा था और भारत में उनकी कंपनी ने भी एक उज्ज्वल भविष्य की आशा लगा रखी थी। यूरोप में लड़ाई छिड़ने से इन दोनों विरोधी कंपनियों को एक-दूसरे के साथ जोर आजमाई करने का एक मौका मिला। पांडेचेरी में फ्रांसीसी गवर्नर जोजफ डूपले को शुरू में सफलताएं मिलीं। मद्रास फ्रांसीसियों के कब्जे में आ गया। लेकिन 1748 ई. में यूरोप में एक्स ला चैपेल की शांति संधि हुई तो मद्रास अंग्रेजों को लौटा दिया गया। लेकिन इस बीच डूपले, दक्षिण और कर्नाटक की राजनीतिक गतिविधियों में अपने आपको उलझा चुके थे। उन्होंने बड़ी उल्लेखनीय नीति, साहस और दृढ़ता के साथ थोड़े से समय में कई सफलताएँ प्राप्त कीं। 1751 ई. के मध्य तक डूपले के कठपुतली उम्मीदवार, दक्षिण और कर्नाटक के राजसिंहासनों पर बैठ चुके थे। ऐसे समय में राबर्ट क्लाइव, जो कंपनी के सिविल सर्विस के साधारण कर्मचारी थे, सैनिक ख्याति प्राप्त करके उभरे और उन्होंने अंग्रेजों के पक्ष में काया पलट दिया। राबर्ट क्लाइव का अरकाट का घेरा उन कई सैनिक गतिविधियों और नीतियों की शुरुआत थी जिनसे अंत में अंग्रेजों की विजय हुई और फ्रांसीसियों का पतन हो गया। फ्रांसीसियों की विफलता भारत में फ्रांसीसियों के कारण नहीं बल्कि स्वयं फ्रांस में अपने देशवासियों के कारण हुई।



उदाहरण डूपले के जो बड़े राजनीतिक इरादे थे उनके लिए आवश्यक सैनिक साज-सामान लुई 15 की सरकार ने नहीं दिया। डूपले को 1754 ई. में वापस बुला लिया गया और उनके लौटने के साथ ही भारत के राजनीतिक जगत से फ्रांसीसी राजनीति विलुप्त हो गई।

डूपले का पतन क्लाइव के लिए सौभाग्य की बात बन गया। वास्तविक राजनीतिक उद्देश्य की तस्वीर बड़ी तेजी से बन रही थी और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनाए जाने वाले रास्ते उस समय की स्थिति पर निर्भर करते थे। इस हालात का पूरा-पूरा फायदा उठाना एक प्रबुद्ध व्यक्ति का काम था और क्लाइव ऐसे समय में अपने आपको इसके योग्य सिद्ध कर सके।

कंपनी की गतिविधियाँ केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित नहीं रखी जा सकती थीं बल्कि इन गतिविधियों को बंगाल में भी चलाने की जरूरत थी। तीन छोटे गांवों—सुतानाटी, कालीघाट और गोविंदपुर में मामूली-सी शुरुआत के साथ अंग्रेज व्यापारियों ने अपनी बस्तियों को खुशहाली से भरपूर कलकत्ता नगर में विकसित कर दिया जिसकी सुरक्षा एक किले से होती थी। वहाँ से अंग्रेजों ने प्रसिद्ध अलीवर्दी के युवा उत्तराधिकारी सिराजुद्दौला के साथ झगड़ा शुरू किया। सिराजुद्दौला 1756 ई. में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के नवाब के रूप में गद्दी पर बैठे थे। वह एक भव्य लेकिन अनुभवहीन युवक था। उसमें इतनी राजनीतिक दूरदर्शिता तो थी कि वह विदेशियों के राजनीतिक इरादों को समझ लेता लेकिन इतनी सूझबूझ नहीं थी कि राज्य में प्रशासन के स्तर को दिनोदिन गिरने से रोक सकता। युवा नवाब के दरबारियों के कुचक्रों और विरोध, सैनिक शक्ति की आम कमजोरी और प्रशासन का सुचारु न होना, इन सब बातों को देखते हुए अंग्रेजों का हौसला बढ़ा कि वे कलकत्ता के नवाब की सत्ता की खुल्लमखुल्ला अवहेलना करें।

नोट

दक्षिण भारत में सफलताओं से अंग्रेजों की महत्वाकांक्षा और बढ़ गई और वे किसी मामूली-सी बात का बहाना बनाकर झगड़ा मोल लेने को तैयार थे। अंग्रेजों ने यह बहाना बनाया कि चंद्रनगर के फ्रांसीसी उन पर हमला करने की तैयारी कर रहे हैं, इसलिए हमें कलकत्ता को मजबूत करना है। नवाब ने यह महसूस किया कि यह बहाना एक बड़े राजनीतिक उद्देश्य की शुरुआत है। इसलिए उसने बहुत देर होने से पहले ही कार्रवाई करने का फैसला किया। इसके साथ यह लोभ भी था कि व्यापारियों की संपत्ति हड़प ली जाए। जून 1756 में सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर हमला कर दिया। अध्यक्ष ड्रेक और उनकी परिषद् नगर छोड़कर भाग गई। एक असैनिक, हालवैल, कलकत्ता की रक्षा करने के लिए रह गया। 20 जून को कलकत्ता अंग्रेजों के हाथ से निकल गया। कलकत्ता का पतन और उसके बाद ब्लैकहोल की भयंकर घटना, एक अंतिम मुकाबले का कारण बनी।

उत्तर यूरोप में 1756 ई. में इंग्लैंड और फ्रांस के बीच एक सात वर्षीय युद्ध की शुरुआत हुई। इन दोनों ताकतों के बीच यूरोप, अमरीका और भारत में प्रभुता स्थापित करने का अंतिम संघर्ष छिड़ चुका था। उस समय तक क्लाइव सेना में कर्नल के पद पर नियुक्त हो चुका था और उसने भारत में फ्रांसीसियों पर एक अंतिम प्रहार करने की बात सोची। कलकत्ता की दुःखद घटना के बाद क्लाइव तुरंत बंगाल पहुंचा। उसने इस नगर पर फिर कब्जा किया और इसके बाद उसने राजनीतिक सूझबूझ और षड्यंत्रों का एक ऐसा मार्ग अपनाया जिस पर चलते हुए एक साल के अंदर-अंदर उसने बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रख दी। सबसे पहले उसने नवाब के साथ झगड़ा समाप्त किया और उसके बाद क्लाइव ने चंद्रनगर पर कब्जा किया। अब चूंकि फ्रांसीसी हार चुके थे अतः क्लाइव अपना पूरा ध्यान नवाब की ओर लगाने में स्वतंत्र था। उसने एक ऐसा षड्यंत्र रचा जिससे उसकी सूझबूझ और प्रखर बुद्धि का परिचय मिलता है। इस षड्यंत्र में क्लाइव ने नवाब के बहुत ही निकट के संबंधी और उसकी सेना के प्रमुख सेनापतियों में से एक, **मीर जाफर** को अपने साथ मिलाया। जब पूरी तैयारी हो गई तो युद्ध की घोषणा कर दी गई। 23 जून 1757 को क्लाइव और सिराजुद्दौला की सेनाओं के बीच प्लासी का निर्णायक युद्ध हुआ। नवाब यह लड़ाई हारा और भाग गया। बाद में नवाब को पकड़ लिया गया और मार डाला गया। मीर जाफर को नवाब घोषित कर दिया गया लेकिन वास्तव में उसका स्वामी क्लाइव ही था। ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ चुकी थी। इतिहास में किसी भी साम्राज्य की नींव इतनी कम कीमत पर नहीं पड़ी थी। लड़ाई में अंग्रेजों के कुल 23 सैनिक मारे गए और 49 घायल हुए।

प्लासी एक शुरुआत थी। इसके बाद 1760 ई. में दक्षिण भारत में वंदीवाश और 1764 ई. में उत्तर भारत में बक्सर की लड़ाइयों में अंग्रेजों की विजय से साम्राज्यवादी विस्तार के राजनीतिक मार्ग खुल गए। इस अभियान में यह अनिवार्य ही था कि कोई प्रशासन प्रणाली तैयार करने की समझ तभी आ सकती थी जबकि गलतियां करके एक सही तरीका निकाला जाता। क्लाइव और उसके बाद के ब्रिटिश प्रशासकों के सामने वास्तव में बड़ी समस्याएँ थीं। कंपनी के कर्मचारियों ने भारतीय क्षेत्रों पर अपना शासन चलाना शुरू किया लेकिन उन्हें न तो भारत का कुछ ज्ञान था और न ही इसकी सामाजिक प्रणालियों की जानकारी थी। वह राजनीतिक और प्रशासनिक मामलों का कोई अनुभव नहीं रखते थे और साथ ही उनकी प्रवृत्ति जल्द-से-जल्द अमीर बनने की थी। ऐसी परिस्थितियों से भारत में ब्रिटिश प्रशासन शुरू हुआ।

11.1 प्लासी के बाद प्रशासनिक व्यवस्था (After Plassey an Administrative System)

1757 ई. की प्लासी की लड़ाई ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसका महत्व और दूरगामी परिणाम इंग्लैंड में अधिकारियों ने तुरंत महसूस किया। प्लासी की लड़ाई के बाद जो शाही अनुदान दिए गए वे इस बात का संकेत हैं कि किस तरह एक सरकार दूरदराज के देश भारत में कंपनी द्वारा विजित क्षेत्रों के मामलों को नियमित करना चाहती थी। 1757 ई. और 1758 ई. में जारी किए गए चार्टरों में कंपनी को अधिकार दे दिया गया कि वह लड़ाई से प्राप्त की गई संपत्ति कुछ शर्तों के साथ अपने पास रख सकती है। 1758 ई. के चार्टर में स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि कंपनी ने जो क्षेत्र लड़ाइयों में जीते हैं उन पर ब्रिटिश शासन की प्रभुसत्ता होगी।

नोट

लेकिन मूल समस्या, जीते गए इलाकों में आंतरिक प्रशासन से संबद्ध मामलों की थी। प्लासी की लड़ाई के बाद व्यावहारिक रूप से, क्लाइव बंगाल का स्वामी था। लेकिन कानूनी दृष्टि से उसकी स्थिति स्वयं उन अंग्रेजों के बीच क्या थी जो वहाँ आकर बसे थे? कुछ समय तक इस सवाल का कोई जवाब नहीं था। इन कानूनी अनिश्चितताओं के बीच कलकत्ता परिषद् ने आखिरकार जून 1758 में क्लाइव से यह अनुरोध करने का फैसला किया कि वह उनकी ओर से गवर्नर के पद पर कार्य करे। बाद में उसकी नियुक्ति को इंग्लैंड से सरकारी आदेश द्वारा नियमित कर दिया गया।

इसके साथ ही रॉबर्ट क्लाइव का शासन शुरू हुआ, लेकिन यह समस्या बनी रही कि उसके अधिकार कहाँ तक थे? इस सवाल का कोई स्पष्ट जवाब नहीं था। कानूनी तौर पर क्लाइव कलकत्ता का गवर्नर था। लेकिन वास्तव में वह इससे कुछ ज्यादा था। अपने पहले कार्यकाल के दौरान उसने जो भी फेर-बदल किए वे मुख्यतया राजनीतिक थे। कंपनी ने नवाब को बंगाल का शासक मान लिया था। नवाब ने अपनी ओर से यह मान्यता प्रदान कर दी थी कि कलकत्ता में अंग्रेज की प्रभुसत्ता है। उसने सेनाओं की देखरेख और रखरखाव के लिए कंपनी को जमीनें दीं। कंपनी नवाब को संरक्षण देती थी और नवाब सेनाओं का सारा खर्चा देता था। इन सेनाओं का काम नवाब की रक्षा करना था। कंपनी का एक एजेंट नवाब के दरबार में उपस्थित रहता था। नवाब ने 24 परगना का इलाका कंपनी को दे दिया। ये सब राजनीतिक आदान-प्रदान क्लाइव की व्यक्तिगत सफलताएँ थीं जो कंपनी की सैनिक शक्ति की साख पर आधारित थीं। प्लासी की लड़ाई के बाद 1760 ई. में क्लाइव जब इंग्लैंड लौटा तो वह यह दावा कर सकता था कि उसकी वास्तविक सफलता थी बंगाल में कंपनी की सत्ता को स्थापित करना।

लेकिन क्लाइव के जाने के बाद यह सिद्ध हो गया कि कंपनी की सत्ता की नींव अभी भी कमजोर थी। कंपनी ने मीर जाफर के साथ झगड़ा किया और उसे गद्दी से उतार दिया। उसके स्थान पर मीर कासिम को गद्दी पर बिठाया गया लेकिन वह अंग्रेजों के चंगुल से निकलना चाहता था। इसके बाद की स्थिति कुछ ऐसी हो गई कि कंपनी को बंगाल से बाहर की शक्तियों के साथ संघर्ष में उलझना पड़ा। अचानक ही कंपनी की राजनीतिक गतिविधियों का क्षेत्र बढ़ गया।

मीर कासिम ने अपने मुश्किल के दौर में अवध के नवाब वजीर से मदद मांगी। अवध का नवाब मुगल साम्राज्य का नाममात्र का प्रधानमंत्री था और स्वयं मुगल सम्राट जो नाममात्र के लिए ही था, अब भी भारत का कानूनी बादशाह था। इनकी संयुक्त सेनाओं को बक्सर में हार का मुंह देखना पड़ा। मुगल सम्राट शाहआलम का कंपनी के हाथों हार जाना भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी राजनीतिक घटनाओं में से एक था और इस नई स्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाना क्लाइव की जरूरत थी।

मई 1765 में क्लाइव भारत लौटा। उसने हारे हुए सम्राट के साथ जो संधि की वह उसकी कूटनीतिक सूझबूझ का ज्वलंत उदाहरण है। क्लाइव नहीं चाहता था कि कंपनी की सेना को दिल्ली से लाकर यह घोषित कर दिया जाए कि कंपनी ने भारत पर विजय प्राप्त कर ली है। ऐसा करना बहुत मुश्किल होता और इससे दूसरे राजाओं के साथ संघर्ष छिड़ सकता था। इसलिए उसने कानूनी दृष्टि से मान्य भारत के सम्राट के माध्यम से ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर कंपनी की विजय को विधिसम्मत बनाने का फैसला किया। सम्राट की शक्ति बुरी तरह क्षीण हो चुकी थी और बंगाल, बिहार और उड़ीसा में वास्तव में उसकी कोई सत्ता नहीं थी। लेकिन सम्राट के लिए यह मुश्किल नहीं था वह यह इलाके कंपनी को दे दे। इस प्रकार मुगल सम्राट शाहआलम ने कंपनी को बंगाल बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी। इसके बदले में क्लाइव हर साल 26 लाख रुपये की नकद रकम देने पर सहमत हो गया।

दीवानी प्राप्त करने के बाद अब क्लाइव को एक शासन प्रणाली तैयार करने की जरूरत पड़ी। अब कंपनी के हाथ में सही मायनों में सत्ता आ गई। लेकिन फिर भी उसके रास्ते में नवाब था जिसके हाथ में कहने के लिए सत्ता थी और क्लाइव यह महसूस करता था कि नवाब का होना जरूरी है। उसने यह भी जरूरी समझा कि नवाब को पूरा-पूरा सम्मान दिया जाए। क्लाइव का मुख्य उद्देश्य नवाब के इलाकों में नवाब की ओर से अन्य विदेशी ताकतों को खत्म करना था। इस प्रकार नवाब को बनाए रखना लेकिन वास्तविक सत्ता का उपभोग स्वयं करना क्लाइव का मंतव्य था। इसके लिए क्लाइव ने एक शासन प्रणाली शुरू की जो डुअल गवर्नमेंट या डाइआर्की, यानी द्वैध शासन के नाम से प्रसिद्ध हुई।

नोट

11.2 क्लाइव का द्वैध शासन (Diarchy of Clive)

1765 ई. में मीर जाफर की मृत्यु हुई और उसका 18 वर्षीय पुत्र मसनद पर बैठा। कंपनी ने उसे एक निश्चित रकम देना मंजूर किया ताकि वह अपनी शानोशौकत बनाए रख सके। फौजदारी, दीवानी और पुलिस प्रशासन का वास्तविक काम नवाब के ही हाथों में रहा। लेकिन सच्ची सत्ता कंपनी के पास थी। कंपनी का कर्तव्य था बाहरी खतरों से नवाब के क्षेत्रों की रक्षा करना। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण राजस्व वसूली का अधिकार कंपनी ने अपने पास रखा। प्रशासन को इस तरह दो निश्चित और स्पष्ट हिस्सों में बांटने से गंभीर समस्याएँ उत्पन्न होनी ही थीं। कंपनी के पास सत्ता और धन तो था लेकिन प्रशासन की कोई जिम्मेदारी नहीं थी। नवाब के ऊपर जिम्मेदारी थी प्रशासन चलाने की जबकि उसके पास कोई सत्ता और शासन नहीं थे। इस तरह की असंगत व्यवस्था, स्पष्ट है कि परंपरागत शासन प्रणाली के प्रतिकूल थी। परंपरागत शासन प्रणाली में सत्ता और उत्तरदायित्व एक ही व्यक्ति में निहित होते थे। नए प्रबंध के अधीन सब अधिकार और सत्ता गवर्नर और उसकी परिषद् के पास थे और नवाब एक नगण्य व्यक्ति होकर रह गया था। इस प्रकार नवाब का प्रशासन प्रभावहीन था।

क्लाइव के द्वैध शासन का यही स्वरूप था। इसके समर्थन में दलील दी जाती है कि कंपनी के कर्मचारी भारत, भारतीयों, यहाँ की परंपराओं, भाषा-आदि से बिल्कुल परिचित नहीं थे इसलिए प्रशासनिक जिम्मेदारियों के साथ वे पूरी तरह न्याय नहीं कर सकते थे। यह दलील बिल्कुल गलत तो नहीं कही जा सकती लेकिन एक सत्ताहीन नवाब और उसके हताश कर्मचारियों पर जिम्मेदारियाँ लाद देना कोई अक्लमंदी की बात नहीं थी। इसके अलावा गवर्नर और उसकी परिषद् तथा कर्मचारियों और नवाब के कर्मचारियों के प्रशासनिक कार्यक्षेत्र क्या हैं, यह न तो निश्चित किया गया और न ही इनका नियमन हुआ। अंग्रेज कर्मचारी तो बंगाल में लूट-खसोट करना अपना कानूनी अधिकार मानते थे और नवाब के कर्मचारी चुपचाप एक पुरानी पद्धति को समाप्त होते देख रहे थे। इस प्रकार द्वैध शासन, एक कुशासन या भ्रष्ट शासन का दूसरा नाम बन गया।

इस शासन प्रणाली को शुरू करने वाला व्यक्ति क्लाइव 1767 ई. के शुरू में भारत से चला गया। उसके तुरंत बाद आने वाले उत्तराधिकारी वॉरैल्स्ट और कार्टियर में स्थिति में सुधार लाने की कोई योग्यता नहीं थी। अराजकता, भ्रष्टाचार और लूट-खसोट के इस दौर में बंगाल में 1770 ई. में भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें 30 लाख से अधिक लोगों की जानें गईं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. की लड़ाई ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है।
2. कंपनी को संरक्षण देती थी और नवाब सेनाओं का खर्चा देता था।
3. मीरकासिम ने अपने मुश्किल काल में के नवाब वजीर से मदद मांगी।
4. मई 1765 में दुबारा भारत लौटा।

11.3 वारेन हेस्टिंग्स का युग (An Age of Warren Hastings)

क्लाइव के बाद वारेन हेस्टिंग्स का युग आया। क्लाइव ने एक साम्राज्य की नींव डाली थी और हेस्टिंग्स को एक प्रशासन की नींव डालनी थी। भारत की राजनीतिक घटनाओं से कुछ ऐसे मसले उठ खड़े हुए थे जिनका जल्द-से-जल्द समाधान करना आवश्यक था। एक ओर तो इंग्लैंड में राजनीतिज्ञों ने ईस्ट इंडिया कंपनी पर ब्रिटिश शासक के नियंत्रण और भारत में कंपनी के मामलों पर ब्रिटिश संसद के नियंत्रण की समस्या पर सोचना शुरू किया, दूसरी ओर हेस्टिंग्स ने जीते हुए क्षेत्रों में सुचारू प्रशासन लागू करने के प्रयत्न किए। संभवतः उस समय हेस्टिंग्स ही एकमात्र ऐसा अंग्रेज था, जिसमें कंपनी के नियंत्रण वाले इलाके में भारतीयों को अच्छी सरकार देने एवं आवश्यकता पूरी करने की बुद्धि और इच्छाशक्ति थी।

नोट

हेस्टिंग्स ने 1772 में अपना पद सभाला। उसका पहला काम द्वैध-शासन प्रणाली को समाप्त करना था। इसके लिए यह आवश्यक था कि सारे प्रशासन पर कंपनी का पूरा और सीधा नियंत्रण हो। द्वैध-शासन के दिनों में हालांकि दीवानी का अधिकार यानी लगान-वसूली का अधिकार कंपनी को दिया जा चुका था, फिर भी लगान-वसूली के काम का वास्तविक प्रबंध कंपनी ने भारतीय एजेंसी को दे रखा था। हेस्टिंग्स ने इस खतरनाक प्रबंध को खत्म किया। उसने एक बोर्ड आफ रैवन्यू यानी राजस्व बोर्ड की स्थापना की। हर जिले के लिए एक जिलाधीश या कलैक्टर नियुक्त किया। लगान-वसूली में उसकी मदद के लिए भारतीय अधिकारी थे, जिन्हें दीवान कहा जाता था।



नोट्स हेस्टिंग्स नवाब की राजधानी को मुर्शिदाबाद से हटा कर कंपनी की राजधानी कलकत्ता में ले आया। यह कार्रवाई इस बात की प्रतीक थी कि जहाँ अंग्रेज गवर्नर रहता है, वहीं सत्ता का केंद्र है।

द्वैध-शासन प्रणाली के दौरान बंगाल में साधारण कानून और न्याय का कहीं नामोनिशान भी नहीं था। सत्ताविहीन नवाब में इसकी क्षमता ही नहीं रह गई थी कि वह कानून का शासन चला सके और न्याय कर सके। हेस्टिंग्स ने इस समस्या की ओर विशेष ध्यान दिया और उसने एक उचित न्याय प्रणाली का गठन किया। उसने हर जिले में एक सिविल कोर्ट जिसे दीवानी अदालत कहा जाता था, स्थापित की। इस अदालत की अध्यक्षता कलैक्टर करता था और उसकी मदद के लिए भारतीय अधिकारी थे। हर जिले में एक-एक अपराध अदालत भी स्थापित की गई, जिसका नाम फौजदारी अदालत था। इस अदालत की अध्यक्षता एक भारतीय काजी करता था और उसकी मदद के लिए एक मुफ्ती और दो मौलवी हुआ करते थे। कलैक्टर, काजी के काम पर नजर रखता था। जिला दीवानी अदालत में होने वाली अपीलों के लिए कलकत्ता में एक सदर दीवानी अदालत की स्थापना हुई। इसी तरह जिला फौजदारी अदालतों की अपीलों के लिए भी कलकत्ता में ही एक सदर निजामत अदालत स्थापित की गई। ये दोनों अदालतें दीवानी और फौजदारी मामलों की उच्च अदालतें थीं। सदर दीवानी अदालत की अध्यक्षता गवर्नर और सदर निजामत अदालत की अध्यक्षता दरोगा-ए-अदालत करता था और उसकी सहायता के लिए एक मुख्य काजी, मुख्य मुफ्ती और तीन मौलवी होते थे। गवर्नर और उसकी परिषद्, सदर निजामत अदालत के कार्यों की देखरेख करते थे।

हेस्टिंग्स देश में सदियों से चले आ रहे हिंदू और मुस्लिम कानूनों को आदर देना नहीं भूला। उसने इन कानूनों को एक संहिता के रूप में तैयार करने की जरूरत महसूस की। उधर हेस्टिंग्स तो इन कामों में व्यस्त था और उधर इंग्लैंड में अधिकारी ऐसे तरीके सोचने में लगे हुए थे जिनसे कि अपने सर्वोच्च अधिकारों के संदर्भ में वे भारतीय मामलों का नियमन कर सकते।

11.4 ब्रिटिश संसद और भारत : 1773 का रेगुलेटिंग एक्ट

(British Parliament and India : Regulating Act-1773)

ईस्ट इंडिया कंपनी ने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, उससे 40 लाख पौंड की आमदनी होती थी और भविष्य में भी उससे और ज्यादा आमदनी होने की आशाएँ थीं। फिर भी कंपनी के काम संतोषजनक ढंग से नहीं चल रहे थे। उसे तत्काल धन की इतनी ज्यादा जरूरत थी कि 1772 में कंपनी ने ब्रिटिश सरकार को 10 लाख पौंड के ऋण के लिए आवेदन किया। इस जरूरत की वजह बिल्कुल साफ थी। कंपनी के अधिकांश कर्मचारी देश की परिस्थितियों का, कंपनी के लाभ के लिए नहीं, बल्कि अपने फायदे के लिए शोषण कर रहे थे।



क्या आप जानते हैं प्लासी की लड़ाई के दस साल के अंदर-अंदर अंग्रेज कर्मचारियों ने बंगाल में उपहारों के रूप में कोई 20 लाख पौंड से ज्यादा और मुआवजे के रूप में कोई 40 लाख पौंड से कुछ ही कम रकम इकट्ठी कर ली थी।

नोट

स्वयं क्लाइव भी इस तरह के कार्यों का दोषी था और उसने तो एक जागीर भी स्वीकार की थी। कंपनी के कर्मचारी अपने देश से बहुत दूर एक साम्राज्य की स्थापना कर रहे थे और क्योंकि वे अपने देश की सरकार के प्रभावशाली नियंत्रण में नहीं आते थे इसलिए वे अपनी मनमानी कर सकते थे। इंग्लैंड में कई लोगों को यह बात बड़ी विचित्र लगी कि कंपनी को इतनी छूट दे दी जाए। शुरू के दिनों में ब्रिटिश सरकार ने दूसरे देशों में छोटी फैक्टरियां और बस्तियां बनाने के संबंध में कानून बनाया था। लेकिन भारत में प्लासी और बक्सर की लड़ाइयों के बाद ये अंग्रेज व्यापारी इतने बड़े इलाके पर शासन कर रहे थे कि वह स्वयं ग्रेट ब्रिटेन से भी ज्यादा था। कंपनी भारत में एक तरह की अर्द्ध प्रभुसत्ता का उपयोग कर रही थी। इन हालात को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने यह जरूरी समझा कि भारत के साथ कोई नए तरह का संबंध स्थापित किया जाए। इंग्लैंड और भारत के बीच की दूरी इतनी ज्यादा थी कि ब्रिटिश सरकार भारतीय प्रदेशों में अपना पूरा नियंत्रण नहीं रख पा रही थी। कंपनी की सत्ता को भी संतोषजनक रूप से कम नहीं किया जा सकता था। एक विचारधारा यह थी कि कंपनी को इंग्लैंड के हस्तक्षेप के बिना ही अपने मामले नियमित करने दिए जाएँ। लेकिन एक और विचारधारा ने जोर पकड़ा जो इसके ठीक विपरीत थी। इसके अनुसार कंपनी के भारतीय क्षेत्रों पर ब्रिटिश सरकार की पूर्ण प्रभुसत्ता बताई गई।

इंग्लैंड में राजनीतिज्ञों को इन दोनों परस्पर विरोधी मतों के साथ समझौता करके एक व्यावहारिक रवैया अपनाना पड़ा। कंपनी के मामलों की पूरी-पूरी जांच करना जरूरी हो गया। अप्रैल 1772 में हाउस आफ कामन्स के एक प्रमुख सदस्य जनरल गायन ने मांग की कि कंपनी के मामलों की जांच के लिए एक समिति नियुक्त की जाए, 'अधिकारों के जो भयंकर दुरुपयोग, नागरिक सरकार के नाम पर बदनुमा धब्बा बन गए हैं, उनके निदान की आवश्यकता है', उन्होंने कहा। प्रस्तावित समिति को कंपनी में चारों ओर व्याप्त घोर अव्यवस्था की जांच करनी थी। इसलिए ब्रिटिश संसद ने इन आरोपों की जांच के लिए 31 सदस्यों की एक चुनी हुई समिति नियुक्त की। इसके बाद जल्द ही 13 सदस्यों की एक उप-समिति भी बनाई गई जिसे बहुत ही गोपनीय मामलों की जांच करनी थी। दोनों ही समितियों ने अपनी रिपोर्टों में कंपनी की निंदा की। संसद को विश्वास हो गया कि उसे इस आधार पर हस्तक्षेप करने का अधिकार है कि 'सैनिक शक्ति से या विदेशी राजाओं के साथ संधि करके जो कुछ भी प्राप्त किया गया है, वह कानूनी तौर पर सरकार की संपत्ति है।'

उन दिनों लार्ड नार्थ ब्रिटिश प्रधान मंत्री थे। उन्होंने कंपनी के कल्याण के लिए, बल्कि यूं कहा जाए कि उसका अस्तित्व बनाए रखने के लिए कंपनी के मामलों के नियमन का बिल तैयार किया। कंपनी के डायरेक्टरों ने आपत्ति और विरोध प्रकट किया कि संसद, कंपनी को खत्म करने के लिए उसके सारे अधिकार, ब्रिटिश शासक को दे देना चाहती है। लेकिन सरकार ने बाकायदा बिल रखा जिसे संसद ने पास कर दिया। यह बिल 1773 के रेगुलेटिंग एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस एक्ट से इंग्लैंड में कंपनी के संविधान में कुछ परिवर्तन आए। कंपनी की कोर्ट आफ प्रोप्राइटर्स यानी हिस्सेदार सदस्यों की बैठक में वोट देने के अधिकार के लिए हिस्से की रकम बढ़ा दी गई। पहले वे सदस्य वोट दे सकते थे जिन्होंने कम से कम पांच सौ पौंड की पूंजी कंपनी में लगा रखी थी, लेकिन अब केवल वे ही वोट देने के हकदार थे जिनकी न्यूनतम पूंजी एक हजार पौंड थी। इससे मतदाताओं की संख्या कम हो गई और थोड़ी पूंजी वाले हिस्सेदारों को वोट का अधिकार समाप्त हो गया। कंपनी के डायरेक्टर अब चार साल के लिए चुने जाने थे, जिनमें से एक चौथाई सदस्य रिटायर किए जाने थे। ये डायरेक्टर इंग्लैंड में कंपनी के अधिकारी थे और इस पर संसद का नियंत्रण हो सकता था। उन्हें कंपनी की आमदनी से संबद्ध, भारत में होने वाले सारे पत्रव्यवहार को सरकार के सामने पेश करना होता था। भारत में नागरिक और सैनिक प्रशासन से संबद्ध सभी मामलों को इन डायरेक्टरों को विदेश विभाग के एक सचिव अथवा विदेश विभाग में एक मंत्री के सामने पेश करना होता था।



नोट्स ब्रिटिश सरकार ने कंपनी के डायरेक्टरों के माध्यम से, भारत सरकार पर नियंत्रण रखने का प्रयास किया क्योंकि कोर्ट आफ डायरेक्टर्स वास्तव में भारत सरकार का निर्देशन और नियंत्रण करती थी।

नोट

भारत सरकार के गठन के बारे में रेगुलेटिंग एक्ट में यह व्यवस्था थी कि भारतीय प्रशासन के उच्चतम पद पर बंगाल का गवर्नर-जनरल होना चाहिए और उसकी सहायता के लिए चार पार्षद होने चाहिए। प्रत्येक निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाएगा और यदि किसी निर्णय पर वोट बराबर हों तो गवर्नर-जनरल का मत निर्णायक होगा। युद्ध और शांति के सवालों के संबंध में अन्य प्रेसीडेंसियों के ऊपर गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् को अधिकार था। रेगुलेटिंग एक्ट में वारेन हेस्टिंग्स को पहला गवर्नर-जनरल और क्लैवरिंग मानसन, बारवैल और फिलिप फ्रांसिस को पहले पार्षद अथवा कौंसलर नियुक्त किया गया। इनका कार्यकाल पांच वर्ष के लिए था। इसके बाद की नियुक्तियां कंपनी द्वारा की जानी थीं। रेगुलेटिंग एक्ट में यह भी व्यवस्था थी कि ब्रिटिश शासक को एक फरमान जारी करके सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना करनी चाहिए, जिसमें एक प्रधान न्यायाधीश व तीन छोटे जज हों। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय यानी सुप्रीम कोर्ट की स्थापना हुई, जिसके पास व्यापक अधिकार थे। इस प्रकार ब्रिटिश भारत में न्यायिक प्रणाली की शुरुआत सीधे ब्रिटिश शासक से हुई।

रेगुलेटिंग एक्ट ने भारत में ब्रिटिश इलाकों की सरकार के लिए पहला संविधान दिया, जो ब्रिटिश पार्लियामेंट में उपजा था। लार्ड नार्थ का उद्देश्य कंपनी के मामलों को ठोस, स्पष्ट और निश्चित आधार पर स्थापित करना था। लेकिन बहुत अच्छे इरादे होते हुए भी इस एक्ट को बनाने वाले एक पूर्ण प्रणाली की स्थापना न कर सके। इस एक्ट के लागू होते ही इसमें निहित कमियां सामने आ गईं। इस एक्ट के द्वारा संसद कंपनी पर जिस तरह का नियंत्रण चाहती थी वह न तो समुचित था और न ही प्रभावशाली। चूंकि कंपनी के कर्मचारी मंत्रिमंडल की नजरों से बहुत दूर के देश में काम करते थे इसलिए उनके आचरण को सही तरह से नियमित नहीं किया जा सकता था। सही मायने में निदेशक मंडल या कोर्ट आफ डायरेक्टर्स मंत्रिमंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं था। इस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश संसद के बीच संबंध कुछ अनिश्चित-से रहे। इस एक्ट से भारत में कई तरह की अव्यवस्था उत्पन्न हुई। गवर्नर-जनरल अपनी परिषद् से ऊपर था या परिषद् गवर्नर-जनरल से ऊपर थी, इस सवाल को लेकर वारेन हेस्टिंग्स और उनकी परिषद् के सदस्यों के बीच झगड़े हुए। इसमें एक प्रसिद्ध झगड़ा था हेस्टिंग्स और फ्रांसिस का, अंत नन्द कुमार काण्ड से हुआ। इसमें यह बात भी निकली कि हेस्टिंग्स ने रिश्वत ली थी। ये सब निंदनीय बातें, रेगुलेटिंग एक्ट की कमियों का नतीजा थीं। इसी प्रकार यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं था कि भारत में केंद्रीय सरकार का प्रेसीडेंसी सरकारों पर कितना नियंत्रण रहेगा। इस अस्पष्टता के कारण कंपनी के विदेशी मामलों में कई समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। इसके साथ ही गवर्नर-जनरल और उनकी परिषद् तथा सर्वोच्च न्यायालय के बीच किस तरह के संबंध रहेंगे यह भी स्पष्ट नहीं था। दोनों के अधिकार क्षेत्र एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्रों में दखल देते थे और इस वजह से झगड़े उठ खड़े होते थे। यहाँ तक कि वह कानून भी स्पष्ट नहीं था, जिसे भारत में सुप्रीम कोर्ट को लागू करना था और न ही इसकी सही व्याख्या की गई थी। इस वजह से भी कई गंभीर स्थितियां उत्पन्न हुईं।

रेगुलेटिंग एक्ट में ये सब कमियां थीं, जिनकी वजह से उसकी व्यापक आलोचना हुई और उसके बाद एक नए एक्ट की मांग की गई। रेगुलेटिंग एक्ट केवल 11 वर्षों तक ही चल सका और सिर्फ वारेन हेस्टिंग्स के समय ही यह लागू रहा। संयोग की बात है कि इस एक्ट के कुपरिणाम सबसे ज्यादा हेस्टिंग्स को ही भुगतने पड़े हालांकि इसी एक्ट ने वारेन हेस्टिंग्स को एक गवर्नर के पद से उन्नत करके गवर्नर-जनरल के पद पर ला बिठाया था।

पिट का इंडिया एक्ट, 1784 : जहाँ एक ओर भारत में रेगुलेटिंग एक्ट लागू हो चुका था और इसके अनुसार शासन चलाया जा रहा था वहाँ अन्य स्थानों में दूरगामी परिणाम वाली राजनीतिक घटनाएँ हो रही थीं। अटलांटिक के पार इंग्लैंड के तेरह अमरीकी उपनिवेशों ने विद्रोह किया और लड़ाई के बाद स्वाधीन हो गए। इन अमरीकी उपनिवेशों का इंग्लैंड के हाथ से निकल जाना ब्रिटेन की प्रतिष्ठा पर गंभीर आघात था और इससे ब्रिटिश संसद अपने भारतीय इलाकों के शासन के बारे में और ज्यादा सचेत हो गई। जिन दिनों अमरीका में लड़ाई चल रही थी उन्हीं दिनों ब्रिटिश संसद एक नए एक्ट के जरिए ज्यादा कारगर नियंत्रण की खोज में भारतीय मामलों पर विचार कर रही थी।

इन हालात में 1781 में संसद ने एक चुनी हुई समिति और एक गुप्त समिति जांच के लिए नियुक्त की। एक बार फिर भारतीय प्रशासन में कई कमियां उभर कर सामने आईं। इसमें कोई शक नहीं था कि रेगुलेटिंग एक्ट विफल रहा था। कंपनी एक बार फिर वित्तीय कठिनाइयों में फंस गई थी और उसने 1783 में जब सहायता के लिए आवेदन किया तो स्थिति निर्णायक दौर में पहुँच गई। **एडमण्ड बर्क** ने मांग की थी कि अगर कंपनी को इस तरह की

नोट

सहायता के योग्य समझा जा रहा है तो कंपनी की सहायता और उसका पुनर्गठन साथ-साथ होने चाहिए। अप्रैल 1783 में हेनरी डंडास ने एक बिल पेश किया, जिसका उद्देश्य गवर्नर-जनरल पर ब्रिटिश सरकार की सत्ता और परिषद् तथा प्रेसीडेंसियों पर गवर्नर-जनरल की सत्ता में वृद्धि करना था। बिल अच्छा था लेकिन डंडास चूंकि विपक्ष का सदस्य था इसलिए इस बिल को न तो पास करा पाया और न ही उसके प्रस्तावों का कुछ बना। उसी साल नवंबर में चार्ल्स जेम्स फाक्स ने एक बिल रखा जिसमें बहुत बड़े परिवर्तन सुझाए गए थे। उसने भारतीय प्रशासन को एक ऐसी तानाशाही की प्रणाली बता कर निंदा की जिसकी विश्व के इतिहास में कोई मिसाल नहीं मिलती। फाक्स ने वारेन हेस्टिंग्स की निंदा करते हुए कहा कि वह ऐसा व्यक्ति है जिसने अपने मालिकों के आदेशों की अवहेलना की और अपने आपको इतना बड़ा मान लिया कि अपने राज्य के हर मसले में दखल दे सके और हर सरकारी काम को अपनी सफलता बता सके। बर्क ने फाक्स का समर्थन किया और कंपनी के प्रशासन को बेहद भ्रष्ट और विनाशकारी तानाशाही बताते हुए कहा कि ऐसा प्रशासन दुनिया में शायद ही कभी कहीं हुआ हो। इसी तरह हमारी भारतीय सरकार अगर अपनी सबसे अच्छी हालत में भी हो तो एक शिकायत की ही शक्ल में होगी। यह जरूरी है कि उसे सुधारने के उपाय बहुत कड़े हों उसमें काम करने वाले लोगों में पूर्ण निष्ठा की भावना हो। फाक्स के बिल का उद्देश्य था ब्रिटेन में एक शक्तिशाली सरकार की स्थापना जो भारत में सरकार को काबू में रख सके। बिल विचार के योग्य था, लेकिन फाक्स ने कुछ राजनीतिक भूलों की जिनके परिणामस्वरूप उसने लार्ड नार्थ के साथ मिलकर एक संयुक्त मंत्रिमण्डल बनाया और उनकी उन भूलों के कारण वह इतना अलोकप्रिय हो गया कि बिल का विफल होना ही निश्चित था। मिली-जुली सरकार के पतन से फाक्स के इस बिल के भाग्य का भी निर्णय हो गया।

इन हालात में प्रधानमंत्री बनने के बाद पिट द यंगर ने जनवरी 1784 में अपना प्रसिद्ध इंडिया बिल पेश किया। पिछले बिलों पर जो वाद-विवाद हुआ था। उससे पिट द यंगर स्थिति को कहीं ज्यादा अच्छी तरह समझ सका था। संसद भंग कर दिए जाने और उसके बाद भारी बहुमत से पिट द यंगर के सत्ता में वापस आने से उसके हाथ बहुत मजबूत हो गए। उसने अपना बिल फिर पेश किया और अगस्त 1784 में यह पास हो गया।

पिट के इंडिया एक्ट के अनुसार भारत के मामलों के बेहतर नियंत्रण के लिए इंग्लैंड में एक नियंत्रण बोर्ड स्थापित किया गया। जेम्स मिल ने इस बोर्ड के बारे में इस प्रकार बताया है—बोर्ड में प्रीवीकौंसल के छः सदस्य थे, जिनका चुनाव ब्रिटेन के राजाओं ने किया था। इनमें एक खजाना मंत्री और दूसरा प्रमुख विदेशी सचिवों में से एक था। अगर ये दोनों उपस्थित न हों तो बाकी चार सदस्यों में से वरिष्ठ सदस्य बैठक की अध्यक्षता करता था। वास्तव में सारी जिम्मेदारी उस वरिष्ठ सदस्य पर ही थी। अन्य सदस्यों को विचार-विमर्श के लिए कभी-कभार बुलाया जाता था या केवल एक औपचारिकता के लिए बैठक में भाग लेने के लिए निमंत्रण भेजा जाता था। यह वरिष्ठ सदस्य नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष के नाम से जाना जाता था और अनिवार्यतः एक नया विदेश सचिव होता था। यह विदेश सचिव भारतीय विभाग के लिए था। बोर्ड के अध्यक्ष को पूर्व के देशों में राजस्व और नागरिक मामलों तथा सेना संबंधी मामलों पर नजर रखने और उसका नियंत्रण करने के लिए काफी अधिकार दिए गए थे। निदेशक मंडल या कोर्ट आफ डायरेक्टर्स बनाए रखी गई लेकिन यह नियंत्रण बोर्ड के अधीन थी। इस कोर्ट आफ डायरेक्टर्स को भारत से प्राप्त होने वाले सभी पत्रों आदि की गतिविधियाँ, उसके सभी प्रस्ताव, आदेश, बैठकों की कार्यवाही का विवरण और भारत को भेजे जाने वाले पत्रों की प्रतियाँ बोर्ड में पेश करनी होती थीं। नियंत्रण बोर्ड भारत को भेजे जाने वाले आदेशों अथवा पत्रों में फेर-बदल कर सकता था या उन्हें स्वयं तैयार कर सकता था। भारत को गुप्त और अधिक आवश्यक आदेश निदेशक मंडल की एक गुप्त समिति के माध्यम से भेजे जाने जरूरी थे। इस प्रकार नियंत्रण बोर्ड भारतीय प्रदेशों पर वास्तव में शासन चलाने वाली संस्था बन गयी। कंपनी के निदेशक मंडल को अपने सभी कर्मचारी नियुक्त करने का अधिकार अभी भी मिला हुआ था, लेकिन उसके पहले के अधिकांश अधिकार छीन लिए गए। ईस्ट इंडिया कंपनी की कोर्ट आफ प्रोप्राइटर्स भी अपने बहुत से अधिकार खो चुकी थी। वह ऐसा कोई भी प्रस्ताव, जिसे निदेशक मंडल यानी कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने नियंत्रण बोर्ड के अनुमोदन से पास किया हो, रद्द या स्थगित नहीं कर सकती थी। इस तरह भारतीय प्रदेशों पर कंपनी की राजनीतिक सत्ता काफी कम हो गई थी, लेकिन इसके व्यावसायिक विशेष अधिकार ज्यों के त्यों बने रहे।

नोट

भारत के प्रशासन के बारे में पिट के इंडिया एक्ट में यह स्पष्ट रूप से बता दिया गया था कि वास्तविक सत्ता किसके हाथ में है। गवर्नर-जनरल और तीन सदस्यों की परिषद् से मिलकर केंद्रीय सरकार बनाई गई। गवर्नर-जनरल को अपनी परिषद् से ज्यादा कारगर अधिकार दिए गए। बंगाल में स्थित केंद्र सरकार को राजस्व, युद्ध, शांति और कूटनीति के मामलों में अन्य मातहत प्रेसीडेंसियों पर निश्चित सत्ता दी गई। प्रेसीडेंसी सरकारों को अपने कागज-पत्र केंद्र को भेजने होते और उससे निर्देश लेने होते थे।

गवर्नर-जनरल को समुचित और ज्यादा प्रतिष्ठा वाला दर्जा देने के लिए उसकी नियुक्ति ब्रिटिश शासक की सहमति से निदेशक मंडल को करनी थी और ब्रिटिश शासक को गवर्नर-जनरल को वापस बुलाने का अधिकार भी था। इंग्लैंड में भारतीय सरकार के अधिकार भी कुछ कम रखे गए, विशेषकर युद्ध के मामलों में। गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् ब्रिटिश अधिकारियों की अनुमति के बिना लड़ाई का एलान नहीं कर सकती थी।

प्रेसीडेंसियों का प्रशासन गवर्नर और उसकी तीन सदस्यों की परिषद् के हाथ में था। उनकी नियुक्ति निदेशक मंडल द्वारा होती थी। लेकिन ब्रिटिश शासक को प्रेसीडेंसी के गवर्नर को वापस बुलाने या उसको पद से हटाने का अधिकार था।

कई वर्षों के गैर जिम्मेदार और अव्यवस्थित प्रशासन के बाद पिट का इंडिया एक्ट सरकारी व्यवस्था को सुचारू बनाने और सरकार को एक निश्चित प्रणाली के प्रति उत्तरदायी बनाने की दिशा में एक उपाय था। नियंत्रण बोर्ड अथवा बोर्ड आफ कंट्रोल स्थापित करने के लिए सिद्धांत यह था कि ब्रिटिश सरकार के दो बड़े मंत्रियों का सीधा संबंध भारत में कंपनी के प्रदेशों पर प्रशासन के साथ हो जाए। इन मंत्रियों को सभी कागज-पत्र देखने और आदेश तथा भारत भेजे जाने वाले पत्रों का अनुमोदन करने के अधिकार थे।



सावधानी

वाणिज्य के मामलों में कंपनी के अधिकारों को बिल्कुल हाथ नहीं लगाया गया। इसके निदेशक मंडल को कंपनी के कर्मचारियों को नियुक्त करने और उनके अन्य सभी मामलों की देखरेख करने के अधिकार अब भी मिले हुए थे। इस तरह यह एक्ट संसद और कंपनी के बीच विवाद के एक समझौते का हल था, जिसमें संसद को ज्यादा महत्व दिया गया था।

इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि भारत में प्रशासन का काम संविधान की वास्तविक कार्यकारी सत्ता को छोड़ किसी अन्य के हाथ में देना सुरक्षा और औचित्य की दृष्टि से ठीक नहीं होगा। संविधान की वास्तविक कार्यकारी सत्ता से उसका मतलब ब्रिटिश मंत्रिमंडल से था। एक विदेश सचिव को नियंत्रण बोर्ड का अध्यक्ष बनाया जाना उस प्रक्रिया की शुरुआत थी जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार ने अंततः भारत पर शासन चलाया। पिट ने तथाकथित भावी गोरे मुगल की रूपरेखा तैयार कर ली थी।

पिट के संविधान के अंतर्गत भारतीय प्रशासन के विकास ने एक दिशा पकड़ी और यह विकास धीरे-धीरे विभिन्न भारतीय सरकारों के अंतर्गत हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. परंपरागत शासन में सत्ता और उत्तरदायित्व एक ही में निहित होते थे।

(क) कानून	(ख) साम्राज्य
(ग) अधिकार	(घ) व्यक्ति
6. क्लाइव के बाद का युग आया।

(क) वारेन हेस्टिंग्स	(ख) लार्ड कर्जन
(ग) एडमंड बर्क	(घ) विलियम जोन्स

नोट

7. दीवानी अदालत की अध्यक्षता करता था और उसकी मदद के लिए भारतीय अधिकारी थे।
 (क) मजिस्ट्रेट (ख) कलक्टर
 (ग) नाजिर (घ) काजी
8. ईस्ट इंडिया कंपनी ने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, उससे पौंड की आमदनी होती थी।
 (क) 50 लाख (ख) 20 लाख
 (ग) 40 लाख (घ) 80 लाख

11.5 पिट इंडिया एक्ट के बाद प्रशासनिक घटनाएँ (Administrative Events After Pitt's India Act)

पिट के इंडिया एक्ट के साथ ही वारेन हेस्टिंग्स के प्रशासन का अंत हो गया। उसने 1785 के शुरू में भारत छोड़ा। इंग्लैंड में उसके दुश्मन उसके खिलाफ कई आरोप तैयार कर रहे थे, जिनके कारण उसे पद से हटाकर उस पर मुकदमा चलाया गया जो सात साल तक चला।

हेस्टिंग्स के स्थान पर कार्नवालिस की नियुक्ति हुई जो सितंबर 1786 में कलकत्ता पहुंचा। वह कंपनी का कर्मचारी नहीं था इसलिए उसके प्रभावों से मुक्त था। गवर्नर-जनरल के उच्च पद पर उसका चुनाव ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने किया था, हालांकि उसकी नियुक्ति कंपनी द्वारा हुई थी। कार्नवालिस ने इस पद की जिम्मेदारी अपनी शर्तों पर संभाली थी। वह सेना का आदमी था इसलिए चाहता था कि गवर्नर-जनरल और कमांडर-इन-चीफ इन दोनों पदों पर स्वयं कार्य करे। उसे वारेन हेस्टिंग्स और उनकी परिषद् के बीच दुर्भाग्यपूर्ण संबंधों के बारे में जानकारी थी इसलिए कार्नवालिस ने यह दावा किया कि उसकी सत्ता परिषद् से ऊपर होनी चाहिए। इन विशेष सुविधाओं के साथ उसने पद ग्रहण किया और प्रशासन को सुचारू बनाने का दृढ़ निश्चय किया। हालांकि उसे भारत के बारे में कोई अनुभव नहीं था, लेकिन उसने जान शोर, जेम्स ग्रांट, जोनाथन डंकन, चार्ल्स, ग्रांट और विलियम जोन्स जैसे व्यक्तियों की सही सलाह का फायदा उठाने की अक्लमंदी दिखाई।

कार्नवालिस भ्रष्टाचार की बुराई को जड़ से उखाड़ कर, नागरिक और सैनिक सेवाओं में सुधार लाना चाहता था। क्लाइव और हेस्टिंग्स के जमाने में कंपनी के ब्रिटिश कर्मचारी लूट-खसोट और घूस लेने के इरादों से अपनी जन सेवाएं देते रहे थे। अपने कम वेतनों पर उन्होंने कोई असंतोष व्यक्त नहीं किया क्योंकि उनकी ऊपरी आमदनी बहुत ज्यादा थी। जो प्रशासन इतने अनैतिक कार्यों की नींव पर खड़ा हो उसकी साख कभी नहीं बन सकती थी। कार्नवालिस इस बुराई की जड़ मिटा देना चाहता था। उसने अधिकारियों के लिए ज्यादा वेतन देने की मांग की लेकिन उन्हें अन्य तरीकों से धन कमाने की आजादी नहीं दी। नियुक्तियों और पदोन्नतियों के लिए केवल गुणों का ध्यान रखा गया न कि सिफारिशों, पक्षपात या इस बात का कि वे किस बड़े आदमी के पक्ष का हैं। कार्यकुशलता और ईमानदारी की कद्र की जाती थी जबकि बेईमानी की सजा दी जाती थी। हालांकि कार्नवालिस ने ब्रिटिश भारतीय प्रशासक का स्तर सुधारा लेकिन उसने उच्च जिम्मेदारियों वाले पदों पर भारतीयों को न लेकर उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय किया। सरकारी सेवा के सभी बड़े पद अंग्रेजों के लिए सुरक्षित थे।

कार्नवालिस का सबसे उल्लेखनीय कार्य भारतीय जिलों को निश्चित प्रशासनिक इकाइयों के रूप में संगठित करना था। प्रत्येक जिला एक मजिस्ट्रेट और एक कलैक्टर के अधीन था। मजिस्ट्रेट कार्यपालिका का प्रतिनिधि था, जो दीवानी अदालत में जज के रूप में होता था और अंत में अपने जिले की पुलिस की भी निगरानी करता था। इस प्रकार मजिस्ट्रेट एक जिला जज के रूप में और पुलिस विभाग के सबसे बड़े अधिकारी के रूप में काम करता था यानी इस एक ही व्यक्ति में न्यायालय और कार्यपालिका दोनों के अधिकार निहित थे। दूसरी ओर कलैक्टर उस जिले के राजस्व प्रशासन के विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी रहा। उसके पास पहले जो न्यायपालिका और कार्यपालिका के अधिकार थे वे ले लिए गए। पुलिस प्रशासन को कारगर बनाने के लिए हर जिले को कई पुलिस हल्कों या थानों में बांटा गया। प्रत्येक हल्का एक भारतीय दरोगा के अधीन रखा गया जो अपने इलाके में शांति बनाए रखने और अपराधों को रोकने या उनका पता लगाने के लिए जिम्मेदार था।

नोट

न्याय के क्षेत्र में कार्नवालिस का उद्देश्य एक व्यापक न्यायप्रणाली स्थापित करना था। दीवानी न्याय के मामलों में हर जिले के कस्बों में मुनिसिफ और अमीन और रजिस्ट्रार की अदालतों जैसी छोटी-छोटी अदालतें बनाई गईं। इन अदालतों से बड़ी जिला अदालत थी जो प्रत्येक जिले में थी और जिसमें एक ब्रिटिश मजिस्ट्रेट बड़ा जज था। उसकी मदद के लिए एक-एक मुस्लिम काजी और हिंदू पंडित था जो अपने-अपने संप्रदाय के कानूनों को अच्छी तरह जानते थे। इसके बाद आती थीं प्रांतीय अदालतें या अपील अदालतें जो चार स्थानों कलकत्ता, पटना, ढाका और मुर्शिदाबाद में थीं। इस तरह की हर अदालत में तीन जज, एक रजिस्ट्रार, एक काजी, एक मुफ्ती और एक पंडित होते थे। इन अदालतों से ऊपर सर्वोच्च न्यायालय था, जो कलकत्ता में स्थित था और 'सदर दीवानी अदालत' के नाम से प्रसिद्ध था। इस सर्वोच्च न्यायालय या सुप्रीम कोर्ट में गवर्नर-जनरल, उसकी परिषद्, एक रजिस्ट्रार, एक काजी, एक मुफ्ती और एक पंडित होते थे और अंत में ऊपर थी इंग्लैंड में स्थित प्रिवी कौंसिल, जिसमें सदर दीवानी अदालत से अपील की जा सकती थी। सबसे निचली अदालत से लेकर सबसे ऊंची अदालत तक अपीलों, मामले के मूल्य के अनुसार ले जाई जा सकती थीं।

फौजदारी मामलों में निर्णय देने का काम चार प्रांतीय अदालतों के हाथों में था। ये अदालतें बारी-बारी से न्याय प्रशासन चलाती थीं। इसलिए इनका नाम सर्किट कोर्ट्स था। इस न्याय प्रणाली में सबसे नीचे के स्तर पर थे शांति के न्यायधीश जो प्रत्येक जिले में होते थे। इन्हें 'जस्टिसेस आफ पीस' कहा जाता था। इनमें शामिल थे अमीन, रजिस्ट्रार और जिला जज जैसे अधिकारी, जो छोटे मामलों का निर्णय देते थे। प्रणाली के सबसे ऊपर के स्तर पर थी सुप्रीम क्रिमीनल कोर्ट यानी सर्वोच्च अपराध अदालत या सदर निजामत अदालत, जो सर्किट कोर्टों से अपील की सुनवाई करती थी। सदर निजामत अदालत में गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् होती थी, जिनकी सहायता के लिए एक काजी और दो मुफ्ती हुआ करते थे।

भारत में कार्नवालिस का सबसे प्रसिद्ध कार्य था स्थायी समाधान यानी परमानेंट सैटिलमेंट। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि कार्नवालिस ने प्रशासन में भारत पर ब्रिटिश नियंत्रण और दृढ़ करने का उद्देश्य पूरा किया। उसके प्रशासन की खास खामियों में एक यह थी कि वह भारत को एक आधुनिक कानून संहिता न दे पाया। वारेन हेस्टिंग्स ने इस तरह की संहिता की जरूरत महसूस की थी। सर विलियम जोन्स देश के कानून के बारे में गंभीरतापूर्वक अनुसंधान कर रहे थे, लेकिन अभी भी एक निश्चित संहिता केवल एक ऐसा लक्ष्य ही बनी रही। जिसका आभास मात्र था। इसके परिणामस्वरूप कार्नवालिस की न्यायिक व्यवस्था अपूर्ण रही। इसी तरह कार्नवालिस जो प्रशासन का स्तर ऊंचा करने के लिए चिंतित था और इसी ख्याल से अंग्रेज अधिकारियों के वेतन बढ़ा दिए थे, उसी कार्नवालिस ने सबसे निचले पदों पर बहुत कम वेतन पर भारतीयों को नौकरियों में रख कर कोई न्याय की बात नहीं की। दरोगा, रजिस्ट्रार, अमीन और मुफ्ती को इतना कम पैसा मिलता था कि वे केवल दयनीय दशा में जिंदा रह सकते थे। इसलिए कोई अस्वाभाविक बात नहीं है कि अंग्रेजों के जमाने में भारतीय पुलिस कर्मचारी शक और शुबह से बचे हुए नहीं थे। इसके अलावा सबसे बड़ी बात यह थी कि उच्च पदों पर भारतीयों को न रखने से प्रशासन को एक विदेशी रंग मिला हुआ था। जज, मजिस्ट्रेट और क्लैक्टर सभी अंग्रेज थे जो आम लोगों से बहुत दूर रहते थे और उनकी जरूरतों और समस्याओं का उन्हें कुछ पता नहीं था।



सावधानी

कार्नवालिस का यह विश्वास था कि यूरोपियनों की एक बड़ी और सुनियमित संस्था के बिना इन महत्वपूर्ण ब्रिटिश उपनिवेशों पर अपना आधिपत्य जमाए रखना आसान नहीं है और इसलिए यह भावना उपजी थी कि प्रशासन में यूरोपियनों को ही रखना जरूरी है।

गुणों और अवगुणों के होते हुए भी कार्नवालिस-प्रणाली बनी रही। बंगाल के अलावा इसे भारत के अन्य भागों में भी लागू किया गया। 1789 की फ्रांस की क्रांति और 1799 में नेपोलियन के सत्ता में आने के बाद के यूरोपीय हालत पर इंग्लैंड का ध्यान केंद्रित रहा और इस बीच भारत में शासन प्रणाली को परिपक्व होने दिया गया। कार्नवालिस के योग्य उत्तराधिकारी लार्ड वैल्जली के लिए वास्तविक समस्या प्रशासन की खामियों को दूर करने की नहीं थी

नोट

बल्कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को बदल कर भारत का ब्रिटिश साम्राज्य बनाने की थी। उनके सहायक संधि के सिद्धांत और साम्राज्यवादी लड़ाइयों ने मिलकर दूर-दूर तक ब्रिटिश क्षेत्रों का विस्तार किया। आक्रामक अभियानों का क्रम मारक्वी आफ हेस्टिंग्स के अधीन जारी रहा, जिसने वेल्लजली द्वारा शुरू किए गए काम को पूरा किया। भारत का अधिकांश भाग ब्रिटिश साम्राज्य बन गया।

विस्तार की इन अवधियों के दौरान कभी कभी आवश्यकता के अनुसार प्रशासन में परिवर्तन किया गया। इस तरह के छोटे-मोटे परिवर्तनों में एक था हर जिले में पुलिस प्रणाली को और कारगर बनाने के लिए पुलिस सुपरिंटेंडेंट के पद की स्थापना। इस नए पद की स्थापना से जिलों की पुलिस व्यवस्था पूरी हो गई। दारोगाओं के अधीन थाने भारत में जगह-जगह देखने को मिले। व्यापक अर्थों में देखा जाए तो यह प्रणाली बहुत सस्ती थी, क्योंकि इससे होने वाले फायदे खर्च की अपेक्षा कहीं ज्यादा थे। कई स्थानों पर तो यह बड़ी कार्यकुशलता और तीव्र सिद्ध हुई।

लेकिन न्याय-प्रणाली बराबर एक समस्या बनी रही। लोगों को अपने शासकों के कानूनों का पता नहीं था। शासकों को भारत की जनता के कानूनों का कोई ज्ञान नहीं था। मुकदमों में फँसे अधिकांश लोगों को अदालतों की भाषा नहीं आती थी। अधिकांश जगहों के लिए जनता की भाषा एक विदेशी भाषा थी। ऐसी हालत में महज अदालतों की स्थापना से, जरूरी नहीं था कि जनता को न्याय मिल ही जाएगा। अदालती कार्रवाइयों का मतलब बन गया देरी। एक बार कोई भी किसी मामले में फँसा तो उसको निपटाने में उसकी सारी जमीन-जायदाद खत्म हो जाती थी। इन मुश्किलों के कारण आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोग वकीलों के चंगुल में आ जाते थे और वकीलों ने कानूनी पेचीदगियों से फायदा उठाकर अमीर बनना शुरू कर दिया।

हालात सुधारने के लिए कई उपाय किए गए। मुकदमों की संख्या कम करने के लिए फीस मुकर्रर की गई। निचली अदालतों से उच्च अदालतों में अपील करने की विधि और कठोर बना दी गई। सबसे बड़ी अदालत में मुकदमा निपटाने में देरी न हो इसके लिए वेल्लजली ने यही ठीक समझा कि गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् को जज के रूप में काम नहीं करना चाहिए क्योंकि वे लोग बहुत व्यस्त रहते थे। इसलिए सदर अदालत के लिए अलग जज नियुक्त किए गए। इसके अलावा जिला स्तर पर जजों की संख्या बढ़ाई गई। छोटे फौजदारी मामलों में मजिस्ट्रेटों को ज्यादा अधिकार दिए गए। लेकिन इन उपायों के बावजूद कानूनी प्रणाली काफी कठिन और दोषपूर्ण बनी रही।

कार्नवालिस के नए-नए उपायों के 35 वर्ष बाद लार्ड विलियम बैंटिक ने गवर्नर-जनरल का पद संभाला और उसके साथ ही सुधारों का युग शुरू हुआ। उसके सामाजिक और शैक्षणिक सुधारों के बड़े दूरगामी परिणाम हुए, जिनके बारे में आगे बताया जाएगा। प्रशासनिक और न्यायिक क्षेत्रों में भी उसकी सफलताएँ बहुत उल्लेखनीय थीं।

बैंटिक को यह देखकर बहुत धक्का लगा कि प्रांतीय अपील अदालतें सरकारी सेवाओं के कुछ सदस्यों के लिए आराम की जगहें बन गई हैं, जिन्हें बड़ी जिम्मेदारियों के पदों के योग्य नहीं समझा जाता था। इन अदालतों का स्तर बहुत गिर गया था और इन्हें बंद कर देना ही अच्छा था। संपूर्ण पुनर्गठन जरूरी बनाए गए थे उन्हें, अपने मजिस्ट्रेट के अधिकार, जिला कलैक्टरों को सौंपने पड़े। इस प्रकार जिला अधिकारी बना, जो जिला मजिस्ट्रेट था, साथ ही साथ वह राजस्व का कलैक्टर और पुलिस विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी भी था। इस प्रकार मजिस्ट्रेट, कलैक्टर और पुलिस अधिकारी ये तीनों कार्य एक व्यक्ति में निहित थे। इसके अलावा हर जिले में एक सेशन जज था जो फौजदारी और दीवानी दोनों तरह के मामलों के लिए होता था।



क्या आप जानते हैं बैंटिक ने जो जिला मजिस्ट्रेट की प्रणाली शुरू की वह ब्रिटिश प्रशासन के अंत तक चली।

इस मजिस्ट्रेट के कई काम होते थे। उसे व्यापक अधिकार मिले हुए थे। प्रशासनिक व्यवस्था में उच्च पदों पर भारतीयों को न रखने की कार्नवालिस ने जो प्रथा डाली थी उसे बैंटिक ने तोड़ दिया और इंग्लैंड में अधिकारियों को यह मानने के लिए राजी किया कि भारतीयों को उच्च पद दिए जाने चाहिए।

नोट

19 वीं शताब्दी के मध्य में जब लार्ड डलहौजी ने भारत पर शासन चलाया (1848-56) तो ब्रिटिश साम्राज्य हिंदूकुश से बर्मा तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला। साम्राज्य की स्थापना पूरी हो जाने पर देसी रियासतों को छोड़ बाकी सारे उपमहाद्वीप पर समान रूप से प्रशासन लागू हो गया। उस समय तक प्रशासन का स्वरूप और क्षेत्र भी काफी बदल गया था। डलहौजी ने लड़ाइयों में क्षेत्र जीतते हुए, या जोर-जबर्दस्ती करके प्राप्त इलाकों को ब्रिटिश क्षेत्रों में मिलाते हुए एक क्रूर साम्राज्यवादी नीति का पालन किया था, लेकिन साथ ही वह अपने प्रशासन में आधुनिकता भी लाया। अवसान के सिद्धांत के माध्यम से उसने कई छोटी-छोटी रियासतें खत्म कर दीं। उसका इरादा, जहाँ तक संभव हो, सारे भारत को एक समान सरकारी प्रणाली के अधीन लाना था।

डलहौजी की ख्याति मुख्य रूप से भारत में रेलवे, इलैक्ट्रिक टेलीग्राफ और आधुनिक डाक प्रणाली शुरू करने पर आधारित है। इनसे जितना फायदा जनता को हुआ उतना ही प्रशासन को भी हुआ। जनता के हित के लिए निर्माण-कार्य की बढ़ती हुई आवश्यकता को पूरा करने के वास्ते डलहौजी ने सार्वजनिक निर्माण विभाग स्थापित किया। इसके अलावा डलहौजी द्वारा किए गए सुधारों में एक और सुधार यह था कि उसने सरकारी कार्यों को अलग-अलग सुनिश्चित विभागों में बांट दिया।

डलहौजी 1856 में भारत से चला गया। 1857 में ब्रिटिश प्रशासन के खिलाफ महान क्रांति हुई, अंग्रेजों ने इसे सिपाही विद्रोह या सिपाही युद्ध कहा। इस क्रांति के खत्म होते ही भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त हो गया। अंग्रेजों ने इस क्रांति को खत्म करने की अपनी सफलता को भारत पर पुनर्विजय माना। ब्रिटिश शासन ने कंपनी से सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली। कंपनी ने भारत पर 1757 से 1857 तक शासन चलाया। ब्रिटिश शासन का पूर्वार्ध समाप्त हुआ और उत्तरार्ध आरंभ हुआ। ब्रिटिश शासन के अधीन सांविधानिक घटनाओं पर विचार करने से पहले उन सभी चार्टर एक्टों का अध्ययन करना आवश्यक है, जिन्हें संसद ने पिट के इंडिया एक्ट से लेकर कंपनी के हाथ से ब्रिटिश शासक द्वारा सत्ता ले लेने तक की अवधि के दौरान पास किया था।

11.6 ब्रिटिश संसद और चार्टर एक्ट (British Parliament and Charter Act)

ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रदेशों और प्रशासनिक तथा व्यावसायिक कार्यों पर संसद की प्रभुसत्ता का सिद्धांत जब एक बार ठोस आधार पर लागू हो गया तो कंपनी के मामलों का समय-समय पर संसद द्वारा नियमन करना आवश्यक बन गया। 1773 के रेगुलेशन एक्ट वाले वर्ष में संसद ने कंपनी को व्यापार का एकाधिकार केवल 20 वर्ष के लिए दिया था। 1793 में यह अवधि समाप्त हुई और दोबारा यह अधिकार प्राप्त करना जरूरी था। 1793 से कंपनी का अधिकार-पत्र यानी चार्टर हर 20 वर्ष बाद नया किया जाता था। यह चार्टर एक्ट कंपनी के बाहरी और घरेलू मामलों से संबद्ध थे और इनके द्वारा आवश्यक समझी जाने वाली फेरबदल की गई। ब्रिटिश भारतीय प्रशासन के विकास में चार्टर एक्टों का इसीलिए बहुत महत्व है। इन एक्टों की संक्षिप्त रूपरेखा नीचे दी जाती है।

1773 का चार्टर एक्ट उन दिनों में पास किया गया जब पिट द यंगर प्रधानमंत्री, हेनरी डंडास नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष और कार्नवालिस गर्वनर-जनरल थे। इंग्लैंड में कंपनी के विरोधी तो चाहते थे कि उसका व्यापार का एकाधिकार समाप्त हो। लेकिन सरकार में कंपनी के समर्थक भी थे, जिनमें एक स्वयं हेनरी डंडास थे, जिन्होंने यह आभास दिलाया कि भारत में सब कुछ ठीक है और कंपनी का कार्य प्रशंसा योग्य है। संसद ने पिट और डंडास को प्रसन्न करके 1793 का चार्टर एक्ट पास किया। इससे कंपनी को और 20 साल के लिए व्यापार का एकाधिकार मिल गया। साथ ही इंग्लैंड में निजी व्यापारियों को पूर्व में व्यापार करने की अनुमति दे दी गई। लेकिन यह व्यापार केवल 3000 टन तक ही सीमित था।

इस एक्ट से सरकारी ढांचे में कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ लेकिन कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जो उल्लेखनीय हैं। इस एक्ट के पास होने के बाद नियंत्रण बोर्ड के सदस्यों और उसके अन्य कर्मचारियों का वेतन भारत से प्राप्त होने वाली आय से दिया जाना था। भारत में ब्रिटिश शासक की सेनाओं का खर्च भी कंपनी को देना था। ब्रिटिश शासक को इस बात का अधिकार मिल गया कि वह यदि आवश्यक हो और जब भी ऐसा महसूस किया जाए, तो भारत की रक्षा के लिए स्वयं भारत से होने वाली आय को इस्तेमाल में ला सकता है। गर्वनर-जनरल की तरह अन्य भारतीय

नोट

प्रेसीडेंसियों के गवर्नरों को भी यह अधिकार मिल गया कि वे कुछ परिस्थितियों में अपनी परिषद् के फैसलों को रद्द कर सकते हैं। एक्ट की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था थी कि विदेश नीति से संबद्ध मामलों में गवर्नर-जनरल के अधिकार प्रेसीडेंसी सरकारों से ज्यादा होंगे। उसे यह भी अधिकार दिया गया कि वह जब कभी किसी प्रेसीडेंसी में जाएगा, स्थानीय गवर्नर से उसका दर्जा ऊंचा होगा।

इस प्रकार दो नीतियां जन्म ले रही थीं। पहली यह कि भारत में होने वाली सारी आमदनी इंग्लैंड में अधिकारियों और प्रतिष्ठानों पर खर्च की जानी थी और दूसरी यह कि भारत में सत्ता को एक जगह केंद्रित करना एक अत्यंत आवश्यक कदम माना गया। एक्ट में राष्ट्र की ओर से यह घोषणा की गई कि अंग्रेजों का इरादा इलाके जीतना नहीं है, लेकिन वास्तव में आक्रामक साम्राज्यवाद का युग इसके जल्द बाद आने वाला था।

अगले 20 वर्षों के अंदर राजनीतिक उथल-पुथल और लड़ाइयों में से गुजरता हुआ इंग्लैंड आधुनिक इतिहास की सबसे बड़ी शाही सत्ता के रूप में उभरा। 19 वीं शताब्दी के पहले दशक में इंग्लैंड, नेपोलियन के फ्रांस के विरुद्ध जीवन व मरण का संघर्ष कर रहा था। दशक की समाप्ति तक नेपोलियन का साम्राज्य, महाद्वीपीय प्रणाली, प्रायद्वीपीय युद्ध और रूसी अभियान के बोझ से समाप्त होने लगा था। उधर भारत में वेलजली के युग की समाप्ति पर इस उपमहाद्वीप के बहुत बड़े भाग पर ब्रिटेन की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई थी। गौरव के इसी क्षण में वह समय आया, जबकि 1813 में कंपनी का चार्टर नया किया जाना था।

नेपोलियन के साथ लड़ाइयों के कारण उत्पन्न आर्थिक संकट, महाद्वीपीय प्रणाली और औद्योगिक क्रांति के प्रारंभिक प्रभावों के कारण स्थिति का यह तकाजा था कि ब्रिटिश राष्ट्र के अधिक हित के लिए नया आर्थिक दृष्टिकोण अपनाया जाए। कंपनी को पूर्वी गोलार्ध में व्यापार के लिए दिया गया एकाधिकार अन्य अंग्रेज व्यापारियों के रास्ते में एक बहुत बड़ी बाधा था क्योंकि ये अंग्रेज व्यापारी हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त से प्रोत्साहन पाकर और अधिक आर्थिक स्वतंत्रता चाहते थे और एकाधिकार व्यापार समाप्त करवाना चाहते थे। यह अभियान कंपनी की व्यावसायिक स्थिति के लिए गंभीर खतरा सिद्ध हुआ। कंपनी के अंदरूनी वित्तीय संकट से उसकी कमजोरी के स्रोत का पता चला। भारत में लड़ाइयों पर कंपनी को बहुत खर्च करना पड़ा और वह कई लाख पौंड के ऋण के नीचे दब गई। इसलिए उसे सहायता के लिए संसद से अनुरोध करने के अलावा और कोई चारा नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में संसद ने चार्टर की अवधि फिर से बढ़ाने के बारे में विचार किया और अंत में 1813 का चार्टर एक्ट पास कर दिया।

कई तरह से 1813 का एक्ट कंपनी के पतन की शुरुआत माना जा सकता है, हालांकि इसके बाद भी कंपनी ने कई वर्षों तक कार्य किया और बहुत सारे इलाके जीते। भारत के साथ कंपनी का एकाधिकार व्यापार और वाणिज्य समाप्त हो गया। भारत में व्यापार का अधिकार अन्य अंग्रेज व्यापारियों को भी दिया गया। लेकिन कंपनी को और 20 वर्षों के लिए चीन के साथ व्यापार का एकाधिकार मिला। 1813 के एक्ट ने राजनीतिक और प्रशासनिक मामलों में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया। पहले की तरह कंपनी को भारतीय क्षेत्रों पर सत्ता मिली रही और ब्रिटिश शासक की प्रभुसत्ता के अधीन 20 वर्षों की और अवधि के लिए उसे भारत से राजस्व प्राप्त करने का अधिकार भी मिला रहा। नियंत्रण बोर्ड की सत्ता में और वृद्धि की गई। इस एक्ट से नियंत्रण बोर्ड को कंपनी के कर्मचारियों को नागरिक सेवाओं और सैनिक सेवाओं का प्रशिक्षण देने का अधिकार मिला। जनहित के मामलों में 1813 का एक्ट एक शैक्षणिक नीति की शुरुआत के लिए स्मरणीय है। इस एक्ट में कंपनी को निर्देश दिया गया कि यह एक लाख रुपया वार्षिक, साहित्य के पुनरुत्थान तथा सुधार करने, पढ़े-लिखे भारतवासियों को प्रोत्साहन देने, और भारत में ब्रिटिश क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के बीच ज्ञान-विज्ञान में रुचि पैदा करने के लिए अलग से रखे। एक्ट में एक और नई बात थी। जो क्रिश्चियन मिशनरी धार्मिक या अन्य कानून-सम्मत उद्देश्यों से भारत में आना चाहते थे उन्हें कोर्ट आफ डायरेक्टर्स या निदेशक मंडल द्वारा लाइसेंस दिए जा सकते थे और यदि उन्हें कोर्ट आफ डायरेक्टर्स से लाइसेंस दिए जाने पर कोई आपत्ति हो तो यह लाइसेंस नियंत्रण बोर्ड दे सकता था। इस प्रकार 1813 के चार्टर एक्ट ने ब्रिटिश शासक की प्रभुसत्ता पर ज्यादा जोर दिया और इससे नियंत्रण बोर्ड के अधिकार बढ़ गए तथा कंपनी के व्यावसायिक विशेषाधिकार कम हो गए। इसके अलावा इस एक्ट से भारत में व्यापार करने के लिए अन्य अंग्रेज व्यापारियों का रास्ता खुल गया, जिसका फायदा आर्थिक दृष्टि से ब्रिटेन को भी हुआ। साथ ही इस एक्ट ने धार्मिक गतिविधियों के लिए मिशनरियों को भारत आने की अनुमति भी दे दी।

नोट

1813 से 1833 के बीच कंपनी ने अपने क्षेत्रों का और विस्तार किया। यह अवधि समाप्त होते-होते, क्षेत्र-विजय के लिए जबर्दस्त लड़ाइयाँ खत्म हो गईं और भारतीय राजनीतिक जीवन में शांति का युग शुरू हुआ। इसी समय में इंग्लैंड में भी सुधार आंदोलन का समारंभ हुआ। स्वाभाविक ही है कि भारत ब्रिटिश संबंधों के इतिहास में इस बात की झलक है कि ब्रिटेन के इतिहास के विभिन्न दौरों में जो घटनाएँ घटीं, लगभग वैसी ही घटनाएँ भारत के इतिहास के विभिन्न दौरों में भी हुईं। जहाँ इंग्लैंड में राजनीतिक उदारता और संसदीय सुधार का आंदोलन शुरू हुआ तो उसका नतीजा 1832 में पहले रिफॉर्म-एक्ट या सुधार कानून के पास होने के रूप में सामने आया। इधर भारत में यह नई भावना गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक में पाई गई जो जुलाई 1828 में भारत पहुंचे थे। बैंटिक ने इस सिद्धांत के आधार पर काम शुरू किया कि शासित वर्ग का कल्याण, शासक का कर्तव्य है। इसी के अनुसार बैंटिक ने आर्थिक, प्रशासनिक, सामाजिक और शैक्षणिक सुधारों का एक व्यापक कार्यक्रम शुरू किया। जब 1833 में कंपनी के चार्टर को फिर से नया करने का समय आया तब तक बैंटिक भारत पर 5 साल तक शासन कर चुका था।

तब तक इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी के संबंध में अलग-अलग मत थे। एक विचारधारा के अनुसार कंपनी अपनी उपयोगिता खो चुकी थी। यह भी कहा जाता था कि यह बड़ी असंगत बात है कि व्यापारियों की एक कंपनी आज तक के सबसे बड़े साम्राज्यों में से एक पर प्रभुसत्ता-संपन्न स्वामियों की तरह राज करे। दूसरी विचारधारा का यह दृढ़ मत था कि कंपनी की सरकार अब भी भारत और इंग्लैंड दोनों के हित में बहुत उपयोगी कार्य कर सकती है। बैंटिक ने जो सुधार किए वे इस बात का स्पष्ट प्रमाण थे कि भारतीय जनता के लिए कंपनी अधिक उपयोगी है। ब्रिटिश हितों को देखते हुए कंपनी को शासन चलाने का अधिकार दिया जाना चाहिए, इस मत का समर्थन करने वालों की ओर से एक महत्वपूर्ण सवाल उठाया गया कि यदि कंपनी शासन नहीं चलाती तो फिर भारत पर शासन किसे चलाना चाहिए? क्या संसद भारतीय प्रशासन अपने हाथ में लेने की स्थिति में है? लार्ड मैकाले ने कंपनी की ओर से जबर्दस्त वकालत की। उन्होंने अपनी यह प्रसिद्ध दलील पेश की, 'हाउस आफ कामंस के पास न तो आवश्यक समय है और न ही आवश्यक ज्ञान और न ही उसके पास वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई उद्देश्य है जिससे कि भारत के मामले निपटाए जा सकें।' मैकाले की इससे भी बड़ी दलील यह थी कि जहाँ ब्रिटिश संसद राजनीतिक मामलों को लेकर आपस में लड़ने-झगड़ने वाले राजनीतिक दलों में विभाजित है वहाँ दूसरी ओर कंपनी न तो विग है और न टोरी। वह दलगत संबंधों से अपने आप को दृढ़तापूर्वक अलग रखे हुए हैं।

इस तरह के अलग-अलग मतों के बीच संसद ने 1833 का चार्टर एक्ट पास किया। कंपनी का पक्ष लेकर उसका दृढ़ समर्थन करने वालों को तो सफलता मिली, हालांकि कंपनी का विरोध करने वालों को भी यथासंभव संतुष्ट किया जाना था। इस प्रकार यह चार्टर 20 साल की और अवधि के लिए नया बना दिया गया। कंपनी को ब्रिटिश शासक और उत्तराधिकारियों की ओर से भारत पर शासन चलाने का अधिकार मिला रहा। लेकिन एक व्यापारिक संस्थान के रूप में कंपनी के कार्यों का अंत कर दिया गया, यानी कंपनी भारत की शासक तो बनी रही लेकिन वह भारत में व्यापार नहीं कर सकती थी। इसके अलावा कंपनी ने चीन के साथ व्यापार करने का अपना एकाधिकार भी खो दिया और अब सभी व्यापारी चीन में व्यवसाय चला सकते थे।

भारतीय प्रशासन को और केंद्रस्थ करने के उद्देश्य से भारत के संविधान में कुछ विशेष परिवर्तन किए गए। अब तक गवर्नर-जनरल को गवर्नर-जनरल आफ बंगाल कहा जाता था, हालांकि उसकी सत्ता अन्य प्रेसीडेंसियों पर भी थी। 1833 के एक्ट में उसको नया पदनाम दिया गया। अब वह भारत का गवर्नर-जनरल था और गवर्नर-जनरल आफ इंडिया कहलाने लगा। इस प्रकार दृढ़ कानूनी अर्थों में लार्ड विलियम बैंटिक को भारत का पहला गवर्नर-जनरल माना जा सकता है। 1833 एक्ट में प्रशासनिक, वैधानिक और वित्तीय मामलों में गवर्नर जनरल को और ज्यादा अधिकार दिए गए। प्रशासन में उसकी सत्ता बंगाल, बंबई और मद्रास की प्रेसीडेंसियों पर सभी मामलों में सर्वोच्च बन गई। वैधानिक क्षेत्र में पहले कानून की पांच श्रेणियाँ थीं, जैसे कि ब्रिटिश संसद के कानून, विभिन्न चार्टर एक्ट, गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् द्वारा पास किए गए नियम, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए आदेश और प्रेसीडेंसी सरकारों के आदेश। 1833 के एक्ट ने इस तरह के विभिन्न कानूनों को खत्म कर दिया और गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद् को सारे देश के सभी स्थानों और सभी उद्देश्यों तथा व्यक्तियों के लिए हर विषय पर कानून बनाने का अधिकार दे दिया। लेकिन गवर्नर-जनरल को ब्रिटिश शासक के अधिकारों में हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं

नोट

थी और न ही वह संसद के अधिकारों का अतिक्रमण कर सकता था। लेकिन बाकी सभी तरह से वह देश का सर्वोच्च कानून बनाने वाला व्यक्ति था। कानून बनाने के उसके कार्यों के समर्थन के लिए 1833 के एक्ट में गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् में एक नया सदस्य शामिल किया गया, जिसे कानून सदस्य कहा जाता था। मैकाले पहले कानून सदस्य के रूप में भारत आए। भारत में ब्रिटिश सरकार के भावी वैधानिक विभाग की शुरुआत इसी कानून सदस्य को गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में शामिल किए जाने से समझी जा सकती है। केंद्र सरकार ने प्रेसीडेंसी सरकारों से करों और चर्च से संबद्ध पहले के सभी अधिकार अपने हाथ में ले लिए। सारे ब्रिटिश भारत के राजस्व का नियंत्रण और प्रबंध केंद्र सरकार अपने मुख्यालय से करती थी। छोटे से छोटा या बड़े-से-बड़ा खर्च करने के लिए भारत सरकार की अनुमति की आवश्यकता थी। इस प्रकार इस एक्ट ने ईस्ट इंडिया कंपनी को पूरी तरह एक राजनीतिक संगठन में बदल दिया और भारतीय प्रशासन का पुनर्गठन करके उसे एक दृढ़ केंद्रीय प्रणाली बना दिया, जिसकी धुरी गवर्नर-जनरल था। उस समय की उदारता की भावना के अनुकूल इस एक्ट में यह प्रसिद्ध धारा थी : “यह नियम बनाया जाता है कि उपरोक्त क्षेत्रों का कोई भी निवासी केवल अपने धर्म, जन्म, स्थान, वंश, रंग या इनमें से किसी एक के आधार पर किसी पद पर नियुक्त होने या कंपनी में नौकरी पाने से वंचित नहीं किया जाएगा।” अब आम तौर पर भारतीयों के लिए साधारण प्रशासनिक स्थान जैसे, डिप्टी कलेक्टर या डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद प्राप्त करने के मार्ग खुल गए।

बैंटिक युग के बाद के 20 वर्ष का समय भारत में कंपनी के कार्यकाल का अंतिम दौर था। सभी बड़े क्षेत्रों पर कब्जा किया जा चुका था। जिनमें सिंध और पंजाब भी शामिल थे। सत्ता केंद्रीयकरण की प्रणाली भी बड़ी कारगर सिद्ध हुई। 1853 में जब चार्टर को नया करने का सवाल फिर उठा तो भारत पर लार्ड डलहौजी शासन चला रहा था, जिसमें इलाकों पर विजय पाने और प्रशासन चलाने में वेल्जली और बैंटिक के गुणों का समावेश था। लेकिन उसके उद्देश्य और सफलताएँ कंपनी की सक्रियता और सशक्तता से ज्यादा उसके अपने असाधारण व्यक्तित्व का परिणाम थीं। उधर दूसरी ओर एक संगठन के रूप में कंपनी पुरानी पड़ चुकी थी। पहले के जमाने की तरह उस समय भी प्रोप्राइटर तो मौजूद थे। इन प्रोप्राइटरों की संख्या कोई 1800 थी, जिनमें से हर एक के पास कम-से-कम 1000 पौंड का हिस्सा था और उसे वोट देने और कोर्ट आफ डायरेक्टर्स चुनने का अधिकार था। वास्तव में यह प्रोप्राइटर अपना-अपना लाभांश प्राप्त करने में रुचि रखते थे। सत्ता डायरेक्टरों के हाथ में थी। लेकिन पिट इंडिया एक्ट के दिनों से ही सारा नियंत्रण, बोर्ड आफ कंट्रोल यानी नियंत्रण-बोर्ड के हाथों में था और धीरे-धीरे डायरेक्टरों ने कंपनी के मामलों में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के नियंत्रण में जैसे-जैसे कमी होती गई बोर्ड की सत्ता उसी अनुपात में बढ़ती गई। बोर्ड का अध्यक्ष ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य होता था, जिसे भारत सरकार के साथ गुप्त संपर्क स्थापित करने का अधिकार था। डलहौजी की जीवन कथा लिखने वाले विलियम ली वार्नर का कहना है “इस प्रकार बोर्ड ने कोर्ट आफ डायरेक्टर्स को बांध रखा था यानी सबसे अधिक सत्ता बोर्ड के प्रेसीडेंट के पास थी जबकि यह प्रेसीडेंट सरकार या ब्रिटिश शासक का प्रतिनिधि था।” यह स्पष्ट था कि कंपनी बड़ी तेजी से अपने स्वाभाविक अंत की ओर बढ़ रही थी, खासकर जहाँ तक उसकी राजनीतिक सत्ता का सवाल था।

फिर भी कंपनी यथासंभव बनी रहना चाहती थी। कंपनी के विरोधियों का कहना था कि कोर्ट आफ डायरेक्टर्स खत्म की जानी चाहिए क्योंकि वह कोई उपयोगी कार्य नहीं कर रही है। इसके अलावा देश में दोहरी सरकार की प्रणाली का क्या फायदा था जबकि इस प्रणाली में कोर्ट आफ डायरेक्टर्स और नियंत्रण बोर्ड दोनों ही सत्ता आपस में बांटे हुए थे या दोनों के कार्य समान थे। इस तरह की आलोचना के बावजूद संसद ने 1853 का चार्टर एक्ट पास कर दिया। यह उल्लेखनीय है कि कंपनी को और 20 वर्षों के लिए सत्ता नहीं दी गई बल्कि व्यवस्था यह थी कि यह सत्ता तब तक कंपनी के पास रहेगी जब तक कि संसद इसके विपरीत कोई और निर्णय नहीं लेती। यह कंपनी के भविष्य के लिए एक अशुभ संकेत था। नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष का वेतन ब्रिटिश संसद में किसी भी प्रमुख विदेश सचिव के बराबर करके बोर्ड का दर्जा और बढ़ा दिया गया। दूसरी ओर कोर्ट आफ डायरेक्टर्स की सदस्य संख्या 24 से घटा कर 18 करके उसका दर्जा और कम कर दिया गया। इन 18 सदस्यों को ब्रिटिश शासक को नामजद करना था। अभी तक कोर्ट आफ डायरेक्टर्स का सबसे उपयोगी विशेषाधिकार यही था कि वह कंपनी के कर्मचारियों

नोट

की नियुक्ति का अधिकार रखती थी। एक्ट ने यह अधिकार छीन लिया और खुली प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से भारतीय सेवाओं में नियुक्तियों की व्यवस्था की।

जहाँ तक भारत सरकार का संबंध है, 1853 के एक्ट ने विधायिका क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। गवर्नर-जनरल की परिषद् के भूतपूर्व कानूनी सदस्य को कार्यकारिणी की बैठकों में हिस्सा लेने और वोट देने का अधिकार दिया गया। यह अधिकार उसे पहले नहीं था। कानून बनाने के उद्देश्य से गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में छः नए सदस्य शामिल करके इसका विस्तार किया गया। इन नए या अतिरिक्त सदस्यों को विधायक सदस्य या लेजिस्लेटिव मेंबर कहा गया। इस प्रकार यह मान लिया गया कि सरकार के कानून बनाने का कार्य, कानून को कार्यरूप देने के काम से अलग है। लेजिस्लेटिव कौंसिल यानी विधान परिषद् में गवर्नर-जनरल, सेनाध्यक्ष (कमांडर-इन-चीफ), परिषद् के चार सदस्य और छः नए विधायक सदस्य शामिल थे। छः विधायक सदस्यों में, कलकत्ता सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और एक छोटा न्यायाधीश तथा चार प्रांतीय सरकारों—मद्रास, बंबई, बंगाल और उत्तर-पश्चिम प्रांत के चार प्रतिनिधि-अधिकारी थे। विधान परिषद् के इस तरह के गठन में, विधायिका संबंधी मामलों में स्थानीय प्रतिनिधि शामिल करने की बुनियादी व्यवस्था की झलक मिलती है।

ईस्ट इंडिया कंपनी को दिए जाने वाले चार्टरों में 1853 का चार्टर एक्ट अंतिम था। 1857 में ब्रिटिश शासक के विरुद्ध महान भारतीय क्रांति हुई। इससे भारत में ब्रिटिश प्रशासन की शक्ति और कमजोरी का अंदाजा लगाने की आवश्यकता महसूस की गई। जब तक यह क्रांति दबा नहीं दी गई तब तक इंग्लैंड में संसद और जनता चिंताग्रस्त रही। क्रांति की समाप्ति पर कंपनी का शासन खत्म करके उसकी सत्ता ब्रिटिश शासक को सौंप दी गई। इस प्रकार 1857, ब्रिटिश-भारतीय इतिहास में एक विभाजन-रेखा की तरह उल्लेखनीय है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. प्रधानमंत्री बनने के बाद पिट द यंगर ने जनवरी 1784 में अपना प्रसिद्ध इंडिया बिल पास किया।
10. हेस्टिंग्स के स्थान पर क्लाइव की नियुक्ति हुई।
11. भारत में कार्नवालिस का सबसे प्रसिद्ध कार्य था स्थायी समाधान अर्थात् परमानेंट सेटलमेंट।
12. 1857 में अंग्रेजों के खिलाफ एक महान क्रांति हुई जिसे सिपाही विद्रोह कहा जाता है।

11.7 सत्ता हस्तांतरण और ब्रिटिश शासन

(Transfer of Power and British Administration)

सन 1857 की क्रांति के दिनों में उन इलाकों में स्थानीय शासन बाकायदा चलता रहा, जहाँ क्रांति का असर नहीं पड़ा था। लेकिन क्रांति के असर वाले इलाकों में क्रांति की समाप्ति होते ही प्रशासन फिर से स्थापित कर लिया गया। इस प्रकार पिछली प्रशासनिक व्यवस्था आमूल नष्ट नहीं हो पाई। सत्ता हस्तांतरण से सरकार के उच्च स्तरों पर, नीति संबंधी मामलों और व्यवहारिक प्रशासन को लेकर काफी फेरबदल हुई।

1857 की क्रांति के बाद ब्रिटिश शासक द्वारा सरकार अपने हाथ में लेना गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट 1858 के अंतर्गत हुआ और उसी साल महारानी ने भी अपना अध्यादेश जारी किया। क्रांति के समय इंग्लैंड का प्रधानमंत्री लार्ड पामर्सटन था, जिसने सत्ता हस्तांतरण के लिए फरवरी 1858 में पहली बार बिल पेश किया था। बिल पेश करते हुए उन्होंने पहले तो कंपनी की सराहना की और कहा, “मुझे विश्वास है कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में कई अच्छे काम किए हैं। मेरा यह भी विश्वास है कि कंपनी के प्रशासन से शासित जनता को बहुत लाभ पहुंचा है।” लेकिन इसके बाद ही उन्होंने कंपनी को सत्ता में बनाए रखने के खिलाफ दलीलें पेश करनी शुरू कीं। उन्होंने दोहरी सरकार की प्रणाली की आलोचना की और इसे समाप्त करते हुए कहा : “मैं अपने आपको यह सोचने के लिए मजबूर नहीं

नोट

कर पा रहा कि संसद भारत में संबद्ध मामलों का प्रशासन उतनी समझदारी से चलाने की क्षमता नहीं रखती जितनी कि लैडनहाल स्ट्रीट में कोर्ट आफ डायरेक्टर्स में है। मुझे संसद पर इस बात का भरोसा करने में कोई डर नहीं है कि वह भारतीयों के मामलों को भली-भाँति समझती है। इसलिए भारतीय मामलों को संसद के अधीन लाने से हिचकिचाने की बजाय मैं समझता हूँ कि इससे भारत को बहुत फायदा होगा और भारत के जरिए ब्रिटिश शासन को भी फायदा होगा।” यह बिल पास होकर कानून बनाने से पहले ही पार्लियामेंट मंत्रिमण्डल का पतन हो गया। इसके बाद लार्ड डर्बी की सरकार ने यह मामला उठाया और नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष लार्ड स्टैनली ने बिल पेश किया जो पास होने के बाद 1858 एक्ट बना।

एक्ट के अनुसार—‘भारत सरकार पर महारानी द्वारा और उसकी ओर से, शासन चलाया जाएगा।’ महारानी के प्रमुख विदेश सचिव को भारत में सरकार चलाने या राजस्व आदि के मामलों से संबद्ध वे सभी अधिकार और कार्य करने थे जो पहले कोर्ट आफ डायरेक्टर्स और नियंत्रण बोर्ड करते थे। इसके लिए एक पांचवाँ मुख्य विदेश सचिव नियुक्त किया जाना था। इस मुख्य विदेश सचिव और स्टाफ के कर्मचारियों को भारत से होने वाली आमदनी में से वेतन दिया जाना था। 15 सदस्यों की एक परिषद्, जिसका नाम भारतीय परिषद् या कौंसिल आफ इंडिया होगा, विदेश सचिव की मदद करेगी। यह विदेश सचिव इस परिषद् का अध्यक्ष होगा। परिषद् विदेश सचिव के निर्देशन में भारत से संबद्ध सभी काम-काज चलाएगी। विदेश सचिव परिषद् के निर्णयों को रद्द कर सकता है। परिषद् के सदस्यों का वेतन भी भारत में से होने वाली आमदनी में से दिया जाएगा।’

भारत सरकार के बारे में 1858 के एक्ट ने भारत के गवर्नर-जनरल को ब्रिटिश शासक का सीधा प्रतिनिधि माना। इस एक्ट में गवर्नर-जनरल को भारत में नागरिक और सैनिक प्रशासन की निगरानी, संचालन और उस पर नियंत्रण करने का अधिकार दिया गया। गवर्नर-जनरल और प्रेसीडेंसियों के गवर्नरों की नियुक्ति ब्रिटिश शासक ही करेगा। गवर्नर-जनरल ब्रिटिश शासक की अनुमति से लेफ्टिनेंट गवर्नर या उपराज्यपाल नियुक्त करेगा। विदेश सचिव और उसकी परिषद् भारत में विभिन्न परिषदों के सदस्य नियुक्त करेगी।

विदेश सचिव ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य होगा। मंत्रिमंडल, संसद के प्रति उत्तरदायी होगा और संसद ब्रिटिश जनता के प्रति उत्तरदायी। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो गया कि विदेश सचिव अपने पद को देखते हुए सर्वोच्च सत्ता पर था। ब्रिटिश संसद में भारत का वार्षिक लेखा विदेश सचिव ही पेश करेगा और साथ ही देश की प्रगति संबंधी रिपोर्ट देगा। विदेश सचिव की पूर्ण सत्ता की स्थिति के मुकाबले, ब्रिटेन से दूर भारतीय साम्राज्य पर गवर्नर-जनरल के शासन के अधिकार को देखते हुए, संसद में रहने वाले विदेश सचिव और भारत में रहने वाले गवर्नर-जनरल के वास्तविक कार्य क्षेत्रों और अधिकार क्षेत्रों को लेकर समस्या खड़ी हुई। यह सिद्धांत कि ‘भारत सरकार पूरे तौर पर भारत में ही चलाई जानी चाहिए’ बड़ा ठोस था। फिर भी विदेश सचिव की सत्ता लगभग अपराजेय थी। स्वाभाविक है कि अपने-अपने पदों पर दृढ़ व्यक्तियों वाले दो व्यक्तियों के बीच मतभेद और संघर्ष निश्चित रूप से उठ खड़े होते।

1858 के एक्ट के बाद जल्दी ही महारानी का अध्यादेश निकला। इलाहाबाद में एक बहुत बड़ा दरबार किया गया, जिसमें लार्ड कैनिंग ने एक नवंबर 1858 को यह अध्यादेश पढ़कर सुनाया। इस अध्यादेश में कैनिंग को भारतीय प्रदेशों में और उन पर, महारानी का पहला वायसराय और गवर्नर-जनरल मनोनीत किया गया। इसमें ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में काम करने वाले सभी व्यक्तियों की पुष्टि कर दी गई। अध्यादेश में भारतीय रियासतों के राजाओं के लिए एलान किया गया कि “सम्माननीय ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा या उसके अधीन की गई सभी संधियाँ और समझौते हमें मान्य हैं और इनका पूरी निष्ठा के साथ पालन किया जाएगा। हम भारतीय रजवाड़ों के अधिकारों, प्रतिष्ठा और सम्मान का उसी तरह आदर करेंगे जिस तरह कि हम अपना आदर करते हैं।” अध्यादेश में भारतीय जनता के लिए कहा गया, “और हमारी यह इच्छा है कि जहाँ तक हो सके हमारी प्रजा, चाहे किसी भी जाति या धर्म की हो, हमारी सेवाओं में पदों पर बिना पक्षपात के मुक्त रूप से नियुक्त की जाए। उन सभी लोगों को इस तरह के पदों में लिया जाए जो अपनी शिक्षा, योग्यता, ईमानदारी के आधार पर इनके योग्य हों और अच्छी तरह से अपना कर्तव्य पूरा कर सकते हों।”

ब्रिटिश शासक द्वारा सत्ता अपने हाथ में ले लेने से भारत में प्रशासनिक विकास की प्रक्रिया का अंत नहीं हुआ, बल्कि इससे बदलते हुए समय के संदर्भ में और घटनाएँ अनिवार्य हो गईं।

11.8 कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका क्षेत्रों में विकास (Development in the area of Executive, Legislative and Judiciary)

ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन सरकार का जो ढाँचा बना था उसमें 1858 के गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट द्वारा संशोधन किया गया। एक्ट से भी स्थिति को अंतिम रूप नहीं मिला और संशोधन जरूरी हो गए। इस तरह के परिवर्तनों से कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका के क्षेत्रों ने और ज्यादा आधुनिक रूप लेना शुरू किया।

कार्यपालिका—पहला वायसराय लार्ड कैनिंग हालांकि बहुत शक्तिशाली था फिर भी वह और अधिकार चाहता था। वह अपनी कार्यपरिषद् के साथ सामूहिक कार्य की प्रणाली में स्वयं को स्वाधीन महसूस नहीं कर रहा था। इसलिए वह अपने पार्षदों को केवल एक सचिव के दर्जे पर रखना चाहता था और कार्यपालिका के सभी अधिकार अपने हाथ में केंद्रित करना चाहता था, लेकिन उसकी इच्छाएं पूरी नहीं हो सकीं। इसके बदले कैनिंग ने अलग-अलग विभाग सौंपने की प्रणाली चलाई, जिससे सारी कार्यपरिषद् मोटे तौर पर नीति संबंधी मामलों पर विचार करती थी और बड़ी-बड़ी समस्याएँ जो जनहित की थीं उन पर संपूर्ण दृष्टिकोण से विचार करती थी। परिषद् के अलग-अलग सदस्यों को छोटे विभागीय मामले सौंपे गए। इस प्रकार प्रत्येक को एक-एक विभाग दिया गया। कैनिंग की इस नई प्रणाली को, 1861 का इंडियन कौंसिल एक्ट पास करके, विधिवत मान्यता दे दी गई। यह एक्ट ब्रिटिश संसद ने 'भारत के गवर्नर-जनरल' की परिषद् के गठन को और बेहतर बनाने और भारत के प्रांतों की विभिन्न प्रेसीडेंसियों की स्थानीय सरकारों की व्यवस्था अच्छी करने के उद्देश्य से पास किया था।

1861 के एक्ट के अंतर्गत गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् में 5 सदस्य थे जिनमें से दो नागरिक सेवाओं के कर्मचारी, एक सैनिक कर्मचारी, जिसे सैनिक सदस्य कहा जाता था, एक वित्तीय मामलों का विशेषज्ञ और एक कानूनी विशेषज्ञ था। सेनाध्यक्ष यानी कमांडर-इन-चीफ एक विशिष्ट सदस्य की हैसियत से कार्यकारी परिषद् की बैठकों में भाग लेता था। 5 साधारण सदस्य विभिन्न विभागों की देख-रेख करते थे। गवर्नर-जनरल अपनी परिषद् के निर्णयों को रद्द करने का अधिकार रखता था।

1874 के इंडियन कौंसिल एक्ट में एक छोटे सदस्य की स्थापना की गई, जिसके हाथ में सार्वजनिक निर्माण विभाग रखा जाना था। लेकिन इस तरह के विभाग की आवश्यकता पर संदेह प्रकट किया गया और बाद में वह भंग कर दिया गया। इसके बदले वाणिज्य और उद्योग विभाग की स्थापना की गई। कुछ समय बाद सैनिक सदस्य की जगह एक सैनिक पूर्ति सदस्य रखा गया और 1909 में यह पद भी खत्म कर दिया गया। 1909 में शिक्षा और स्वास्थ्य विभाग एक अलग सदस्य के अधीन रखे गए। 1909 में ही प्रसिद्ध मार्ले-मिटो सुधार (मार्ले-मिटो रिफार्म) के अंतर्गत पहली बार कोई भारतीय, वायसराय की कार्यकारी परिषद् में कानून सदस्य की हैसियत से आया। इस भारतीय का नाम था ए.पी. सिन्हा। भारतीय सदस्य के शामिल होने से सदस्यों की संख्या नहीं बढ़ी। इस प्रकार 1914 में गृह सदस्य, वित्त सदस्य, कानून सदस्य, वाणिज्य तथा उद्योग सदस्य और शिक्षा सदस्य को मिलाकर कार्यपरिषद् बनी। इसमें पांच साधारण सदस्य थे और कमांडर-इन-चीफ विशिष्ट सदस्य के तौर पर बना रहा। विदेश विभाग स्वयं गवर्नर-जनरल के हाथ में रहा और उसके पास भारत के पड़ोसियों तथा भारत की रियासतों के साथ संबंधों जैसे विषय भी थे। अंत में विभागों की संख्या बढ़कर 9 हो गई। ये विभाग थे, विदेश, गृह, विधान, वित्त, राजस्व और कृषि, सार्वजनिक निर्माण, वाणिज्य और उद्योग, शिक्षा और सेना। लेकिन केंद्रीय कार्यकारिणी का आधार पहले जैसा ही बना रहा, यानी गवर्नर-जनरल और परिषद् के छः सदस्य। सभी विभाग इन्हीं में बंटे हुए थे।

कार्यकारी परिषद् की सत्ता जो भी हो लेकिन गवर्नर-जनरल की सत्ता सबसे ऊपर थी और इसे कोई चुनौती नहीं दी जा सकती थी। कानून और परंपरा दोनों के आधार पर इस बात को स्वीकार किया गया। इसके अलावा एक राजतंत्रीय सरकार की नौकरशाही व्यवस्था ने गवर्नर-जनरल की सत्ता को उसकी परिषद् की सत्ता की कीमत पर बढ़ाने में मदद की। विभिन्न विभागों के सचिव सभी महत्वपूर्ण मामलों पर गवर्नर-जनरल को सलाह देते थे और उसके निर्देशों और आदेशों के अनुसार प्रशासन कार्य करते थे। ब्रिटिश राज के अंतिम दिनों तक भारत पर राज्य चलाने का गवर्नर-जनरल का कार्यकारी अधिकारी एक वास्तविकता बना रहा।

नोट

केंद्रीय विधानमंडल के उदय की ओर संसद का और आगे चलकर आम लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। पहले-पहल जब संसद ने भारत के मामलों का अध्ययन शुरू किया तो उसने भारत के लिए एक समुचित कार्यपालिका की व्यवस्था की बात सोची, लेकिन विधानपालिका की व्यवस्था को जरूरी नहीं समझा। इसलिए 1773 में गवर्नर-जनरल और उसकी-परिषद् को, प्रशासन के लिए नियम बनाने का अधिकार दिया गया। लार्ड कार्नवालिस ने 1793 में इन नियमों को इकट्ठा करके संहिताबद्ध किया। बाद में ऐसे ही नियम मद्रास, बंबई और उत्तर-पश्चिम प्रांतों पर भी लागू किए गए। ये सभी प्रदेश आगे चलकर नियम प्रांत यानी रेगुलेशन प्रोविंसिस कहलाए। जब नए क्षेत्र जीते गए तो पुराने नियम इनमें से अधिकांश क्षेत्रों पर लागू नहीं किए जा सकते थे। नए इलाकों का प्रशासन सरकारी अधिकारी चलाते थे, जो गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् या लैफ्टिनेंट गवर्नरों या कमिश्नरों, द्वारा गवर्नर-जनरल के अनुमोदन से तैयार किए गए नियम लागू करते थे। ये इलाके गैर-नियम प्रांत अथवा नन-रेगुलेशन प्रोविंसिस के नाम से जाने गए। इस तरह कानून बनाना कार्यपालिका का एकाधिकार था। आधुनिक दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम 1833 में उठाया गया। इस साल के प्रसिद्ध चार्टर एक्ट से गवर्नर-जनरल की परिषद् में एक नया सदस्य शामिल किया गया जिसे कानूनी सदस्य कहते थे और सभी कानून पास करने के लिए उसकी उपस्थिति आवश्यक थी। साथ ही विधानपालिका के सभी अधिकार गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् में केंद्रित थे।

विधान पालिका—अगले 20 वर्षों में विधानपालिका के प्रयोगों से, प्रणाली में एक बहुत बड़ी त्रुटि नजर आई। वह कमी यह थी कि कलकत्ता में बैठकर कानून बनाने वाले अधिकारियों को दूर-दूर की अन्य प्रेसीडेंसियों की समस्याओं का पता नहीं था। इसके अलावा जनरल गवर्नर की कार्यकारी परिषद् केवल एक विधायक-सदस्य की मदद से इतने बड़े साम्राज्य की बढ़ती हुई जिम्मेदारियाँ पूरी करने में समर्थ साबित नहीं हुई। इसलिए 1853 में स्थिति को सुधारने की दिशा में अगला बड़ा कदम उठाया गया। गवर्नर-जनरल की परिषद् में चार और सदस्य शामिल किए गए जिनमें से एक-एक सदस्य भारत के अलग-अलग प्रांतों का था। साथ ही बंगाल के सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश और एक जज, कानून और नियम बनाने के लिए भी परिषद् में शामिल किया गया। इसका उद्देश्य विधायिका को एक अच्छा-खासा आकार देना और कार्यकारी परिषद् को स्थानीय समस्याओं की विशेष जानकारी उपलब्ध करना था। कुछ ही वर्षों में, कंपनी की सत्ता ब्रिटिश शासक के हाथों में आने के लगभग तुरंत बाद, कानून बनाने की प्रणाली में आमूल परिवर्तन आवश्यक हो गए। विशेष ध्यान तीन मुख्य बातों पर था। विधान परिषद् के विस्तार की जरूरत थी, जिसका कार्यक्षेत्र कानून बनाने तक ही सीमित हो। कानून बनाने के अधिकारों का विकेंद्रीकरण भी आवश्यक था, जिससे कि प्रेसीडेंसी सरकारें कानून बनाने का अधिकार रख सकें। साथ ही 1857 की क्रांति से कई लोगों को यह विश्वास हो गया कि भारतीयों को कानून बनाने की प्रणाली में शामिल करके उच्च स्तर के भारतीयों के विचारों को और अच्छी तरह समझा जा सकेगा। इन आवश्यकताओं को देखते हुए 1861 का इंडियन कौंसिल एक्ट पास किया गया जिससे विधायिका के क्षेत्र में कुछ प्रमुख परिवर्तन आए गए।

इस एक्ट के अधीन, कानून बनाने के उद्देश्य से गवर्नर-जनरल की परिषद् में कम-से-कम छः और ज्यादा-से-ज्यादा 12 सदस्य और शामिल किए जाने थे। इन्हें गवर्नर-जनरल को मनोनीत करना था और उनका कार्यकाल नौ वर्ष के लिए था। इनमें से आधे सदस्य गैर-सरकारी थे। विधान-परिषद् के अधिकारों और कार्यों को निश्चित रूप से निर्धारित किया गया और इस परिषद् द्वारा पास किया गया कोई भी कानून एक्ट बनने के पहले गवर्नर-जनरल को स्वीकृत करना था। लेकिन ब्रिटिश शासक, विदेश सचिव के माध्यम से किसी भी एक्ट को नामंजूर कर सकता था। हालांकि गवर्नर-जनरल के विधायिका संबंधी-अधिकारों में महारानी के अधीन क्षेत्र भी आ जाते थे, फिर भी विधायिका के अधिकारों का विकेंद्रीकरण किया गया। मद्रास और बंबई की सरकारों को विधायिका संबंधी अधिकार दिए गए (इन अधिकारों को 1833 के चार्टर एक्ट के अधीन छीन लिया गया था)। गवर्नरों की परिषदों में एडवोकेट जनरल और अन्य नामजद सदस्यों को शामिल करके, कानून बनाने के उद्देश्य से परिषदों का विस्तार किया गया। प्रांतीय विधान परिषदों द्वारा पास किए गए कानूनों का गवर्नर या गवर्नर जनरल वीटो कर सकता था। इसके अलावा यह निश्चित करने का कोई मानदंड नहीं था कि प्रांतीय विषय कौन-से होंगे और केंद्रीय विषय कौन-से। बंबई और मद्रास के अलावा बंगाल, उत्तर-पश्चिम प्रांतों और पंजाब में भी विधान परिषदें स्थापित की जानी थीं जहाँ लैफ्टिनेंट गवर्नरों और कुछ नामजद सदस्यों को मिलाकर इनका गठन होना था। इस प्रकार विधायिका संबंधी अधिकारों का

नोट

विकेंद्रीकरण बहुत छोटे पैमाने पर शुरू किया गया। एक्ट में, विधान परिषदों में भारतीयों को सम्मिलित किए जाने के संबंध में कुछ नहीं कहा गया था लेकिन इससे यही अर्थ निकलता था कि ऐसा करने पर कोई प्रतिबंध नहीं है। भारतीयों को इससे ज्यादा किसी तरह से सरकारी काम-काज में शामिल करने का सवाल ही नहीं था। 1861 के इंडियन कौंसिल बिल पर बहस के दौरान हाउस आफ कामन्स में सर चार्ल्स वुड ने यह स्पष्ट किया कि “आप भारत में एक ही जगह ऐसे लोगों को संभवतः इकट्ठा नहीं कर सकते जो साम्राज्य की स्थानीय जनता के सभी वर्गों के वास्तविक प्रतिनिधि हों...इसलिए स्थानीय मूल के लोगों के प्रतिनिधित्व की बात करना ऐसा काम करने को कहना है जो बिल्कुल असंभव हो।” लेकिन उन्होंने यह माना कि “नव गठित विधान परिषदों में अधिक सदस्य यूरोपीय, या यूरोप के निवासी अथवा स्थानीय मूल के हो सकते हैं।” इस तरह 1861 के बाद केंद्र और प्रांतों की विधान परिषदों में कुछ गैर-सरकारी स्थान भारतीयों के लिए रखे गए।

19वीं शताब्दी के अंतिम 25 वर्षों के दौरान भारत में राजनीतिक चेतना बड़ी तेजी से उभर रही थी। इस जागृति की प्रतीक थी इंडियन नेशनल कांग्रेस, जिसका जन्म 1885 में हुआ। कुछ प्रबुद्ध अंग्रेज स्वयं भी यह महसूस करते थे कि कानून बनाने के कार्यों में भारतीयों को शामिल किए जाने की जरूरत है। दयावान लार्ड रिपन, चुने हुए भारतीयों को विधान परिषदों में लाना चाहते थे, लेकिन उस समय ऐसा करना कठिन था। इसलिए उन्होंने भारत को स्थानीय स्वशासन की सुविधा दी। उन्होंने लिखा, “स्थानीय स्वशासन से मैं ब्रिटिश लोकतांत्रिक ढंग का जन-प्रतिनिधित्व नहीं करना चाहता बल्कि मेरा उद्देश्य समाज के सबसे अच्छे, प्रतिभावान और प्रभावशाली लोगों को, अपने स्थानीय मामलों के संचालन में रुचि लेने तथा सक्रिय भाग लेने के लिए शिक्षित करना है।” रिपन ने 18 मई 1882 के प्रस्ताव में ग्रामीण बोर्डों और म्युनिसिपलटियों के जरिए भारतीयों को अपने स्थानीय मामले चलाने की जिम्मेदारी सौंपने के देशव्यापी प्रयोग का रास्ता खोला।

लेकिन भारतीय चेतना की नजर और भी ऊंची जिम्मेदारियों पर लगी हुई थी। 19वीं शताब्दी के खत्म होने तक विभिन्न विधान परिषदों में नामजद भारतीय सदस्यों ने अपनी-अपनी योग्यता सिद्ध कर दी थी। उस समय तक 1861 के एक्ट से उपजी विधान परिषदें पुरानी पड़ चुकी थीं। ये आकार में कुछ छोटी और अधिकारों में सीमित नजर आ रही थीं। भारतीयों की नवोदित पीढ़ी ने विधान क्षेत्रों में और अधिक वास्तविक अधिकारों की मांग की। निर्वाचन से चुने जाने के सिद्धांतों के पक्ष में आवाजें सुनी गईं। ऐसे बदलते हुए वातावरण में संसद ने भारतीयों की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए 1892 का इंडियन कौंसिल एक्ट पास किया।

इस एक्ट ने कुछ तर्कसंगत आवश्यकताएँ पूरी कीं। प्रांतीय परिषदों में कुछ नए अतिरिक्त सदस्यों को शामिल करके इनका विस्तार किया गया। म्युनिसिपलटियों और जिला बोर्डों जैसी स्थानीय संस्थाएँ अब कुछ अतिरिक्त सदस्य चुन सकती थीं। विधान परिषदों के कार्यक्षेत्र का भी विस्तार किया गया। उन्हें सरकार द्वारा तैयार की गई वित्त-रिपोर्ट पर विचार करने का अधिकार मिल गया, लेकिन उस पर मतदान का अधिकार नहीं था। विधान परिषदों के सदस्यों को सरकार से सवाल पूछने का अधिकार भी प्रदान किया गया।

1892 के एक्ट द्वारा निर्मित विधान परिषदें, राष्ट्रवादी युग के आरंभ में, गोपाल कृष्ण गोखले जैसे उस समय के प्रमुख भारतीयों के लिए, अपनी मांगें पेश करने और विदेशी सरकार के कुकृत्यों की आलोचना करने के लिए मंच बन गईं। इसके बाद के कुछ ही वर्षों में नेशनल कांग्रेस ने निश्चित रूप से ब्रिटिश विरोधी रवैया अपनाया। कर्जन के तानशाही शासन ने राष्ट्रवाद के विकास को गति प्रदान की। कर्जन ने बंग-भंग करके (बंगाल का विभाजन करके), अंग्रेजों के खिलाफ राष्ट्रवादी संघर्ष के पहले दौर की शुरुआत करा दी। इधर जब यह आंदोलन जोर पकड़ रहा था तो ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 1909 का एक्ट पास करके सांविधानिक विकास की दिशा में अगला बड़ा कदम उठाया।

न्यायपालिका—इस बीच 1858 में सत्ता हस्तांतरण के बाद से, न्याय प्रणाली नया आकार ले रही थी। शुरू से ही कानून बनाए रखने और सही न्याय करने के मार्ग में लगभग अर्धशतक कठिनाइयाँ थीं। इस दिशा में कंपनी ने बहुत कुछ करने की कोशिश की थी लेकिन उसकी प्रणालियाँ सफल या संतोषजनक सिद्ध नहीं हुईं। तीन प्रेसीडेंसियों में प्रांतीय अदालतों के अधीन छोटी अदालतें थीं लेकिन सबसे ऊपर सुप्रीम कोर्ट (अथवा सर्वोच्च न्यायालय थी) जिसकी उत्पत्ति बिल्कुल भिन्न थी और जिसके कानून एकदम अलग थे। इस तरह सर्वोच्च न्यायालय तो ब्रिटिश शासन का प्रतिनिधित्व कर रहा था और देश की अदालतें कंपनी के प्रशासन की प्रतिनिधि थीं, जिससे कि सारी

नोट

कानूनी प्रणाली ही परस्पर विरोधी बन गई थी। सत्ता हस्तांतरण के बाद कानूनी विरोधाभासों को दूर करना और साम्राज्य की कानून-प्रणाली को एक समान पद्धति पर लाना आवश्यक हो गया। इसलिए ब्रिटिश संसद ने अगस्त 1861 में एक एक्ट पास किया जिसके अंतर्गत भारत में उच्च न्यायालयों की स्थापना होनी थी। इस एक्ट के अधीन ब्रिटेन की महारानी को देश की सर्वोच्च शासक के नाते यह फरमान निकालने का अधिकार दिया गया कि कलकत्ता, मद्रास और बंबई में उच्च न्यायालयों की स्थापना की जाए। इन उच्च न्यायालयों के स्थापित होते ही उस समय की सर्वोच्च अदालतें, सदर दीवानी और सदर निजामत अदालतें खत्म कर दी जाएँ। इस तरह स्थापित किए जाने वाले उच्च न्यायालयों का अधिकार क्षेत्र वही होगा जो सर्वोच्च न्यायालयों का था और अपील संबंधी क्षेत्र वह था जो सदर अदालतों का था। यह व्यवस्था पिछली दो प्रणालियों को मिलाकर एक बना देने जैसी थी। प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने अपील क्षेत्र में आने वाले सभी न्यायालयों पर निगरानी रखने, किसी भी मुकदमे या अपील को एक न्यायालय से उसी तरह के या उससे बड़े न्यायालय में भेजने और इन न्यायालयों के काम-काज के लिए आम नियम बनाने का अधिकार था। 1861 के एक्ट में, अंत में यह व्यवस्था थी कि महारानी जब भी ठीक समझें, भारत में अपने अधीन आने वाले किसी भी ऐसे इलाके में उच्च न्यायालय की स्थापना कर सकती हैं, जो किसी अन्य उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में न आता हो।

इस एक्ट के अनुरूप कलकत्ता, मद्रास और बंबई में उच्च न्यायालय स्थापित करने के वास्तविक फरमान 1865 में जारी किए गए। 1866 में एक और उच्च न्यायालय इलाहाबाद में स्थापित हुआ। बाकी उच्च न्यायालयों की स्थापना 20वीं शताब्दी में जाकर हुई।



टास्क सत्ता हस्तांतरण के बाद न्यायपालिका के विकास पर प्रकाश डालें।

11.9 सारांश (Summary)

- दक्षिण भारत में सफलताओं से अंग्रेजों की महत्वाकांक्षा और बढ़ गई और वे किसी मामूली-सी बात का बहाना बनाकर झगड़ा मोल लेने को तैयार थे। प्लासी एक शुरुआत थी। इसके बाद 1760 ई. में दक्षिण भारत में वंदीवाश और 1764 ई. में उत्तर भारत में बक्सर की लड़ाइयों में अंग्रेजों की विजय से साम्राज्यवादी विस्तार के राजनीतिक मार्ग खुल गए।
- मई 1765 में क्लाइव भारत लौटा। उसने हारे हुए सम्राट के साथ जो संधि की वह उसकी कूटनीतिक सूझबूझ का ज्वलंत उदाहरण है। क्लाइव ने एक शासन-प्रणाली शुरू की जो डुअल गवर्नमेंट या डाइआर्की, यानी द्वैध शासन के नाम से प्रसिद्ध हुई।
- क्लाइव के बाद वारेन हेस्टिंग्स का युग आया। क्लाइव ने एक साम्राज्य की नींव डाली थी और हेस्टिंग्स को एक प्रशासन की नींव डालनी थी। संभवतः उस समय हेस्टिंग्स ही एकमात्र ऐसा अंग्रेज था, जिसमें कंपनी के नियंत्रण वाले इलाके में भारतीयों को अच्छी सरकार देने की आवश्यकता पूरी करने की बुद्धि और इच्छाशक्ति थी।
- रेगुलेटिंग एक्ट ने भारत में ब्रिटिश इलाकों की सरकार के लिए पहला संविधान दिया, जो ब्रिटिश पार्लियामेंट में उपजा था। लार्ड नार्थ का उद्देश्य कंपनी के मामलों को ठोस, स्पष्ट और निश्चित आधार पर स्थापित करना था।
- प्रधानमंत्री बनने के बाद पिट द यंगर ने जनवरी 1784 में अपना प्रसिद्ध इंडिया बिल पेश किया और अगस्त 1784 में यह पास हो गया। पिट के इंडिया एक्ट के साथ ही वारेन हेस्टिंग्स के प्रशासन का अंत हो गया। उसने 1785 के शुरू में भारत छोड़ा। हेस्टिंग्स के स्थान पर कार्नवालिस की नियुक्ति हुई जो सितंबर 1786 में कलकत्ता पहुंचा। कार्नवालिस भ्रष्टाचार की बुराई को जड़ से उखाड़ कर, नागरिक और सैनिक सेवाओं में सुधार लाना चाहता था।

नोट

- 1793 से कंपनी का अधिकार-पत्र यानी चार्टर हर 20 वर्ष बाद नया किया जाता था। यह चार्टर एक्ट कंपनी के बाहरी और घरेलू मामलों से संबद्ध थे और इनके द्वारा आवश्यक समझी जाने वाली फेरबदल की गई। ब्रिटिश भारतीय प्रशासन के विकास में चार्टर एक्टों का इसीलिए बहुत महत्व है।
- 1857 की क्रांति के बाद ब्रिटिश शासक द्वारा सरकार अपने हाथ में लेना गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1858 के अंतर्गत हुआ और उसी साल महारानी ने भी अपना अध्यादेश जारी किया।

11.10 शब्दकोश (Keywords)

- सिपाही विद्रोह—1857 का महान क्रांति या विद्रोह जो अंग्रेजों के खिलाफ भारत में हुआ था।
- वैधानिक—कानून के अनुरूप, विधिसम्मत।
- मुकर्रर—तय करना, लागू करना।

11.11 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. प्लासी युद्ध के बाद कंपनी द्वारा प्रशासनिक प्रयोग एवं क्लाइव के द्वैध शासन का वर्णन करें।
2. वारेन हेस्टिंग्स के समय के प्रशासन पर प्रकाश डालें।
3. 1793 में पास हुए रेगुलेटिंग एक्ट का उल्लेख करें।
4. पिट्स के इंडिया एक्ट एवं भारत पर इसके प्रभाव की विवेचना करें।
5. पिट्स के इंडिया एक्ट के लागू होने के बाद की घटनाओं पर प्रकाश डालें।
6. ब्रिटिश संसद और चार्टर एक्ट की विशद विवेचना करें।
7. चार्टर एक्ट का भारत पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन करें।
8. 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासन द्वारा सत्ता हस्तांतरण पर प्रकाश डालें।
9. 1858 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के पारित होने से कार्यपालिका के क्षेत्र में हुए विकास का वर्णन करें।
10. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1858 के संशोधन से विधानपालिका क्षेत्र में हुए सुधार एवं विकास की विवेचना करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|----------------|-------------------------|---------------|---------------|
| 1. प्लासी | 2. नवाब | 3. अवध | 4. क्लाइव |
| 5. (घ) व्यक्ति | 6. (क) वारेन हेस्टिंग्स | 7. (ख) कलक्टर | 8. (ग) 40 लाख |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य | 12. सत्य। |

11.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
2. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
3. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
4. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
5. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-12 : वित्तीय साधन (Financial Resources)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 12.1 भूमि कर नीति (Land Revenue Policy)
- 12.2 नमक कर (Salt Tax)
- 12.3 अफीम से आय (Opium Duty)
- 12.4 सिविल सर्विस का गठन (Organisation of the Civil Service)
- 12.5 न्यायिक व्यवस्था (Judicial System)
- 12.6 पुनर्वेक्षण (Review)
- 12.7 आर्थिक नीति में परिवर्तन (Changes in Economic Policy)
- 12.8 सारांश (Summary)
- 12.9 शब्दकोश (Keywords)
- 12.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 12.11 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- वित्तीय कर में भूमि-कर नीति, नमक कर तथा अफीम से होने वाली आय को जानने में;
- सिविल सर्विस का गठन एवं न्यायायिक व्यवस्था को जानने में;
- पुनर्वेक्षण एवं आर्थिक नीति में परिवर्तन को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्लासी तथा बक्सर के युद्धों के उपरान्त कम्पनी बंगाल में एक व्यापारी, सैनिक तथा राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरी। इसने अपनी इस शक्ति का प्रयोग अपने व्यापारिक लाभ को बढ़ाने के लिए किया। शनैःशनैः अंग्रेजों को समस्त भारत को जीतने की इच्छा पनपती गई, जिसके लिए उन्हें एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी। इस सबके लिए बाहुल्य धन की आवश्यकता थी जो केवल तभी सम्भव था जब भारत का पूर्ण और विधिवत आर्थिक शोषण किया जाए।

नोट

भूमि कर अथवा मालगुजारी ही कम्पनी का मुख्य राजस्व का स्रोत था। इसके अतिरिक्त सीमा शुल्क, आबकारी शुल्क (excise), अफीम तथा नमक के एकाधिकार से आय, भारतीय राजाओं से प्राप्त होने वाले अंशदान (tributes), वनों से होने वाली आय, प्रान्तों से मिला धन तथा स्टाम्प शुल्क (Stamp Duties) जो पंजीकृत करते समय देना होता था, भी कम्पनी के अन्य राजस्व के स्रोत थे।

12.1 भूमि कर नीति (Land Revenue Policy)

भूमि कर से आय राज्य की आय के आधे से अधिक थी और उसमें बढ़ोतरी के लिए सम्भावना थी इसलिए आरम्भिक अंग्रेजी प्रशासकों ने भूमि कर की ओर अधिक ध्यान दिया। भारत के साम्राज्यवादी शासकों ने भू-कर अवधि (Land Revenue Tenure) के विषय में दूरगामी परिवर्तन किए। भूमि की मलकियत की नवीन धारणाओं के अतिरिक्त उन्होंने पट्टेदारी के नए कानून बनाए और भूमि कर की मांग अधिकाधिक करने का प्रयत्न किया। मुख्य रूप से तीन प्रकार के भूमि की पट्टेदारी लागू की गई—जमींदारी व्यवस्था, महलवाड़ी पद्धति तथा रैयतवाड़ी पद्धति। स्थाई जमींदारी व्यवस्था जिसे Permanent Settlement भी कहते हैं, बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश के बनारस मण्डल और उत्तरी कर्नाटक प्रदेशों में 18वीं शताब्दी में आरम्भ की गई। इससे भविष्य में भू-कर में कोई वृद्धि नहीं हो सकती थी। इसलिए महलवाड़ी पद्धति का विकास हुआ, जिसके अनुसार राज्य का भू-कर दस से चालीस वर्ष तक की अवधि के लिए निश्चित किया जाता था। यह पद्धति उत्तर प्रदेश, केन्द्रीय प्रान्त (मोटे तौर पर आधुनिक मध्य प्रदेश) और पंजाब (कुछ परिवर्तनों के साथ) में लागू किया गया। इससे भी अधिक लचीली पद्धति थी रैयतवाड़ी, जिसके अनुसार भूमि के पंजीकृत स्वामी के साथ एक निश्चित राशि भूमि कर के रूप में देने की सविदा की जाती थी। उसे सरकार को यह राशि देनी होती थी। इसमें मध्यस्थ व्यक्ति (Intermediary), जमींदार इत्यादि के लिए कोई प्रावधान नहीं था। इस व्यवस्था में अधिक कर प्राप्ति के अधिक अवसर थे। यह रैयतवाड़ी व्यवस्था बम्बई, मद्रास तथा आसाम आदि प्रान्तों तथा भारत के अन्य भागों में लागू की गई और समस्त भारत के लगभग 50 प्रतिशत क्षेत्र में यह लागू रही।

प्रसिद्ध लेखक **आर.सी. दत्त** ने निम्नलिखित आँकड़े दिए हैं यह दिखाने के लिए कि किस प्रकार भूमि कर के संग्रहण में बढ़ोतरी होती रही—

1817-18	₹ 12,363,634
1827-28	₹ 13,754,703
1837-38	₹ 11,353,975
1847-48	₹ 14,437,254
1857-58	₹ 15,317,911



क्या आप जानते हैं 1858-59 में भूमि कर की आय सरकार की कुल आय का लगभग 50 प्रतिशत थी।

कुल मिलाकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भूमि-कर प्रणाली के मुख्य पक्ष थे, अत्यधिक कर की मांग, संग्रहण में कठोरता; जहाँ एक दिन की देरी भी क्षमा योग्य नहीं होती थी और वर्षा के अभाव अथवा बाढ़ से प्रभावित क्षेत्रों में भी कर में कोई कमी नहीं की जाती थी। इसके अतिरिक्त भ्रष्ट न्यायिक तथा प्रशासनिक ढांचे ने समस्त भारतीय अर्थव्यवस्था को गड़बड़ा दिया। कुछ क्षेत्रों में जमींदारों को लाभ पहुँचा होगा, परन्तु खेत पर काम करने वालों के लिए तो यह एक दैवी प्रकोप था। उनकी परिस्थिति बिगड़ती चली गई और निर्धनता, पिछड़ापन तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था अंग्रेजी साम्राज्य की मुख्य देन थी।

नोट

12.2 नमक कर (Salt Tax)

ईस्ट इण्डिया कम्पनी को नमक के व्यापार पर एकाधिकार था। उससे कम्पनी को पर्याप्त लाभ मिलता था। कम्पनी के प्रदेशों में नमक बनाने वालों से अत्यधिक कर मिलता था। इसके अतिरिक्त अधीनस्थ भारतीय राजाओं के प्रदेशों में बने नमक का भी आयात करने पर मोटा आयात कर लिया जाता था। चोल मण्डल तथा मालाबार तटों पर समुद्री जल को धूप से सुखाकर नमक बनाते थे। नमक के तालाबों के स्वामी सरकार से लाईसेंस अथवा अनुज्ञापत्र लेकर नमक बनाते थे और वे लोग नमक सरकार को निश्चित किए भाव पर बेच देते थे। सरकार कर लगाकर, नमक थोक व्यापारियों को निश्चित भाव पर बेच देती थी।

आरंभ में यह एकाधिकार मूल्य 7 रु. प्रति 100 पाउंड (39 तोले का बाट) था परन्तु कालान्तर में इसमें अत्यधिक वृद्धि कर दी गई। बंगाल अपनी नमक की आवश्यकताएँ इंग्लैण्ड से आयात द्वारा ही पूरा करता था यद्यपि मद्रास की सरकार के पास नमक फालतू भी होता था जिसे वह आसानी से बंगाल को निर्यात कर सकता था। परन्तु बंगाल को ऊंचे भाव पर ही विदेश से नमक आयात करना पड़ता था। 1810 से मद्रास सरकार को 3 अरब पाउंड नमक बंगाल को निर्यात करने की अनुमति मिली जिसे 1853 में घटाकर 250,000 पाउंड कर दिया गया।

नमक पर कर, करों में सबसे अधिक घृणित था क्योंकि नमक सबके लिए आवश्यक तत्व था और निर्धन लोगों को भी इसे सहन करना पड़ता था। 1850 में मद्रास के राजस्व बोर्ड ने परिकलित किया कि एक निर्धन श्रमिक को अपनी वार्षिक आय में से लगभग एक मास का वेतन उन 18 पाउंड नमक पर व्यय करना पड़ता है जो उसकी 6 सदस्यों की वार्षिक आवश्यकता है। कम्पनी को 1793 में नमक से £ 8,00,000 वार्षिक मिला और 1844 में यह बढ़कर £ 13,00,000 हो गया।

12.3 अफीम से आय (Opium Duty)

यदि 1858 में कम्पनी को अपने राजस्व का 7 प्रतिशत नमक के कर से मिला तो उसी वर्ष में कम्पनी ने अपनी कुल आय का 17 प्रतिशत अफीम पर लगे एकाधिकार कर से कमाया। अफीम बनारस और पटना के अतिरिक्त कुछ भारतीय रियासतों में भी उगाई जाती थी। कम्पनी यह माल 200 प्रतिशत से भी अधिक के लाभ पर बेचती थी। सरकार पारगमन की सुविधा प्रदान करने के लिए भी बहुत सा धन कमाती थी। अफीम के व्यापार का सबसे धिनौना पक्ष वह था जब चीन के अफीम के व्यापार को बन्द करने के प्रयत्न स्वरूप कम्पनी ने चीन से अफीम युद्ध (Opium wars) किए और चीन को अफीम खरीदने के लिए बाध्य किया और अपने बाजारों में उसे बेचने की अनुमति ली।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. कंपनी के मुख्य राजस्व का स्रोत भूमि कर अथवा था।
2. कंपनी की भ्रष्ट न्यायिक तथा ढाँचे ने समस्त भारतीय अर्थव्यवस्था को चरमरा दिया।
3. ईस्ट इंडिया कंपनी को के व्यापार पर एकाधिकार था।
4. बनारस और पटना के अतिरिक्त कुछ और भारतीय रियासतों में उगाई जाती थी।

12.4 सिविल सर्विस का गठन (Organisation of the Civil Service)

एक कुशल प्रशासनिक सेवा का गठन, जो निश्चित नियमों के अनुसार काम करती थी, अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य था। यह अंग्रेजों के पूर्व परिस्थिति से पूर्णतया भिन्न था जिसमें स्थानीय अथवा व्यक्ति विशेष की व्यक्तिगत अभिरुचि के अनुसार ही प्रशासक कार्य करते थे।

नोट

कम्पनी के प्रारम्भिक दिनों में कम्पनी के अधिकारी अथवा लिपिकार जिन्हें प्रवर तथा कनिष्ठ व्यापारी (Senior and Junior merchants) अभिकर्ता (factors) तथा लिपिकार (writers) कहते थे, मिलकर समस्त व्यापारिक और प्रशासनिक कार्य करते थे। निदेशकों के अधिकरण (Court of Directors) अपने प्रश्रय (patronage) का प्रयोग करते और अपने मित्रों, कभी-कभी पुत्रों को ही भारत में प्रशासकीय सेवा के लिए भारत भेज देते थे। कभी-कभी यह नियुक्तियाँ मोल भी बेची जाती थीं। वेतन प्रायः बहुत कम होते थे। अतएव प्रायः यह लोग घूस लेते थे। वॉरेन हेस्टिंग्स ने पदों के वेतन अत्यधिक बढ़ा दिए ताकि भ्रष्टाचार कम हो सके। प्रशासन का व्यय अत्यधिक हो गया परन्तु उससे न ही कुशलता आई और न ही भ्रष्टता कम हुई। लार्ड कॉर्नवालिस ने बड़े-बड़े पदों का यूरोपीयकरण किया और प्रशासनिक सेवाओं में वेतन और भी अधिक कर दिए परन्तु उसने न तो इन नियुक्तियों के लिए चयन का और न ही उनके प्रशिक्षण का ठीक-ठीक प्रबन्ध किया।



नोट्स लार्ड वैलजली ने पहली बार प्रशासनिक सेवकों (Civil Servants) के प्रशिक्षण के लिए नवम्बर 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज खोला। यहाँ कम्पनी के पदाधिकारियों को साहित्य, विज्ञान और भारतीय भाषाओं का ज्ञान दिया जाता था।

निदेशकों के प्राधिकरण को यह जंचा नहीं यद्यपि यह कॉलेज पदाधिकारियों के लिए भारतीय भाषाओं का ज्ञान देने के लिए 1854 तक कार्य करता रहा। परन्तु निदेशकों ने यह ठीक समझा कि इंग्लैण्ड में ही भारतीय प्रशासकों के प्रशिक्षण के लिए एक कॉलेज खोला जाए और हैलीबरी (Haileybury) के स्थान पर एक ईस्ट इण्डिया कॉलेज, 1806 में खोला गया। यहाँ भारत में नियुक्ति से पूर्व इन तरुण पदाधिकारियों को 2 वर्ष तक प्रशिक्षण लेना होता था। कम्पनी के पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए भारतीयों के लिए द्वार पूर्णतया बन्द थे। यह ठीक है कि 1833 के चार्टर एक्ट में धारा 87 के अनुसार यह प्रावधान था कि कम्पनी की प्रशासनिक सेवा के लिए रंग का भेदभाव नहीं होगा, परन्तु यह कहने की बात थी, वास्तविकता भिन्न थी। उच्च प्रशासनिक सेवा में किसी भारतीय की नियुक्ति नहीं हुई। यहाँ तक कि साम्राज्ञी विक्टोरिया की 1858 की घोषणा में भी यह आश्वासन दिया गया था कि “हमारी प्रजा, चाहे किसी भी धर्म अथवा जाति से हो, मुक्त और भेदभाव रहित रूप से किसी भी पद के लिए, जिसके वह योग्य हो, चुनी जा सकती है।” परन्तु इस कथन का भी कोई प्रभाव नहीं हुआ और ऊँचे प्रशासनिक पद केवल श्वेत लोगों के लिए ही संरक्षित रहे। भारतीय जनता को बहलाने के लिए और जातीय समानता दिखलाने के लिए उन्होंने डिप्टी कलैक्टर और डिप्टी मैजिस्ट्रेटों के पद गठित किए और कुछ भारतीयों को लगा कि वे इन पदों तक पहुँच सकते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

- लार्ड वैलजली ने पहली बार प्रशासनिक सेवकों के प्रशिक्षण के लिए नवम्बर में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज खोला।
 (क) 1500 (ख) 1800
 (ग) 1700 (घ) 1854
- कंपनी के पदाधिकारियों की नियुक्ति में के लिए द्वार पूर्णतया बन्द थे।
 (क) अंग्रेजों (ख) फ्रांसीसियों
 (ग) भारतीयों (घ) पुर्तगालियों
- अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय प्रदेश भिन्न-भिन्न से प्राप्त किये।
 (क) कार्य (ख) प्रक्रिया
 (ग) युद्ध (घ) व्यापार

नोट

8. विदेशियों ने अपने अधीन भारतीयों पर एक जैसा लागू करने का प्रयत्न किया।

(क) अधिकार

(ख) धर्म

(ग) परंपरा

(घ) कानून।

12.5 न्यायिक व्यवस्था (Judicial System)

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय प्रदेश भिन्न-भिन्न प्रक्रिया से प्राप्त किए। बम्बई को पुर्तगाल के राजा ने अपनी बेटी के दहेज में चार्ल्स द्वितीय को पूर्ण सत्ता समेत दिया और उसने कम्पनी को 1668 में थोड़ा सा किराया लेकर दे दिया। अर्थात् कम्पनी पूर्ण रूप से स्वामी थी। चोलमण्डल तट पर मद्रास तथा आसपास का क्षेत्र कर्नाटक के नवाब ने स्थायी तथा अटल रूप से (permanently and irrevocably) कम्पनी को दे दिया। बंगाल में स्थिति अनिश्चित सी थी क्योंकि वहाँ कम्पनी को सत्ता दोहरी प्रणाली से प्राप्त हुई थी। 1765 में मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय ने अपनी पराजय के उपरान्त कम्पनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी दे दी थी। इसलिए अब कम्पनी बंगाल के समस्त दीवानी कार्य के लिए उत्तरदायी थी जिसमें दीवानी न्याय भी सम्मिलित था। दूसरी ओर निजामत अर्थात् कानून और व्यवस्था बंगाल के नवाब के पास ही रही। यह कार्य मुहम्मद रज़ा खाँ नायब नवाब को संभालना था क्योंकि मुगल प्रशासन में प्रान्तों का भार दो व्यक्तियों के कन्धों पर होता था, सूबेदार और दीवान। कानून और व्यवस्था तथा फौजदारी न्याय इत्यादि का कार्य नवाब देखता था और भूमि तथा अन्य कर जिसमें दीवानी मुकदमे भी सम्मिलित होते थे, इनका कार्य दीवान देखता था।

बम्बई में 1668 में सत्ता प्राप्त करने के उपरान्त कम्पनी वहाँ दीवानी और फौजदारी न्याय भी देती थी। जनसंख्या कम थी अतएव यह दोनों समस्याएँ भी कम थीं। कम्पनी ने फौजदारी न्याय में धार्मिक सहिष्णुता और ज्यूरी द्वारा फैसला करने की पद्धति अपनाई जैसा कि इंग्लैण्ड में प्रथा थी। एक न्याय का प्राधिकरण (Court of Judicature) स्थापित किया गया। 1718 में ज्यूरी प्रथा समाप्त कर दी गई और अदालतों से अपील की व्यवस्था स्थापित की गई। गवर्नर तथा उसकी परिषद् यह अपील सुनते थे। इसमें एक हिन्दू एक मुसलमान, एक पारसी न्यायधिश, एक पुर्तगाल और एक कम्पनी का प्रतिनिधि भी होता था। 1726 में कम्पनी के निदेशकों ने अंग्रेजी सम्राट से अनुमति मांगी कि नगर में एक महापौर की अदालत (Mayor's Court) बनाने की अनुमति दी जाए।



उदाहरण इसके फलस्वरूप, कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में नौ वृद्धों (aldermen) वाली महापौर की अदालतें स्थापित की गईं जिनका मुख्य कार्य इन तीनों नगरों में रहने वाले यूरोपीय लोगों में न्याय करना था।

प्रारम्भिक दिनों में कम्पनी ने देखा कि देश के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न न्याय प्रणाली प्रचलित है। न केवल हिन्दू और मुसलमान न्यायप्रणालियाँ अलग-अलग न्याय देती हैं अपितु अन्य प्रदेशों में हिन्दू और मुस्लिम न्याय भी अलग-अलग हैं। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि अंग्रेजों से पूर्व (Pre-British) दिनों में न्यायिक पद्धति हिन्दू, मुस्लिम, स्थानीय रीति रिवाजों तथा प्रशासकों की अपनी अभिरुचि का सम्मिश्रण-सी थी। यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियाँ जिन्होंने यह बस्तियाँ बसाई थीं सरलता से इस न्याय को स्वीकार करने को उद्यत नहीं थीं। विशेषकर मुस्लिम कुरान के कानून को जिसमें अंग विच्छेद करना अथवा अपराधी को पत्थरों से मार डालने का अथवा एक काफ़िर की साक्षी को मुसलमान की साक्षी से गौण समझा जाता था। यह भी स्वीकार्य नहीं था कि ब्राह्मण के लिए भिन्न कानून हो और शूद्र के लिए भिन्न। यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के उत्थान साथ राष्ट्रीय कानूनों का भी उदय हुआ और इन विदेशियों ने अपने अधीन भारतीयों पर एक जैसा कानून लागू करने का प्रयत्न किया।

यह वारेन हेस्टिंग्स था जिसने सर्वप्रथम न्यायलयों का एक ढांचा-सा तैयार किया और ज़िला दीवानी तथा फौजदारी अदालतें गठित कीं जहाँ से अपील कलकत्ता स्थित सदर दीवानी और सदर फौजदारी अदालत में की जा सकती थी। परन्तु वास्तव में यह लार्ड कॉर्नवालिस ही था जिसने विधिवत दीवानी तथा फौजदारी अदालतों की श्रृंखलाबद्ध रूप से स्थापना की। ज़िलों में सबसे नीचे स्तर की मुनिसिफ़ की अदालत होती थी जिसमें न्यायधीश भारतीय होते थे और

नोट

जिन्हें 50 रुपये तक के मुकदमों की सुनवाई करने का अधिकार था। इससे ऊपर रजिस्ट्रार (Registrar) की अदालत होती थी जिसमें यूरोपीय लोग न्यायधीश होते थे और उन्हें 200 रुपये तक के मामले सुनने का अधिकार था। इनसे अपील जिला अथवा नगर अदालतों में होती थी। जिला अदालतों से अपील चार प्रान्तीय अदालतों में हो सकती थी। इन सबसे ऊपर सदर दीवानी और सदर निजामत अदालत होती थी जो कलकत्ता में स्थित थी। कुछ मामलों में अपील इंग्लैण्ड में स्थित प्रिवी काउंसिल (Privy Council) में सीधे भी हो सकती थी। 1793 की कॉर्नवालिस संहिता (Cornwallis Code) ने इस समस्त न्यायिक व्यवस्था को सूचारु रूप दिया और यह व्यवस्था अपरिवर्तित रूप से बहुत देर तक चलती रही।

12.6 पुनर्वेक्षण (Review)

- (i) **विधि का शासन (The Rule of Law)**—अंग्रेजों की इस बात के लिए प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने भारत में पहली बार विधि के शासन जैसी आधुनिक परिकल्पना स्थापित की। इसका अर्थ यह है कि भारत में इससे पहले चल रही प्रथा: मनमाने ढंग की न्याय व्यवस्था समाप्त हो गई। अब प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकार अथवा विशेषाधिकार का ज्ञान मिल सकता था। नियम लिपि बद्ध हो गए। यद्यपि यह ठीक है कई बार व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण हो जाता था और उसे न्याय नहीं मिलता था परन्तु फिर भी यह मानना होगा कि कम से कम ऐसा अवसर तो मिलता था कि दोषी पदाधिकारियों को अदालतों में लाकर खड़ा तो कर दिया जाता था।
- (ii) **क्रानून के सम्मुख बराबरी (Equality Before Law)**—क्रानून के सम्मुख सभी लोग, चाहे उनका धर्म, वर्ण, जाति अथवा वर्ग कोई भी क्यों न हो, सभी को बराबर माना जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि इससे पूर्व की न्यायिक प्रथा जिससे ब्राह्मण और शूद्र जमींदार और कृषक के लिए भिन्न-भिन्न क्रानून होते थे अब समाप्त हो गई। मुस्लिम क्रानून भी जो स्त्री और पुरुष में भेद-भाव करता था, का भी अब अन्त हो गया। यह एक अलग बात है कि वास्तविकता थोड़ी भिन्न थी।



सावधानी

निर्धन कृषकों तथा साधारण जनता को वकील नियुक्त करने पड़ते थे जो मोटी-मोटी राशियाँ फ़ीस के रूप में लेते थे और धनवान लोग पुलिस तथा न्यायपालिका को भ्रष्ट रीतियाँ अपनाकर निर्धन लोगों को न्याय से वंचित कर सकते थे।

- (iii) **व्यक्तिगत दीवानी क्रानून स्वीकृत (Recognition of Personal Civil Law)**—अंग्रेजों से पूर्व भी किसी शासक ने भारत के भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों पर तथा भिन्न-भिन्न समुदायों पर एक ही दीवानी क्रानून लादने का प्रयत्न नहीं किया था। वह प्रथा अब भी अंग्रेजों ने स्वीकार कर ली अर्थात् भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों तथा समुदायों के लोगों पर उनके अपने-अपने दीवानी क्रानून लागू रहे और वे उन्हीं के अधीन बने रहे, विशेषकर, विवाह, संयुक्त परिवार प्रथा, गोद लेना तथा उत्तराधिकार के क्रानून इत्यादि के मामलों में।
- (iv) **प्रशिक्षित न्यायिक पदाधिकारियों तथा व्यावसायिक वकीलों का विकास (Growth of Trained Judicial Officials and Professional Lawyers)**—अंग्रेजों से पूर्व भूपति और प्रशासक, न्यायिक मामलों के निर्णय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। कम्पनी के अधीन अब क्रानून लिखित तथा अधिक संहिताबद्ध बन गया था। जिसके फलस्वरूप पढ़े-लिखे ऐसे लोगों का वर्ग सामने आया जो इन क्रानूनों की भाषा की बारीकियों को समझ सके और न्यायपालिका के सम्मुख रख सके। यह था व्यवसायिक वकीलों का वर्ग जो अपने मुक्किलों (clients) के अधिकारों की रक्षा और उनका पक्ष प्रस्तुत करने में अधिक सक्षम थे। यह था आधुनिक न्यायिक प्रणाली का उत्थान और विकास। यह ठीक है कि इस पद्धति की सीमाएँ हैं और इसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं; विशेषकर न्याय प्राप्त करने में देरी, परन्तु इसमें अन्याय की सम्भावना कम होती थी।

नोट

कम्पनी की यह न्यायिक प्रणाली अत्यन्त सराहनीय थी क्योंकि इस क़ानून की सर्वोच्चता तथा प्रभुसत्ता स्वीकार हो गई थी, क़ानून को संहिता बद्ध किया गया था और यह पश्चिमी न्यायिक प्रणाली तथा मानवता के अनुरूप था। यह ठीक है कि इसके कुछ परिणाम अवांछनीय भी थे। यह नई अपरिचित विस्तृत तथा मंहगी प्रणाली जनता को बहुत अच्छी नहीं लगी। मुक़दमे प्रायः इतने लम्बे हो जाते थे कि लोग निराश हो जाते थे। लोग सस्ता, तथा शीघ्र मिलने वाला न्याय चाहते थे। इस प्रणाली में असत्य, चालाकी, धोखाधड़ी तथा पैसे का बोलबाला था। मुक़दमेबाज़ी बढ़ी और व्यवसायिक वकीलों ने जनता को खूब लूटा और यही लोग समाज के मुखिया बन गए। इसमें बढ़ी मुसीबत यह थी कि न्यायाधीश प्रायः अंग्रेज़ होते थे जो स्थानीय रीति रिवाजों, परिस्थितियों तथा भाषा के सूक्ष्म भेदों से अनभिज्ञ होते थे। इसके अतिरिक्त यह विदेशी न्यायाधीश जिन्हें विदेशियों के प्रति पूर्वाग्रह भी होता था। विदेशियों और भारतीयों के बीच विवादों में भारतीयों को न्याय नहीं देते थे। इसी प्रकार ये प्रायः ईसाइयों के प्रति अधिक सहानुभूति रखते थे। पीछे हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों में भी उन्होंने प्रायः पक्षपातपूर्ण रुख़ अपनाया।

परन्तु जो भी हो इससे कम्पनी का मनतव्य पूर्ण होता था। यह भूमि की तथा अन्य करों के संग्रहण में लाभकारी सिद्ध हुई तथा क़ानून और व्यवस्था में सुधार आया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. विधि के शासन में सभी लोगों को बराबर माना जाता था।
10. व्यावसायिक वकीलों के कारण न्याय जल्दी मिल जाता था।
11. अंग्रेज़ न्यायाधीश विदेशियों तथा भारतीयों के बीच विवादों में भारतीयों को न्याय देते थे।
12. लोग सस्ता तथा शीघ्र मिलने वाला न्याय चाहते थे।

12.7 आर्थिक नीति में परिवर्तन (Changes in Economic Policy)

1600 और 1757 के बीच ईस्ट इण्डिया कम्पनी केवल व्यापारिक इकाई ही थी जो भारतीय सूती और सिल्कन कपड़ा, मसाले और हस्त शिल्प का माल भारतीय मण्डियों से खरीदती थी और उसे इंग्लैंड तथा अन्य देशों में बेच कर लाभ कमाती थी, क्योंकि भारत में विदेशी माल की मांग बहुत कम थी अतएव कम्पनी हमें यह मूल्य सोने और चांदी के रूप में ही देती थी। यह व्यापार चूँकि भारत के लिए लाभकारी था अतएव भारतीय शासकों को इन विदेशियों को भारत में अपने गोदाम अथवा फ़ैक्टरियाँ (जहाँ गुमाश्ते (factors) काम करते थे) स्थापित करने पर कोई आपत्ति नहीं होती थी। जब यह भारतीय माल इंग्लैंड में बहुत लोकप्रिय होने लगा तो स्थानीय उत्पादकों ने भारतीय माल के विरुद्ध आन्दोलन किया और 1700 के उपरान्त 2 विधेयक पारित करवाए कि भारतीय सूती, छपा अथवा रंगा हुआ माल इंग्लैंड में न बिक सके।

प्लासी (1757) और बक्सर (1764) के युद्धों के उपरान्त कम्पनी की भारतीय गतिविधियों में कुछ परिवर्तन आया। 1765 में मुग़ल सम्राट शाहआलम द्वितीय को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी (अर्थात् भूमि कर उगाहने की शक्ति) कम्पनी को देने पर विवश होना पड़ा। इससे कम्पनी की आय में बहुत वृद्धि हुई। 1765 में क्लाइव के अनुमान के अनुसार बंगाल आदि की £ 40 लाख की आय में से प्रशासन के व्यय को निकाल कर 16,50,000 पाउण्ड की आय थी और यह आय उसी दर से बढ़नी थी जिस दर से भूमि कर संग्रहण बढ़ सकता था। इस पूंजी से कम्पनी ने और अधिक माल खरीदकर और लाभ कमाना आरम्भ कर दिया।

वैसे तो भारत की लूट 1757 से ही आरम्भ हो गई थी क्योंकि बंगाल में डच और फ़्रांसीसी प्रतिस्पर्धा समाप्त हो गई थी और अंग्रेज़ी कम्पनी के कारिन्दे मनमाने भाव पर माल लेते थे, परन्तु यह लूट 1773 में अत्यधिक बढ़ गई। रेग्यूलेटिंग एक्ट के अनुसार अंग्रेज़ी सैनिक और असैनिक पदाधिकारियों के वेतन बहुत बढ़ गये थे। ज्यों-ज्यों भारत

में विदेशी सैनिकों की संख्या बढ़ती चली गई त्यों-त्यों यह व्यय बढ़ता गया। इन लोगों के वेतन, भत्ते और पेंशनों का भार बढ़ता चला गया और भारत से धन की निकासी होती रही। 18वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में से इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति आने लगी थी जिसके फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के आरम्भ से इंग्लैण्ड में एक नए पूंजीपति वर्ग का उत्थान होने लगा था। इस वर्ग ने समकालीन शासन करने वाले व्हिग (Whig) दल के समर्थन से भारत में आर्थिक नीति में अन्य परिवर्तन करवाने में सफलता प्राप्त की। 1813 में चार्टर एक्ट के नवीनीकरण के समय यह प्रभाव देखने को मिला और कम्पनी की चाय तथा चीन के व्यापार के एकाधिकार को छोड़कर शेष व्यापार सभी अंग्रेजों के लिए खोल दिया गया। रही सही कमी 1833 के चार्टर एक्ट ने पूरी कर दी। उसके अनुसार कम्पनी के भारत तथा चीन के साथ व्यापारिक अधिकार समाप्त कर दिए गए।

उभरते हुए अंग्रेजी औद्योगिक वर्ग को, एडम स्मिथ (Adam Smith 1723-90), जिसे राजनैतिक अर्थव्यवस्था (Political Economy) का जन्मदाता कहते हैं और जो तटस्थ सिद्धान्त (Laissez Faire) का समर्थक था, के लेखों से बहुत मानसिक बल मिला। उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'वैलथ ऑफ़ नेशन्स' (*Wealth of Nations*) ने सभी राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था के उत्थान में सहायता की। इस चिन्तन के प्रभाव से 1813 और 1833 के चार्टर एक्ट पारित किए गए और कम्पनी का एकाधिकार समाप्त किया गया और भारतीय मण्डियां सभी अंग्रेजी उत्पादकों के लिए बिना आयात कर के खोल दी गईं।

परन्तु यह खुला व्यापार इकतरफा था अर्थात् भारतीय माल इंग्लैण्ड में आयात करने पर भारी कर बने रहे। सूती और रेशमी कपड़े पर इंग्लैण्ड आयात कर लगाता रहा। एच. एच. विल्सन (H.H. Wilson) और जेम्स मिल (James Mill) ने अपनी पुस्तक 'भारत का इतिहास' (*History of India*) में साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड के इस पक्षपात पूर्ण रुख को इन शब्दों में वर्णित किया है—

“यदि यह ऐसा न होता और उनपर इतने निषेधात्मक पर और आज्ञाएँ न होतीं तो पेज़ली और मानचेस्टर के कारखाने, भाप की सहायता होते हुए भी, कठिनाई से ही चल पाते। ये तो भारतीय निर्माताओं की बलि से ही बन पाए। यदि भारत स्वतंत्र होता तो वह प्रतिशोध की कार्यवाही करता और अंग्रेजी माल पर भी निषेधात्मक कर लगा देता और इस प्रकार अपने उत्पादन उद्योग को मिट जाने से बचा लेता। उसे इस स्वरक्षा के कार्य की अनुमति नहीं थी। वह तो एक अजनबी की दया पर निर्भर था। अंग्रेजी माल उनपर कर रहित लादा गया और विदेशी उत्पादक ने राजनैतिक अन्याय के शस्त्र से उस प्रतिद्वन्द्वी का गला घोट दिया जिसके साथ वह बराबरी की शर्तों पर नहीं लड़ सकता था।” भारत को शनैः शनैः अंग्रेजी उद्योग का कृषि उपांग बना दिया गया जो इंग्लैण्ड को खाद्य सामग्री तथा कच्चा माल भेजता था और जो इंग्लैण्ड के औद्योगिक उत्पादन के लिए एक बन्धुआ मण्डी बन गया।



टास्क विधि के शासन पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

12.8 सारांश (Summary)

- भूमि कर अथवा मालगुजारी ही कम्पनी का मुख्य राजस्व का स्रोत था। भूमि कर से आय राज्य की आय के आधे से अधिक थी और उसमें बढ़ोत्तरी के लिए सम्भावना थी इसलिए आरम्भिक अंग्रेजी प्रशासकों ने भूमि कर की ओर अधिक ध्यान दिया।
- ईस्ट इण्डिया कम्पनी को नमक के व्यापार पर एकाधिकार था। उससे कम्पनी को पर्याप्त लाभ मिलता था। नमक के तालाबों के स्वामी सरकार से लाईसेंस अथवा अनुज्ञापत्र लेकर नमक बनाते थे और वे लोग नमक सरकार को निश्चित किए भाव पर बेच देते थे। सरकार कर लगाकर, नमक थोक व्यापारियों को निश्चित भाव पर बेच देती थी।
- यदि 1858 में कम्पनी को अपने राजस्व का 7 प्रतिशत नमक के कर से मिला तो उसी वर्ष में कम्पनी ने अपनी कुल आय का 17 प्रतिशत अफीम पर लगे एकाधिकार कर से कमाया।

नोट

- कम्पनी के पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए भारतीयों के लिए द्वार पूर्णतया बन्द थे। यह ठीक है कि 1833 के चार्टर एक्ट में धारा 87 के अनुसार यह प्रावधान था कि कम्पनी की प्रशासनिक सेवा के लिए रंग का भेदभाव नहीं होगा, परन्तु यह सिर्फ कहने की बात थी, वास्तविकता भिन्न थी।
- यह वारेन हेस्टिंग्स था जिसने सर्वप्रथम न्यायलयों का एक ढांचा-सा तैयार किया और ज़िला दीवानी तथा फ़ौजदारी अदालतें गठित कीं जहाँ से अपील कलकत्ता स्थित सदर दीवानी और सदर फ़ौजदारी अदालत में की जा सकती थी। परन्तु वास्तव में यह लार्ड कॉर्नवालिस ही था जिसने विधिवत दीवानी तथा फ़ौजदारी अदालतों की श्रृंखलाबद्ध रूप से स्थापना की।
- वैसे तो भारत की लूट 1757 से ही आरम्भ हो गई थी क्योंकि बंगाल में डच और फ़्रांसीसी प्रतिस्पर्धा समाप्त हो गई थी और अंग्रेज़ी कम्पनी के कारिन्दे मनमाने भाव पर माल लेते थे, परन्तु यह लूट 1773 में अत्यधिक बढ़ गई।

12.9 शब्दकोश (Keywords)

- **कंपनी के कारिंदे**—कंपनी में काम करने वाले अधिकर्ता या अधिकारी।
- **अफीम**—नशा करने वाली एक वस्तु या पदार्थ।

12.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. वित्तीय कर के अंतर्गत आने वाले भूमि कर का उल्लेख करें।
2. नमक तथा अफीम कर क्या हैं?
3. अंग्रेज़ों तथा सिविल सर्विस के गठन पर प्रकाश डालें।
4. अंग्रेज़ों द्वारा की गयी न्यायिक व्यवस्था का वर्णन करें।
5. न्यायिक व्यवस्था की समीक्षा करें।
6. आर्थिक नीति में अंग्रेज़ों द्वारा किये गये परिवर्तन पर प्रकाश डालें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|-----------------|------------------|--------------|
| 1. मालगुजारी | 2. प्रशासनिक | 3. नमक | 4. अफीम |
| 5. (ख) 1800 | 6. (ग) भारतीयों | 7. (ख) प्रक्रिया | 8. (घ) कानून |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. असत्य | 12. सत्य |

12.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
2. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
4. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-13 : समाज एवं शिक्षा पर उपनिवेशवाद का प्रभाव (Impact of Colonialism on Society and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 13.1 19वीं शताब्दी में सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध कानूनी उपाय
(Removal of Social Evil by Law in 19th Century)
- 13.2 नर-बलि और बालिका-वध के विरुद्ध उपाय
(Law against Homicide and Killing of Female Infant)
- 13.3 20वीं शताब्दी में मुख्य सामाजिक कानून
(Major Social Law in 20th Century)
- 13.4 20वीं शताब्दी में आध्यात्मिक अन्वेषण
(Spiritual Observation in 20th Century)
- 13.5 सामाजिक विधि निर्माण एवं शिक्षा नीति
(Social Legislation and Education Policy)
- 13.6 सारांश (Summary)
- 13.7 शब्दकोश (Keywords)
- 13.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 13.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- 19वीं शताब्दी में सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध कानूनी उपाय को जानने में;
- नर-बलि एवं बालिका-वध के विरुद्ध कानूनी उपाय को जानने में;
- 20वीं सदी में आध्यात्मिक अन्वेषण, सामाजिक विधि निर्माण एवं शिक्षा नीति को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

बंगाल में अपने शासन के प्रथम 40 वर्षों में यानी 18वीं शताब्दी के अंतिम चार दशकों में ब्रिटिश अधिकारी उन दिनों की सामाजिक बुराइयों को समझ सके लेकिन इसके विरुद्ध कोई कानूनी उपाय करने का न तो उनका कोई इरादा था और न उनमें इसका साहस था। मिशनरियों ने अपने हिंदू धर्म विरोधी अभियान में बड़े कड़े शब्दों में हिंदुओं

नोट

की धार्मिक कुप्रथाओं को प्रदर्शित किया था। उन्होंने तो भारत में रहने वाले अंग्रेजों की आत्मा झकझोरने के लिए हिंदुओं की सामाजिक बातों को भी बढ़ा-चढ़ा कर कहा। लेकिन ये मिशनरी ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार को अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए प्रेरित न कर सके। प्रजा के धर्म में किसी तरह के हस्तक्षेप से गंभीर असंतोष पैदा हो सकता है इसीलिए सरकार ने लोगों की प्रथाओं और रीति-रिवाजों को चलते रहने देना ही ठीक समझा।

लेकिन समय ने करवट ली। 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में, हिंदू समाज के अंदर ही अपनी कुप्रथाओं और कुरीतियों के विरुद्ध हलचल मची। लोगों की बदलती हुई चेतना को देखते हुए सरकार ने भी अपनी नीतियाँ बदलीं। यह एक संयोग था कि अंग्रेज अधिकारियों ने ठीक उस समय सामाजिक कानून बनाने शुरू किए जब भारतीय सुधारकों ने इसके लिए जनमत तैयार कर लिया था।

13.1 19वीं शताब्दी में सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध कानूनी उपाय (Removal of Social Evil by Law in 19th Century)

पहला प्रमुख सामाजिक कानून 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में बना। उन दिनों लार्ड वेल्लजली गवर्नर जनरल था और सेरामपुर के प्रसिद्ध मिशनरी कैरी ने उसका ध्यान, गंगा और समुद्र के संगम पर बच्चों को पानी में फेंके जाने की प्रथा की ओर आकृष्ट किया। अगस्त 1802 में सरकार ने कानून बनाकर यह प्रथा समाप्त कर दी।

राममोहन राय ने जब तक सती प्रथा के विरुद्ध न्यायवादी भारतीयों की ओर से मत व्यक्त नहीं किया तब तक ईस्ट इंडिया कंपनी इस बुराई को खत्म करने में हिचकिचाती रही और सतर्कता बरतती रही। इस प्रथा की ओर सरकार का ध्यान शुरू से ही आकृष्ट किया गया था। 1789 ई. में शाहबाद के क्लैक्टर एम. एच. ब्रुक ने एक विधवा को जलाने की अनुमति देने से इन्कार करते हुए गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस को लिखा था—“हिंदू धर्म के रीति-रिवाजों और अंधविश्वासों को गुण-दोषों के आधार पर सहिष्णुतापूर्वक स्वीकृत किया जाना चाहिए लेकिन मैं ऐसी प्रथा के पालन की अनुमति विशेष निर्देशों के बगैर नहीं दे सकता जिससे कि इंसान की रूह तक कांप जाती हो। इसलिए मान्यवर मैं अनुरोध करता हूँ कि मुझे बताया जाए कि मैंने इस मामले में जो कुछ किया है आप उससे संतुष्ट हैं?” सरकार ने उस क्लैक्टर को निर्देश भेजा कि इस प्रथा को रोकने में सरकारी अधिकारों का इस्तेमाल न किया जाए बल्कि लोगों को समझाने का प्रयत्न किया जाए। कई वर्षों तक अन्य जिला मजिस्ट्रेटों से भी ऐसे ही अनुरोध आते रहे। अंत में लार्ड वेल्लजली को इस ओर ध्यान देना पड़ा और 1805 ई. में उन्होंने निजामत अदालत के जजों से कहा कि वे यह पता लगाएं कि हिंदू धर्म के साथ सती प्रथा का संबंध किस हद तक है। जजों ने हिंदू पंडितों से परामर्श किया और रिपोर्ट दी कि चार उच्च वर्णों की लड़कियाँ, कुछ निश्चित परिस्थितियों को छोड़, अपने आपको जिंदा जला सकती हैं। इन जजों ने सलाह दी कि, “धार्मिक भावनाओं को गहरी ठेस पहुंचाए बिना आम तौर से इस प्रथा को समाप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन कुछ ऐसे जिलों में तुरंत खत्म किया जा सकता है, जहाँ यह प्रथा अब लगभग समाप्त हो चुकी है और अन्य स्थानों पर इसे पंडितों द्वारा दिए गए जवाब के आधार पर रोका जा सकता है।” परन्तु वेल्लजली ने कुछ भी नहीं किया। बाद में आने वाले गवर्नर जनरल भी खामोश ही बैठे रहे।



उदाहरण सन् 1812 ई. में लार्ड मिंटो की सरकार ने घोषणा की कि सती प्रथा, ‘ऐसे मामलों में चलती रहने दी जानी चाहिए जहाँ इसके लिए धर्म की अनुमति है और जहाँ इस प्रकार अनुमति नहीं है वहाँ इसे रोका जाना चाहिए।’ इस तरह के आदेश बड़े अस्पष्ट से थे और इसलिए कारगर नहीं हुए।

1812, 1815 और 1817 ई. में बिना सोचे-समझे सती प्रथा का पालन करने के विरुद्ध कुछ अधिसूचनाएं और आदेश जारी किए गए। इनका उद्देश्य किसी भी स्त्री को सती होने के लिए मजबूर करने से रोकना था, और गर्भवती स्त्रियाँ या किशोरावस्था से कम उम्र की लड़कियों या ऐसी माताओं को जिनके दूध पीते बच्चे थे सती किए जाने से रोकना था। इस तरह के आदेश चाहे कितने भी प्रशंसनीय हों लेकिन जब तक उनके पीछे कानून की शक्ति नहीं थी तब तक वे सफल नहीं हुए।

नोट

कुछ उत्साही अधिकारी और जज थे जो 'सती प्रथा को पूर्ण रूप से तुरंत समाप्त कर दिए जाने' के हक में थे। लेकिन 1821 ई. में गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्स का विचार था कि जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा भारतीय स्वयं इस प्रथा को त्याग देंगे। उन्होंने केवल प्रतीक्षा करने का निर्णय लिया। एक और गवर्नर जनरल एमहर्स्टन का विचार था कि इस मामले में कोई सरकारी कार्रवाई करने से बंगाल की सेना में असंतोष फैल सकता है। उन्होंने भी इस मामले को स्वयं भारतीयों पर ही छोड़ दिया और 1828 ई. में लिखा, "मैं विश्वास नहीं कर सकता कि लाभकारी और तर्कसंगत शिक्षा से हर साल जो मानसिक विकास हो रहा है उसके होते हुए विधवाओं को जिंदा जला देना या गाड़ देना चलता रहेगा।"

जहाँ सर्वोच्च अधिकारियों में इस प्रकार की हिचकिचाहट चल रही थी वहाँ सुधारकों ने सती प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार करना शुरू कर दिया। स्वयं राममोहन राय ने 1812 ई. में अपने भाई की विधवा को जीवित जलते हुए देखा था। 1818 ई. से उन्होंने उन रूढ़िवादी नेताओं के खिलाफ आवाज उठाई जो सरकारी आदेशों की आलोचना करते थे। उन्होंने अधिकारियों से कहा कि ऐसे भी अवसर आए हैं जब स्त्रियों को समझा-बुझाकर अपने आप को जला देने के लिए प्रेरित किया गया और उन्हें जलती चिता पर बिठा दिया गया तथा रस्सों से बांधकर बांस के डंडों से दबाए रखा गया जब तक कि वे आग में भस्म नहीं हो गईं और कुछ स्त्रियाँ जो जलती हुई चिता से उठकर भाग गई थीं उन्हें उनके रिश्तेदार पकड़ कर वापस लाए और जला दिया। राममोहन राय का विचार था कि इस तरह की सब घटनाएं, 'किसी भी शास्त्र के अनुसार और सभी राष्ट्रों के साधारण विचारों के अनुसार हत्याएं थीं।' उन्होंने इशतहार छपवाए, अपनी पत्रिका 'संवाद कौमुदी' में लेख प्रकाशित किए और सरकार से भावपूर्ण अपीलें की कि इस प्रथा को समाप्त किया जाए। कुछ धर्मांध व्यक्तियों की ओर से उनके जीवन को काफी खतरा भी था लेकिन उन्होंने इस अभियान के लिए अद्वितीय साहस दिखाया।

इस प्रकार सन् 1828 ई. के मध्य में जब लार्ड विलियम बैंटिक गवर्नर-जनरल बनकर आए तो कानून द्वारा सती प्रथा को समाप्त करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार थी। बैंटिक अपने देश में सुधार युग के सच्चे प्रतिनिधि थे और उनका यहाँ आना एक शुभ संयोग था। इसके अलावा वे स्वयं बड़े दयालु और मानवतावादी थे और भारतीय जनता के मित्र तथा सुधारों को लागू करने वाले दृढ़ साहसी प्रशासक थे।

बैंटिक ने बड़े सोच-समझकर कदम उठाए। उन्होंने सेना के अधिकारियों, जजों और अन्य प्रशासनिक अधिकारियों से गुप्त रूप से मत लिया और संतुष्ट हो गए कि सती प्रथा समाप्त कर देने से न तो सेना में कोई असंतोष फैलेगा और न ही देश में कोई दंगे-फसाद होंगे। उन्होंने अपने इरादे के बारे में राममोहन राय से भी विचार-विमर्श किया। यह बड़ी हैरानी की बात है कि बैंटिक का साहस देखकर स्वयं राममोहन राय भी चौंक गए और उन्होंने गवर्नर जनरल को सलाह दी, 'इस प्रथा को, पुलिस के माध्यम से बहुत-सी कठिनाइयाँ खड़ी करके चुपचाप दबाया जा सकता है।' उनका कहना था कि तुरंत कोई सीधी कार्रवाई करके सरकार यदि इसे खत्म कराती है तो जनता द्वारा आंदोलन कर दिए जाने की आशंका है।



सावधानी

राममोहन राय ने सतर्कता बरतने की सलाह इसलिए दी थी क्योंकि एक भारतीय के नाते उन्हें यह पसंद नहीं था कि सरकार किसी सामाजिक मामले को लेकर उनके देशवासियों पर दबाव डाले।

सुप्रसिद्ध प्राच्यविद होरेस हेमान विल्सन ने भी सती प्रथा समाप्त करने के लिए सरकार द्वारा कानून बनाने के विरुद्ध सलाह दी। लेकिन बैंटिक दृढ़ निश्चय कर चुके थे। 8 नवंबर 1829 ई. को उन्होंने सती प्रथा की समाप्ति के लिए अपना प्रस्ताव परिषद् में पेश किया। परिषद् ने यह कहते हुए अपनी अनुमति दी कि, "हम निश्चित रूप से इसके पक्ष में हैं कि खुले तौर पर दृढ़ता के साथ आम निषेध लागू कर दिया जाए और इसका आधार, एक्ट की अच्छी भावना और उसे लागू कराने की हमारी शक्ति होनी चाहिए।" इस तरह 4 दिसंबर 1829 ई. को सरकार के नियम 17 (रेगुलेशन 17) के अंतर्गत सती प्रथा को 'गैर-कानूनी और अपराध अदालतों द्वारा सजा योग्य' घोषित कर दिया गया। घोषणा में कहा गया, "सती प्रथा या हिंदू विधवाओं को जिंदा जला दिया जाना अथवा गाड़ दिया जाना, मानव

नोट

प्रकृति की भावनाओं के लिए बड़ा घृणास्पद है; हिंदुओं के धर्म में कहीं भी इसे अनिवार्य कर्तव्य नहीं बताया गया है; इसके विपरीत विधवाओं के लिए पवित्र जीवन बिताना और गृहस्थी से अलग रह कर शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना विशेष रूप से वांछनीय माना गया है और समूचे भारत की अधिकांश जनता इस प्रथा को नहीं मानती। कुछ इलाकों में तो यह प्रथा है ही नहीं; जहाँ यह प्रथा ज्यादा रही है वहाँ, यह बड़ी शर्मनाक बात है कि, कई अवसरों पर भयंकर अत्याचार किए गए, जिनसे स्वयं हिंदुओं की आत्मा कांप उठी और उनकी नजरों में यह प्रथा गैर-कानूनी तथा एक पाप है।” अदालतों को अधिकार दिया गया कि वे इस अपराध का दोषी पाए जाने वाले व्यक्ति को मौत की सजा दे सकती हैं।

हिंदू रूढ़ियों के समर्थकों ने इस नियम के विरुद्ध गवर्नर जनरल को याचिका दी और कहा कि इस प्रथा की अनुमति धार्मिक नियमों में दी गई है। बैटिक इन लोगों के नेताओं, जैसे राजा राधाकांत देव, महाराजा कालिकृष्ण बहादुर, भवानी चरण बंद्योपाध्याय तथा अन्य व्यक्तियों से मिले और उनसे कहा कि “हिंदू धर्म का कोई अतिक्रमण नहीं किया गया है और ऐसा इरादा भी नहीं है। यदि वे हिंदू या ब्रिटिश कानूनों की उनकी व्याख्या से सहमत नहीं हैं तो वे सम्राट और उसकी परिषद् से अपील कर सकते हैं।” रूढ़िवादियों के प्रयत्न के विरुद्ध राममोहन राय और अन्य प्रगतिशील व्यक्तियों ने एक याचिका पेश की जिसमें बैटिक को उनके इस कदम पर बधाई दी गई थी। रूढ़िवादी दल ने सम्राट और उनकी परिषद् को अपनी याचिका भेजी। राममोहन राय ने भी इसके विरुद्ध याचिका तैयार की और इसे ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत करने के लिए स्वयं इंग्लैंड गए। अंत में जुलाई 1832 ई. में प्रिवी कौंसिल ने सती प्रथा की समाप्ति के विरुद्ध अपील अस्वीकार कर दी। इस प्रकार रूढ़िवादियों का आंदोलन भी समाप्त हो गया।

सती प्रथा की समाप्ति से कुछ कम महत्त्व का एक और सामाजिक कानून विधवा विवाह के बारे में था। इसके पक्ष में धीरे-धीरे मत तैयार हुआ, हालांकि इसके प्रति कोई बहुत व्यापक रुचि नहीं नजर आई। सती प्रथा की समाप्ति से परोक्ष रूप में एक और समस्या सामने आई, जो उन युवा विधवाओं के भाग्य और भविष्य से संबद्ध थी जिन्हें मौत से तो बचा लिया गया था लेकिन जिनकी हालत बहुत दयनीय थी। 1930 और 1940 ई. के दशकों में कुछ पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी विधवा विवाह के समर्थन में विचार व्यक्त किए जाते रहे। नाडिया के महाराजा श्रीचंद जैसे कुछ व्यक्तियों ने तो वास्तव में विधवा विवाह शुरू कराने का प्रयत्न किया लेकिन सफल नहीं हुए। रूढ़िवादी पंडित यदि बहुत उदारता भी बरतते थे तो वे केवल शूद्र विधवाओं को ही दोबारा विवाह करने की बात मानने को तैयार हुए लेकिन उच्च वर्णों वाले हिंदुओं को कभी इसकी अनुमति नहीं दे सकते थे।

19वीं शताब्दी के मध्य में ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा विवाह के लिए अभियान चलाया। वे प्रकांड विद्वान थे, जिसके कारण बंगाली अभिजात वर्ग के नेता बन गए। उनका मत था कि हिंदू शास्त्रों में विधवा विवाह पर कोई प्रतिबंध नहीं है बल्कि उनमें तो इसकी अनुमति दी गई है। अन्य प्रबुद्ध हिंदुओं का समर्थन पाकर और सरकार का समर्थन मिलने की आशा में विद्यासागर ने अंततः इसके लिए सांविधानिक मांग की। 1854 ई. में विधवा विवाह के बारे में एक पुस्तिका में उन्होंने इसकी आवश्यकता को स्पष्ट किया। रूढ़िवादी हिंदुओं ने इस प्रस्ताव के विरुद्ध अभियान शुरू किया। विद्यासागर ने आलोचनाओं का जवाब प्रकाशित किया। 1856 ई. में एक अंग्रेजी पुस्तक ‘हिंदू विधवाओं का विवाह’ (मैरेज आफ हिंदू विडोज) में उन्होंने अपने विचार रखे।

लेकिन इन सब दलीलों का तब तक कोई अर्थ नहीं था जब तक कि कानून इन विधवाओं के विवाह और बाद में उनके कानूनी दर्जे के लिए उनकी सहायता को नहीं आता। इसलिए विद्यासागर ने लगभग 1000 प्रमुख व्यक्तियों की ओर से सरकार को एक याचिका दी। बर्दवान के महाराज मेहताब चंद और नाडिया के महाराजा श्रीचंद जैसे कुछ विशिष्ट जमींदारों ने भी इस उपाय के समर्थन में याचिकाएं पेश कीं। अंत में सरकार को विश्वास हो गया कि यदि विधवा विवाह को कानूनसम्मत करार दे दिया जाता है तो रूढ़िवादियों की ओर से कोई बहुत बड़ा आंदोलन नहीं होगा। इसी के अनुसार 26 जुलाई 1856 को एक्ट नंबर 15 पास किया गया, जिसके अंतर्गत विधवा विवाह को कानूनसम्मत बना दिया गया और विवाहित विधवाओं के बच्चों को भी वैध बच्चों का दर्जा मिल गया। एक्ट में घोषणा की गई, “हिंदुओं के बीच कोई विवाह अवैध नहीं होगा और हिंदुओं के बीच इस तरह के विवाह-सूत्र से बंधने वाले स्त्री और पुरुष का बच्चा अवैध नहीं होगा और जिस स्त्री का पहले विवाह अथवा सगाई किसी और

नोट

व्यक्ति के साथ हो चुकी है और वह व्यक्ति दूसरे विवाह के समय जीवित नहीं है तो इस दूसरे विवाह से पैदा होने वाला बच्चा अवैध नहीं माना जाएगा फिर चाहे हिंदू कानून की कोई प्रथा तथा व्याख्या इसके विपरीत ही क्यों न हो।”

इस एक्ट से रूढ़िवादी हिंदू इस हद तक भड़के कि 30 हजार व्यक्तियों ने इसके विरुद्ध याचिका पर हस्ताक्षर किए और इसे सरकार को दिया, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। दुख केवल इस बात का है कि कुछ एक मौके छोड़कर इस सामाजिक कानून को वास्तव में व्यापक रूप से कार्यान्वित नहीं किया गया। कट्टरपंथी हिंदू, विधवाओं के विवाह को प्रोत्साहन नहीं देते थे और कानून बनने की एक शताब्दी की अवधि के बाद भी पुरानी भावनाओं और विधवाओं के प्रति उपेक्षा का रवैया जारी रहा।

विधवा-विवाह-कानून के बाद बंगाल के सुधारक, बहुविवाह प्रथा को भी कानून की मदद से खत्म करने के इच्छुक हो गए। काफी समय से वे कुलीनवाद जैसी बुराई के विरुद्ध उत्साह और दृढ़ता के साथ जनमत तैयार करते रहे थे। इस प्रयत्न के पीछे भी विद्यासागर ही थे। जून-जुलाई 1856 ई. में बहुविवाह को समाप्त करने के लिए कोई 50,000 स्त्री-पुरुषों के हस्ताक्षरों के साथ याचिकाएँ सरकार को दी गईं। इनमें अनुरोध किया गया कि नैतिकता और शराफत के दृष्टिकोण से अत्यंत ‘घृणाजनक बहुविवाह प्रथा बड़े पैमाने पर चल रही है जिसे समाप्त करने के लिए विधानपालिका तुरंत हस्तक्षेप करे।’ कुछ लोग बाल-विवाह से उपजने वाली बुराइयों के प्रति भी उतने ही जागरूक थे। यदि सरकार ने कानूनी तौर पर बहुविवाह और कुलीनवाद को खत्म कर दिया होता तो प्रगतिशील दल का अगला प्रयत्न बालविवाहों के विरुद्ध कानूनी प्रतिबंध लगाने की अपील करना होता।

लेकिन अचानक ही भारत में अंग्रेजों की सामाजिक नीति में एक परिवर्तन आया। 1857 ई. की क्रांति की लहर सारे भारत में फैल गई थी और भारत में इस असंतोष के संभावित कारणों के बारे में इंग्लैंड में लंबी-लंबी बहसें हो रही थीं। एक कारण, चाहे गलत हो या सही, यह माना गया कि अंग्रेजों ने भारतीय जनता की सामाजिक-धार्मिक परंपराओं में हस्तक्षेप किया है। भारतीय साम्राज्य बड़ी मुश्किल से बचाया जा सका और अंग्रेजों ने इसे भारत पर पुनर्विजय माना। लेकिन इस विजय के साथ ही ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त हो गया और ब्रिटिश सम्राट का शासन शुरू हुआ। नए प्रशासन का यह फैसला गलत था कि भारतीय जनता के सामाजिक मामलों में दखल न दिया जाए। इस प्रकार बहुविवाह और बालविवाह जैसी कुप्रथाओं को ज्यों का त्यों रहने दिया गया। इस तरह से ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार अपनी सामाजिक-धार्मिक नीतियों में अपने बाद की ब्रिटिश सम्राट की सरकार से कहीं अधिक प्रगतिशील थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. पहला प्रमुख सामाजिक 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में बना।
2. ने 1812 ई. में अपने भाई की विधवा को जिंदा जलाते हुए देखा।
3. नवम्बर 1829 को बैटिक की समाप्ति के लिए अपना प्रस्ताव परिषद् में पेश किया।
4. 19वीं सदी के मध्य में ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने के लिए अभियान चलाया।

13.2 नर-बलि और बालिका-वध के विरुद्ध उपाय

(Law against Homicide and Killing of Female Infant)

सत्ता हस्तांतरण से पहले ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार को दो और अच्छे काम करने का श्रेय है। एक तो उड़ीसा-मद्रास पहाड़ी क्षेत्र के खोंड लोगों में नर-बलि को रोकना और दूसरा उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में राजपूतों और बेदियों के बीच बालिका-वध को खत्म करना।

नोट

उड़ीसा के पहाड़ी क्षेत्रों, मद्रास और उस समय के मध्य प्रांतों में अंग्रेज अधिकारियों ने 1836 ई. में नर-बलि की प्रथा का पता लगाया। उस साल धूमूसर के हिंदू राजा ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया और उसके विरुद्ध सैनिक कार्रवाइयों के दौरान अंग्रेज सैनिकों को पहली बार खोंड कबीले और उनके प्रदेश का पता चला। “तब मालूम हुआ कि ये लोग अनादिकाल से हर साल मानव बलि चढ़ाते थे और बलि के लिए व्यक्ति मैदानी इलाकों से खरीदे या चुराए जाते थे और उन्हें खोंडों के हाथ बेच दिया जाता था। यह काम वे लोग करते थे जिन्होंने इसको धंधा बना रखा था।” जी. ई. रसल की रिपोर्ट पर मद्रास सरकार ने इस प्रथा के खिलाफ कदम उठाने का फैसला किया, लेकिन यह काम बहुत मुश्किल था। यह महसूस किया गया कि इस प्रथा को बुरा बताते हुए इसकी सजा की व्यवस्था करने वाला कोई भी कानून असफल सिद्ध होगा। मरिया अर्थात् बलि के लिए लाए गए व्यक्तियों को बचाने जैसे आंशिक उपाय सुझाए गए। 1841 ई. में मद्रास के गवर्नर लार्ड एलफिंस्टन ने केंद्र सरकार को सुझाव दिया कि वह मरिया यानी बलि के लोगों को बचाने के लिए कोई संस्था बनाए। 1845 ई. में इस सुझाव को कार्यरूप देने की अनुमति दे दी गई।

1848 ई. से लार्ड डलहौजी ने इस विषय पर गंभीरतापूर्वक ध्यान देना शुरू किया। सैनिक कार्रवाइयों के दौरान बहुत बड़ी संख्या में मरिया पुरुष, स्त्री और बच्चों को एक युवा अफसर कैम्पबेल ने बचाए। मार्च 1849 ई. में उन्होंने रिपोर्ट दी कि उस साल बचाए गए मरिया व्यक्तियों की कुल संख्या 307 थी और पिछली दो बारियों को मिलाकर यह संख्या 547 थी। उस साल खोंड प्रदेश में ऐसे-ऐसे क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया, जहाँ पहले कभी किसी अंग्रेज ने पैर नहीं रखा था। 1853 ई. तक नर बलि से बचाकर लाए गए व्यक्तियों की कुल संख्या 1,260 हो गई। इनमें से 200 बच्चों को शिक्षा के लिए मिशनरी स्कूल में भेजा गया।

1854 ई. तक मरिया प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी थी। इससे पहले खोंडों को यह आभास ही नहीं था कि वे कितना बड़ा अपराध कर रहे हैं। उन्हें विश्वास था कि इस प्रथा की अनुमति देवता ने दे रखी है। न सिर्फ इतना ही बल्कि वे बड़े मजबूत गढ़ों में रहते थे जिन पर हमला करना किसी तरह भी संभव नहीं था। जो लोग कानून के दायरे से बाहर थे उनके लिए कानून बनाना बेकार था। धमकियां देना भी व्यर्थ था क्योंकि कोई अभियान चलाकर उन धमकियों को कार्यरूप नहीं दिया जा सकता था। घूस देने का भी कोई फायदा नहीं था, जबकि लोगों को यह विश्वास था कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह अपराध नहीं बल्कि उनका सबसे बड़ा सांसारिक लाभ है। कैम्पबेल ने ऐसे लोगों के बीच काम किया और जब उनका कार्य समाप्त हुआ, “तो सारे का सारा कबीला उस अपराध को खत्म करने के लिए राजी किया जा चुका था, जिसे पुरातन प्रथाओं और अंधविश्वासों का बल मिला हुआ था।” अब खोंडों ने मानव बलि की बजाय सभी जगह पशु बलि देनी शुरू की। कुछ समय तक सरकार ने सारे प्रदेश पर कड़ी नजर रखी।

इतने कम समय में एक आदिवासी प्रथा को छोड़ने के लिए कबाइलियों को राजी करने का श्रेय ब्रिटिश अधिकारियों को है। 1856 ई. में डलहौजी ने घोषणा की कि मरिया बलि प्रथा समाप्त हो चुकी है।

उत्तर-पश्चिम प्रांतों और पंजाब में शिशु बच्चियों को मार डालने की प्रथा की समाप्ति भी डलहौजी के ही शासनकाल में हुई। 19वीं शताब्दी के मध्य में इस प्रथा के विरुद्ध अभियान शुरू करने का श्रेय मैनपुरी के मजिस्ट्रेट चार्ल्स रेक्स को है। उन्हीं के पदचिन्हों पर पंजाब भी चला। मैनपुरी में रेक्स ने कुछ आदेश और नियम जारी किए। नन्हों-मुन्नी बलिकाओं का वध करने वाले चौहान राजपूतों और पाठक अहीरों के गांवों में कुछ लोगों को नजर रखने के लिए कहा गया और उनका काम था कि जहाँ भी कोई लड़की पैदा हो, उसकी खबर पुलिस स्टेशन पर दें। एक महीने के बाद लड़की के स्वास्थ्य के बारे में रिपोर्ट दी जानी थी और यदि उसे कोई बीमारी हुई है या उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा है तो एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी को तुरंत उसे देखने के लिए भेजा जाता था और मजिस्ट्रेट को रिपोर्ट देना उस अधिकारी का काम था। जहाँ संदेह की बात नजर आए वहाँ बच्चे का शव सिविल सर्जन को सौंप देना होता था।

नोट



नोट्स यह बात ध्यान देने योग्य है कि नवजात बालिकाओं को मारने का एक तरीका यह था कि उनके स्वास्थ्य की जानबूझकर अनदेखी की जाए और इस लापरवाही के परिणामस्वरूप यदि उसकी मृत्यु हो जाती है तो यही कहा जाता था कि उसकी मृत्यु प्राकृतिक थी।

इंग्लैंड में कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने रेक्स के कार्यों की प्रशंसा की और भारत सरकार को निर्देश दिया कि वह इस विषय पर, 'अत्यंत गंभीरतापूर्वक ध्यान दे।' लेकिन उत्तर-पश्चिम प्रांतों के लैफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स टोमासन, पुलिस, या नजर रखने वाले व्यक्तियों की प्रणाली के पक्ष में नहीं थे। उनका विचार था, "इस अपराध वृत्ति को दबाने अथवा खत्म करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं को सही करने की कोशिश की जाए, क्योंकि इन्हीं से बालिका-वध की यह प्रथा जन्म लेती है।"

राजपूतों के बालिका-वध का एक प्रमुख कारण था विवाहों पर भारी खर्च। सरकार ने इस समस्या को उखाड़ फेंकने का फैसला किया। इसी के अनुसार आगरा डिवीजन के कमिशनर डब्ल्यू. एच. टाइलर ने दिसंबर 1851 ई. में इटावा, फर्रुखाबाद, आगरा, पटियाला, बदायूं और मैनपुरी के राजपूत सरदारों की एक बैठक बुलाई। विवाह खर्च कम करने पर सहमति हुई और इस समझौते पर कोई 360 राजपूत सरदारों और ग्राम प्रमुखों ने हस्ताक्षर किए। प्रत्येक सरदार ने यह वचन दिया कि वह इस अच्छे कार्य में सरकार की मदद करेगा।

पंजाब में ब्रिटिश अधिकारियों को 1846 ई. में सतलुज पार के क्षेत्रों पर कब्जा करने के बाद पता चला कि पंजाब में ऐसे सैकड़ों परिवार हैं जिनमें कई पीढ़ियों से किसी भी शिशु बालिका को जीवित नहीं रहने दिया गया और ऐसे हजारों परिवार हैं जिनमें शिशु बालिकाओं को मार डालने की प्रथा एक सामाजिक प्रथा है।



क्या आप जानते हैं? पंजाब के बेदी तो, 'कुड़ीमार' या लड़कियों को मार डालने वाले, के रूप में प्रसिद्ध थे।

इस प्रथा को समाप्त कराने के सवाल पर गंभीरतापूर्वक विचार, केवल पंजाब पर पूरी तरह कब्जा हो जाने के बाद ही शुरू हुआ। 1852 ई. में चार्ल्स रेक्स को बदली करके लाहौर का कमिशनर नियुक्त किया गया और तब इस मामले पर नए सिरे से ध्यान दिया गया। चीफ कमिशनर जान लारेन्स ने बड़ी नरम नीति का सुझाव दिया। लेकिन लार्ड डलहौजी दृढ़ नीति अपनाने के पक्ष में थे। अगस्त 1853 ई. में उन्होंने एक टिप्पणी जारी की, बालिका वध के लिए दो कारण बताए गए हैं; एक धार्मिक है और दूसरा आर्थिक। पहले कारण का आधार जातपात का विचित्र नियम है और दूसरे का आधार विवाह-शादियों पर आमतौर पर होने वाला बहुत अधिक खर्च है। सरकार यह घोषणा करके कि "बालिकाओं को खत्म करना एक हत्या है चाहे इसके लिए कोई भी कारण क्यों न हो और जिसे भी इस अपराध का दोषी सिद्ध कर दिया जाएगा उसे वही सजा मिलेगी, जो एक खूनी को मिलनी चाहिए, इन दोनों ही कारणों पर सरकार अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकती है।"

पंजाब के अधिकारियों ने 1853 ई. के अक्टूबर महीने के अंतिम तीन दिनों में अमृतसर में एक बहुत बड़ी सभा का प्रबंध किया। कहा जाता है कि भारत में इससे पहले शायद कभी भी इतनी बड़ी संख्या में नागरिक, प्रशासन-अधिकारी, और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि जमा नहीं हुए थे। इस सभा में भूतपूर्व सिक्ख दरबार के सदस्य, सिक्खों के सभी प्रतिष्ठित परिवारों के प्रतिनिधि, कांगड़ा, पहाड़ियों के कबीलों के सरदार, डेरा नानक के वेदी, अमृतसर के 200 मील के अंदर-अंदर हर बड़े नगर के प्रमुख व्यापारी और प्रत्येक जिले के किसानों तथा व्यापारियों के प्रतिनिधि भी उपस्थित थे। किसी ने भी, 'बालिका वध समाप्त करने के प्रस्ताव का विरोध नहीं किया और न ही उस पर कोई निराशा अथवा नाराजगी प्रकट की।' सभा की शुरुआत गवर्नर जनरल के इस दृढ़ निश्चय की घोषणा के साथ हुई कि अब जिस किसी को भी बालिका वध का दोषी पाया जाएगा उसे वही सजा मिलेगी जो एक हत्यारे के लिए होती है। सभा की समाप्ति एक इकरारनामे या समझौते से हुई, जिस पर सबने अपने-अपने हस्ताक्षर किए। इसमें कहा गया था कि, "बालिका-वध का अपराध, जिससे स्वयं भगवान भी नफरत करता है और जिसे सरकार तथा सभी धार्मिक वृत्तियों वाले अच्छे लोग, अत्यंत घृणास्पद मानते हैं, उस अपराध के दोषी किसी भी व्यक्ति को जो हमारे

नोट

कबीले का होगा और हमारे इलाके या गांव में ऐसा कार्य करेगा उसे हम तुरंत पकड़वा देंगे और इस घटना की जानकारी अधिकारियों को देंगे और जो भी व्यक्ति हमारे उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रयत्नों में मदद करने से इनकार करेगा या हिचकिचाएगा उसे जात से बाहर कर देंगे।”

अमृतसर की इस विशाल सभा ने बालिका वध की प्रथा पर घातक प्रहार किया। स्वयं लोगों में भी एक मूक परिवर्तन आ रहा था जिसने सरकार का काम आसान कर दिया। डलहौजी के मतानुसार अमृतसर की सभा ‘जमुना पार के क्षेत्रों के लोगों में नए सामाजिक युग का शुभारंभ थी।’ कुछ ही वर्षों में सती की तरह यह प्रथा भी खत्म हो गई और एक ऐसी बात बन गई कि जिसे ‘याद करके केवल आश्चर्य ही हो सकता था।’



टास्क विधवा-विवाह के पक्ष में अपने विचार व्यक्त करें।

13.3 20वीं शताब्दी में मुख्य सामाजिक कानून (Major Social Law in 20th Century)

20वीं शताब्दी में सामाजिक परिवर्तन संबंधी नीतियाँ अंग्रेजों द्वारा रुचि लेने का परिणाम नहीं बल्कि भारतीय जनमत का नतीजा थीं। पश्चिमी शिक्षा की प्रगति और राजनीतिक चेतना बढ़ती जाने से देश में एक नया वातावरण पैदा हो गया था जिसका असर विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समस्याओं पर पड़ा। इन मामलों को समुचित महत्त्व देने के काम में समाचार पत्रों ने भी लाभकारी योग दिया। जिन विधानमंडलों में भारतीय निर्वाचित होकर पहुँचे वे जन आवश्यकताओं पर विचार के मंच बन गए और अंत में स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही सामाजिक समस्याओं को पूरी तरह नए दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। इस शताब्दी के दौरान ऐसी घटनाओं के संदर्भ में, कई सामाजिक कानून बनाए गए। अपने-अपने प्रदेश की आवश्यकताओं के अनुसार प्रांतीय या राज्य विधानमंडलों ने कई एक्ट पास किए। केंद्रीय विधानपालिका द्वारा बनाए गए कुछ कानून सारे देश के लिए थे। कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सामाजिक कानूनों के बारे में जिनका सारे भारत पर प्रभाव पड़ा नीचे संक्षिप्त उल्लेख है।

1929 ई. के बाल विवाह प्रतिबंध कानून 19 (चाइल्ड मैरेज रिस्ट्रेंट एक्ट 19) जैसे सामाजिक उपाय का बड़ी देर से इंतजार हो रहा था और इसके पक्ष में कई वर्षों से जनमत बन रहा था।



नोट्स यह कानून पहली अप्रैल 1930 ई. में लागू हुआ। “कोई भी विवाह जिसमें कोई बच्चा हो, यानी 18 साल से कम उम्र का लड़का या 15 वर्ष से कम आयु की लड़की हो, नहीं हो सकता।”

इसका उद्देश्य बच्चों की शादियों पर अंकुश लगाना था। कानून में व्यवस्था थी कि जो भी व्यक्ति कोई बाल विवाह कराएगा या उसका संचालन करेगा या किसी प्रकार से इस काम में मदद करेगा उसे तीन महीने तक का कारावास और जुर्माने की सजा होगी। बच्चों के जो माता-पिता इस तरह का विवाह कराएंगे या उसे रोकने में असफल होंगे उन्हें तीन महीने की जेल और जुर्माना हो सकता है। एक्ट में कहा गया था कि जब भी कोई बाल विवाह हो तो शिकायत दर्ज की जानी चाहिए। लेकिन वास्तव में इस तरह की शिकायतें कभी-कभार ही दर्ज होती थीं हालाँकि बाल विवाह कई हुए। जैसाकि स्वाभाविक था, पड़ोसी या गांव वाले बाल विवाह होने पर मामले को अदालत में नहीं ले जाना चाहते थे। लेकिन यह कानून इस प्रथा पर काफी अंकुश था और आगामी दशकों के दौरान बाल विवाह की प्रथा बहुत हद तक छोड़ दी गई। फिर भी आर्थिक कारणों से यह प्रथा गरीब लोगों में अब भी है।

1937 ई. के हिंदू महिला संपत्ति अधिकार कानून 18 (हिंदू विमेन्स राइट टू प्रापर्टी एक्ट 18) में स्त्रियों को कुछ निश्चित परिस्थितियों में आर्थिक दर्जा प्रदान कराने का प्रयत्न था। इस एक्ट की धाराओं के अंतर्गत जिन स्थानों पर उत्तराधिकार की दाय भाग प्रणाली है वहाँ वसीयतनामा किए बिना मरने वाले व्यक्ति की विधवा को संपत्ति के उतने ही हिस्से पर अधिकार होगा जितना कि उसके पुत्र के हिस्से का है। यदि किसी हिंदू संयुक्त परिवार के सदस्य की

नोट

मृत्यु हो जाती है और उसका कोई हिस्सा संयुक्त संपत्ति में है तो वह हिस्सा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करने का, अब उसकी विधवा को भी अधिकार होगा।

भारत की स्वाधीनता के साथ ही सदियों से चली आ रही भयंकर सामाजिक बुराई अस्पृश्यता (छुआछूत) को तुरंत समाप्त करने के लिए कदम उठाए गए। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 17 में घोषणा की गई है कि अस्पृश्यता खत्म की जाती है और किसी भी रूप में इसके पालन की मनाही की जाती है। अस्पृश्यता के आधार पर किसी को अयोग्य मान लेना कानून के अंतर्गत दंडनीय अपराध होगा। भारत के संविधान के अनुच्छेद 15 (2) में व्यवस्था है कि धर्म, जाति, जातपात, जन्म स्थान के आधार पर किसी भी स्त्री या पुरुष नागरिक को, किसी भी अयोग्यता, देनदारी, प्रतिबंध या शर्तों का शिकार नहीं बनाया जाएगा। इसके अंतर्गत कोई भी नागरिक बिना भेदभाव के, (क) दुकानों, सार्वजनिक जलपानगृहों, होटलों और जनमनोरंजन के स्थलों पर जा सकता है; (ख) पूरी तरह या आंशिक रूप से सरकारी राशि से बनाए गए तथा चलाए जा रहे या जनहित में समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सार्वजनिक सड़कों और स्थानों का उपयोग कर सकता है। इस प्रकार हिंदू समाज को सांविधानिक उपायों से प्रगतिशील दिशाओं की ओर मोड़ने का यह पहला बड़ा कदम था। 1950 ई. के जातीय अयोग्यता उन्मूलन कानून 21 (कास्ट डिसेम्बिलिटी रिमूवल एक्ट 21) में व्यवस्था है कि जाति से बाहर कर दिए जाने पर किसी भी व्यक्ति की संपत्ति छीनी नहीं जा सकती या उसे उत्तराधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता और कोई भी अदालत इस तरह के संपत्ति अधिग्रहण का आदेश देने वाली प्रथा को लागू नहीं करेगी। 1955 ई. का अस्पृश्यता अपराध कानून 22 (अनटचेबिलिटी ऑफेंसिस एक्ट 22) इसलिए पास किया गया था कि अस्पृश्यता समाप्त करने संबंधी संवैधानिक व्यवस्था को केवल सैद्धांतिक रूप में न रखकर सामाजिक वास्तविकता के धरातल पर लाया जाए। समाज में अनुसूचित जातियों को कई अयोग्यताओं का शिकार होना पड़ा था। कानून ने घोषणा की कि इस तरह की कोई भी अयोग्यता, गैर कानूनी होगी। इसके अलावा जो संस्थाएँ आमतौर पर हिंदूओं के लिए खुली थीं अब वे अनुसूचित जातियों के सदस्यों के लिए भी खोल दी गईं। अनुच्छेद 17 के अधीन अधिकारों के प्रयोग में बाधा डालने का प्रयत्न अपराध समझा गया। हिंदू समाज में समानता के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट छोटी जाति के लोगों पर, मंदिरों में प्रवेश पर लगे प्रतिबंध थे। इस कानून ने हिंदू धर्म के हर व्यक्ति को सार्वजनिक आराधना स्थल में जाने की स्वतंत्रता प्रदान कर दी। अंत में, अस्पृश्यता को बढ़ावा देना एक अपराध घोषित कर दिया गया जिसके लिए कारावास या जुर्माने अथवा दोनों की सजा दी जा सकती थी।

सामाजिक कानूनों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि आम तौर पर समाज से किस प्रकार का सहयोग मिल रहा है। यह सहयोग किस हद तक मिलेगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि लोगों का मानसिक और शैक्षणिक विकास कितना हुआ है। 20वीं शताब्दी के बाद के वर्षों में सामाजिक उदारता में काफी तेजी हुई है, लेकिन आंतरिक रूप से सामाजिक चेतना इतनी बढ़ गई है कि अब ये प्रणालियाँ और प्रथाएँ बेकार हो चुकी हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. की क्रांति की लहर सारे भारत में फैल गई थी।
 (क) 1855 ई. (ख) 1857 ई.
 (ग) 1860 ई. (घ) 1830 ई.
6. 1854 ई. तक प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी थी।
 (क) बाल-विवाह (ख) बाल-वध
 (ग) नर-बलि या मरिया (घ) सती
7. पंजाब के बेदी तो के रूप में प्रसिद्ध थे।
 (क) 'कुड़ीमार' (ख) 'चिड़ीमार'
 (ग) 'शिकारी' (घ) कानूनची

नोट

8. राजपूतों में बालिका-वध का कारण था पर भारी खर्च।
 (क) समारोहों (ख) विवाहों
 (ग) जन्म (घ) मृत्यु

13.4 20वीं शताब्दी में आध्यात्मिक अन्वेषण (Spiritual Observation in 20th Century)

भारत में आध्यात्मिक विचारों के विकास में 20वीं शताब्दी का सबसे विशिष्ट योगदान श्री अरविंद के संदेशों का है। अरविंद ने कई सदियों के दौरान हुए बहुमुखी आध्यात्मिक प्रयत्नों और अनुभवों को समुचित स्थान देकर उनका सम्मिश्रण किया। उन्होंने ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के सभी भारतीय तरीकों में सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया।

अरविंद ने कहा, “एक शाश्वत पूर्णता हमें अपनी प्रतिमूर्ति के रूप में गढ़ रही है।” उनकी धारणा थी कि मनुष्य जैसा है, जीव विकास प्रक्रिया की पराकाष्ठा नहीं है। उसकी चेतना में छिपी क्षमताएं हैं जिनसे यह पूर्णरूप में एक नए जीव में विकसित हो सकता है। वास्तव में, यह विकास प्रक्रिया, मानव की और अधिक ज्ञान पिपासा, दक्षता तथा और स्वतंत्रता की, चेतन-अचेतन आकांक्षा के माध्यम से निरंतर चल रही है। अरविंद का विश्वास था कि पदार्थ से जीवन और जीवन से चित्त का विकास हुआ। पदार्थ में जीवन और जीवन में चित्त व्याप्त था। इसी प्रकार चित्त में परमात्मा बसा है। “यदि पृथ्वी पर हमारी आत्माभिव्यक्ति, पदार्थ रूप में हमारे जन्म का छिपा सत्य है, यदि यह मूलतः चेतना का विकास है जो प्रकृति में होता रहा है, तो मनुष्य इस विकास प्रक्रिया की पराकाष्ठा नहीं हो सकता। वह परमात्मा की अत्यंत अपूर्ण अभिव्यक्ति है, चित्त का माध्यम और स्वरूप बहुत सीमित है; चित्त तो चेतना का केवल मध्य पर्याय है। मानसयुक्त जीव तो संक्रमणकालीन जीव ही हो सकता है। पर, यदि मनुष्य में मानसिक सीमाएं लांघने की क्षमता नहीं है तो उससे ऊपर उठना होगा और अतिमानस तथा अतिमानव को प्रकट होकर सृष्टि का संचालन अपने हाथ में लेना होगा। लेकिन यदि मनुष्य स्वयं मानसिक सीमाओं से बाहर की बातें समझ सकता है तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि वह स्वयं अतिमानव के गुण प्राप्त न कर सके और अतिमानव न बन सके या कम से कम अपने मानस, जीवन तथा शरीर को विकास प्रक्रिया को समर्पित करके, प्रकृति में अभिव्यक्त परमात्म तत्व को प्राप्त न कर सके।”

अरविंद ने कहा कि जीवन और पदार्थ में दैवी सत्य तत्व है। इस प्रकार उन्होंने दर्शन में दो परंपरागत विरोधी विचारधाराओं का समावेश किया। उनका कहना है, “पृथ्वी पर जीवन में देवत्व और नश्वर अस्तित्व में अमरत्व के मत का तब तक कोई आधार नहीं हो सकता जब तक हम यह न मान लें कि अमर आत्मा शरीर में वास करती है और यह पार्थिव चोला ओढ़े हुए है और यह भी न मान लें कि पदार्थ जिससे यह चोला बना है, पवित्र और उचित वस्तु है जिससे परमात्मा बराबर अपने परिधान बुनता रहता है और एक अनंत क्रम में अपने निवासों का निरंतर निर्माण-करता रहता है।”

अरविंद ने भारत की इस धारणा को स्पष्ट किया कि मनुष्य आत्मा है जो शक्ति के कार्यों में छिपी है। वह आत्मज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है तथा देवत्व प्राप्ति की क्षमता रखता है। मनुष्य वह जीव है जो प्रकृति के माध्यम से चैतन्य-आत्मबोध के लिए विकसित हो रहा है। पूर्ण सत्यता की दृष्टि से, वह तो उस अनुभवातीत परम तत्व जैसा ही है, जहाँ से वह आया है और उन देवी-देवताओं से श्रेष्ठ है जिनकी वह पूजा करता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. अमृतसर की 1853 की विशाल सभा ने बालिका-वध की प्रथा पर घातक प्रहार किया।
10. सामाजिक कानूनों की सफलता समाज के सहयोग पर निर्भर नहीं करता।

नोट

11. आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में विदेशी ईसाई मिशनरियों की भूमिका मुख्य थी।
12. अरविंद ने कहा कि जीवन और पदार्थ में दैवी सत्य तत्त्व है।

13.5 सामाजिक विधि निर्माण और शिक्षा नीति (Social Legislation and Education Policy)

1763 के बक्सर युद्ध तक कम्पनी की भारत में सामाजिक अथवा शिक्षा नीति हो ही नहीं सकती थी, परन्तु फिर भी ईसाई मिशन जो प्रायः व्यापारियों के साथ-साथ कई बार पहले और कई बार पीछे भारत में आ गए थे और उन्होंने भारतीय हिन्दू और मुस्लिम, सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाजों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। उदाहरण के रूप में अंग्रेज मिशनरियों ने एक लघु पुस्तिका छपी जिसका शीर्षक था “हिन्दुओं और मुसलमानों को सम्बोधन” (Address to Hindus and Mohamedans)। इसमें मुहम्मद साहिब को एक ‘झूठा पैगम्बर’ कहा गया था और हिन्दू धर्म को केवल मूर्ति पूजा, अंधविश्वास तथा अज्ञान का पुंज कहा गया था। इन पादरियों का मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों को ईसाई बनाना था। कई विदेशी सहायता प्राप्त पादरियों ने पिछड़े हुए और भारतीय समाज के कमजोर वर्गों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए धर्मार्थ औषधालय, अनाथालय, और पाठशालाएँ भी खोलीं जहाँ निःशुल्क विद्या के अतिरिक्त, भोजन और वस्त्र भी दिये जाते थे।

अंग्रेजी प्रशासन का भारतीय समाज के प्रति उत्तरदायित्व, 1765-72 तक चलने वाले दोहरे शासन के दिनों में उभरा, जिस समय कम्पनी के सभी कर्मचारी, बड़े से लेकर छोटे तक, भारत को निर्लज्ज और स्पष्ट रूप से लूट रहे थे। 1769 में रिचर्ड बेचर (Richard Bechar) जो कम्पनी का एक कर्मचारी था, ने कम्पनी के निदेशकों के अधिकरण (Court of Directors) को यह पत्र में लिखा, “प्रत्येक अंग्रेज को दुःख होता होगा और यह जानने की इच्छा होगी कि क्या कारण है कि जबसे कम्पनी को दीवानी मिली है (1765) इस देश के वासियों की अवस्था पहले से बहुत बुरी हो गई है।... वह सुन्दर देश जो बुरे से बुरे निरंकुशों और स्वेच्छाचारियों के अधीन भी फलता-फूलता रहा है, अब लगभग विनाश के कगार पर खड़ा है।” एक अन्य समकालीन लेखक विलियम बोल्ट (William Bolt) ने अपनी पुस्तक “भारतीय मामलों पर विचार” (Considerations on Indian Affairs) ने तन्त्रायों पर की जा रही धूर्तता और अत्याचार के विषय में लिखा है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ (Adam Smith) ने भी कम्पनी की भारत में लूट के विषय में लिखा है और स्वामियों के अधिकरण (Court of Proprietors) को ‘भारत में लुटेरों की नियुक्तियाँ करने वाले अधिकरण, की संज्ञा दी है।’ 1772 में इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री लार्ड नॉर्थ (Lord North) ने संसद की एक प्रवर समिति और एक गुप्त समिति की नियुक्ति की जिसने भारत में कम्पनी के कार्य की समीक्षा की। दोनों समितियों ने सुझाव दिया कि प्रशासन और व्यापार अलग-अलग किए जाने चाहिए, अर्थात् अंग्रेजी संसद को भारत में प्रशासन के लिए अपनी सर्वोपरि शक्ति का दावा करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773) के उपरान्त ब्रिटिश क्राउन ने भारत में प्रशासन का उत्तरदायित्व तो सम्भाल लिया परन्तु फिर भी यही अवस्था चलती रही।

1808 में निदेशकों के अधिकरण ने लार्ड मन्टों जो गर्वनर जनरल थे, को एक आदेश पत्र भेजा जिसमें कहा गया था कि भारत में कम्पनी के अधीन रहने वाले लोगों के सामाजिक और धार्मिक विश्वासों में कोई हस्तक्षेप न किया जाए। इसका स्पष्ट उद्देश्य था कि गवर्नर जनरल पादरियों के धर्म परिवर्तन कार्य पर नियंत्रण रखें। परन्तु 1813 चार्टर एक्ट में पादरियों के भारत में आने-जाने पर लगी रोक को हटा दिया गया और इंग्लैण्ड के सभी भिन्न-भिन्न ईसाई समुदायों के पादरियों को भारत में जाने की छूट हो गई। इसके अतिरिक्त कम्पनी के कुछ कर्मचारी, सैनिक तथा असैनिक, भारत में अंग्रेजों के ईसाई कर्तव्य को निभाने में भी लग गए, विशेषकर सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में। समकालीन इंग्लैण्ड के राजनैतिक तथा बौद्धिक वातावरण में परिवर्तन आने के कारण भारत में सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र के प्रति अधिक रुचिपूर्ण रवैया अपनाया जाने लगा। टोरी दल सत्ता से हट गया था और व्हिग दल ने (जिसे 1834 के उपरान्त लिबरल (उदारवादी) दल कहते थे) लार्ड ग्रे (Lord Gray) के नेतृत्व में सत्ता सम्भाल ली थी। बैन्थमवादी (Benthamites) जिन्हें दार्शनिक परिवर्तनवादी (Philosophical Radicals) और

नोट

मानवतावादी भी कहते थे, अब इंग्लैण्ड तथा उसकी समुद्र पार बस्तियों में जिनमें भारत भी सम्मिलित था, प्राचीन और नवीन कुप्रथाओं को सुधारने में लगे थे। इंग्लैण्ड में एक सुधार का युग आरम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप प्रथम संसदीय सुधार एक्ट (First Parliamentary Reform Act, 1832), दासता उन्मूलन एक्ट (Abolition of Slavery Act, 1833), फैक्टरी एक्ट (Factory Act, 1833), नवीन दरिद्र रक्षा अधिनियम (New Poor Law Act, 1834), नगरपालिका सुधार एक्ट (Municipal Reform Act) तथा शिक्षा अधिनियम (The Education Act) इत्यादि पारित हुए। स्वाभाविक था कि इन नए अधिनियमों का भारतीय नीतियों पर भी प्रभाव पड़ता।

निदेशकों के अधिकरण ने संसद की भावना को पहचाना और समझा कि चार्टर एक्ट का नवीनीकरण तभी सम्भव है यदि कम्पनी भी कुछ ऐसा रुख अपनाए। उन्होंने लार्ड विलियम बैंटिक (जो 1828-35 तक गवर्नर जनरल थे) को सुझाव दिया कि वह हिन्दू धर्म की सबसे स्पष्ट कुरीतियों को समाप्त कर दे। इस सुधार के वातावरण में 4 दिसम्बर 1829 को रेग्यूलेशन XVII के अनुसार बंगाल प्रान्त में सती प्रथा समाप्त कर दी गई। 1830 में इसे बम्बई और मद्रास प्रेजिडेन्सियों में भी लागू कर दिया गया। शिशु हत्या तो 1775 और 1801 के रेग्यूलेशनों द्वारा पहले ही समाप्त कर दी गई थी परंतु अब उन आदेशों का कड़ाई से पालन होने लगा। दास प्रथा के अन्त का प्रश्न भी उठाया गया और 1843 में यह अधिनियम भी लागू कर दिया गया। विधवा विवाह की वैधता के लिए 1856 में अधिनियम XV पारित किया गया और इस विवाह से हुई सन्तान वैध मानी गई। स्त्री शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। ये प्रयत्न जो किए गए, इनसे आने वाले काल में और भी वेगपूर्ण प्रगति हुई जो 1858 के उपरान्त देखने को मिली। विदेशी सम्पर्क और अंग्रेजी पुस्तकों के परिणाम स्वरूप कुछ भारतीय समाज सुधारक भी उभरकर सामने आए थे, इनमें दो व्यक्ति प्रमुख थे। एक राजा राममोहन राय और दूसरे ईश्वर चन्द्र विद्यासागर। सती प्रथा की समाप्ति में राजा साहिब और विधवा विवाह की वैधता में ईश्वरचन्द्र का भी हाथ था।

यूरोपीय और भारतीय समाज सुधारक दोनों विश्वास करते थे कि सामाजिक कुप्रथाएँ केवल कानूनों द्वारा समाप्त नहीं की जा सकतीं। शिक्षा की सुदृढ़ प्रणाली से ही हमें त्रुटियों का बोध हो सकता है और पुरुष और स्त्री के बीच भेद भाव समाप्त कर समानत्व की भावना जागृत हो सकती है और आने वाली पीढ़ियों के लिए उच्च आदर्श स्थापित किए जा सकते हैं। मध्यकालीन शिक्षा मुख्य रूप से धार्मिक अथवा व्यापारिक होती थी। दर्शन ग्रन्थ प्रायः कण्ठस्थ तो कर लिए जाते थे परन्तु उन्हें समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। अतएव जिज्ञासा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तर्क की भावना नहीं होती थी।

आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में विदेशी ईसाई मिशनरियों की भूमिका मुख्य थी। 1556 में पहला मुद्रणालय (Printing Press) ईसाई मिशनरियों ने गोआ में स्थापित किया। इसी प्रकार विदेशी मिशनरियों ने कई विद्यालय स्थापित किए तथा कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। डेनमार्क के मिशनरियों ने तो एक तमिल भाषा का कोष भी प्रकाशित किया। परन्तु यह स्मरण रहे कि ईसाई पादरियों की इन गतिविधियों का उद्देश्य “शिक्षा देना नहीं अपितु ईसाई धर्म का प्रसार करना था।”

जैसा कि पहले भी कह चुके हैं कि अंग्रेजी कम्पनी के अधिकारियों ने अपने अधीन भारत में शिक्षा प्रसार का उत्तरदायित्व कभी स्वीकार नहीं किया था परन्तु फिर भी उन्होंने 1781 में कलकत्ता में एक मदरसा स्थापित किया था और 1792 में बनारस में संस्कृत कॉलिज खोला था। इन संस्थाओं की आवश्यकता भारतीय दीवानी मुकदमों के लिए संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानों की कमी अथवा लिपिकारों की कमी को पूरा करने के लिए थी। परन्तु बंगाल के कुछ सुधारकों का विश्वास था कि यद्यपि पूर्वी भाषाओं का ज्ञान मूल्यवान है परन्तु इससे अधिक अच्छे परिणाम अंग्रेजी भाषा और साहित्य के ज्ञान से प्राप्त हो सकते हैं। इनमें सबसे प्रमुख राजा राममोहन राय थे। उन्होंने डेविड हेयर (David Hare) के साथ मिलकर, सर एडवर्ड हाइड ईस्ट (Sir Edward Hyde East) जो उस समय बंगाल के मुख्य न्यायाधीश थे, की सहायता से मार्च 1817 में कलकत्ता में हिन्दू कॉलिज (Hindu College) स्थापित किया। एक अन्य पाश्चात्य समर्थक दल था जिसे लोग यंग बंगाल दल (Young Bengal Group) भी कहते थे। यह दल पूर्ण रूप से पश्चिम की ओर झुका था तथा पश्चिमी चिन्तन, सामाजिक मूल्य तथा ईसाइयत का समर्थक था और भारतीय धर्मों तथा पूर्वी संस्कृति की अवहेलना करता था।

नोट

यह विश्वास किया जाता है कि मिशनरी प्रभावी दल के दबाव के कारण ही 1813 में चार्टर एक्ट का नवीकरण करते समय एक्ट में एक उपबंध यह भी किया गया कि कम्पनी अपने भारतीय क्षेत्रों में स्थानीय निवासियों की शिक्षा के लिए 1,00,000 रुपये वार्षिक व्यय करेगी।

आंग्ल-प्राच्य भाषा विवाद (Orientalist-Anglicist Controversy)—1823 तक 1813 के इस प्रावधान पर कोई कार्यवाही नहीं की गई। परन्तु 1813 में लोक शिक्षा की सामान्य समिति (General Committee of Public Instruction) गठित की गई जिसे सरकारी शिक्षा संस्थानों का प्रभार लेने तथा शिक्षा अनुदान का उपयोग करने को कहा गया। इस समिति के दस सदस्य थे। दुर्भाग्य से यह सदस्य पांच-पांच की संख्या के दो दलों में बंट गए, पहला प्राच्य भाषा समर्थक दल (Orientalists) अर्थात् वह दल जो यह चाहता था कि इस अनुदान का प्रयोग प्राच्य भाषाओं के विस्तार के लिए किया जाए और दूसरा वह दल जो अंग्रेजी भाषा के द्वारा पश्चिमी विज्ञान तथा साहित्य के प्रसार के लिए इस धन का प्रयोग करना चाहता था। यह अनिश्चितता उस समय तक बनी रही जब तक कि समकालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने जी.बी. मैकॉले (G.B. Macaulay) को इस समिति का अध्यक्ष नियुक्त नहीं किया। मैकॉले ने अपने 2 फरवरी 1835 के प्रसिद्ध स्मरण पत्र (minute) में अंग्रेजी भाषा समर्थक दल का पक्ष लिया और सरकार ने 7 मार्च को एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें यह घोषणा की गई कि भविष्य में सरकारी अनुदान केवल आंग्ल भाषा के माध्यम से ही यूरोपीय साहित्य और विज्ञान के प्रसार के लिए ही किया जाएगा। 1838 में एक अन्य अधिसूचना द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि भविष्य में प्राच्य भाषा के लिए कोई धन उपलब्ध नहीं होगा।

1854 का शिक्षा पर सर चार्ल्स वुड का डिस्पैच (Sir Charles Wood's Despatch on Education), 1854 में सर चार्ल्स वुड ने, जो बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष थे और पीछे प्रथम भारत सचिव नियुक्त किए गए थे, शिक्षा पर एक समाविष्ट आदेश पत्र भारत सरकार को भेजा जिसमें उन्होंने समस्त अंग्रेजों के अधीन भारत के लिए “प्राथमिक पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालय स्तर के लिए एक सुस्पष्ट की हुई शिक्षा नीति” का सुझाव दिया। आदेश पत्र में यह दोहराया गया कि (1) भारत में शिक्षा का उद्देश्य यूरोपीय भाषाओं का प्रसार करना है (2) जिसके लिए माध्यम अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाएं दोनों ही होंगी। संक्षेप में यह सुझाव था कि प्राथमिक स्तर पर माध्यम स्थानीय भाषा हो। मिडिल और हाई स्कूलों में माध्यम स्थानीय भाषा और अंग्रेजी हो और कॉलेज तथा विश्वविद्यालय स्तर पर केवल अंग्रेजी हो। इसमें यह भी सुझाव था कि लण्डन विश्वविद्यालय के नमूने पर कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाए।

शिक्षा नीतियों तथा अंग्रेजी औपनिवेशिक हितों में सम्बन्ध (Linkage between Educational Policies and British Colonial Interests)—अंग्रेजी साम्राज्यवादी प्राधिकरण (लंदन स्थित प्राधिकरण और भारत स्थित कम्पनी के प्राधिकरण) ने प्रशासनिक विवशताओं के कारण अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का सुझाव दिया। इस पक्ष के अतिरिक्त कई राजनैतिक तथा व्यापारिक कारण भी थे जो मैकॉले शिक्षा पद्धति का समर्थन करते थे।

ज्यों-ज्यों कम्पनी के राज्य का भारत में प्रसार हुआ त्यों-त्यों उनकी प्रशासनिक आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। राजस्व तथा न्यायिक विभागों में लिपिकार (clerks) और मध्य स्तर के उन कार्यकर्ताओं की आवश्यकता थी, जो काम चलाऊ अंग्रेजी भी जानते हों और फ़ारसी और स्थानीय भाषाएँ भी। इसके अतिरिक्त, भारतीयों को अंग्रेजों की तुलना में वेतन बहुत ही थोड़ा देना पड़ता था।

इसके अतिरिक्त एक उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रसार भी था। ग्रांट डफ़ (Grant Duff) एक समकालीन उच्च स्तरीय अधिकारी का विचार था कि नई विद्या विधर्मियों (heathens) को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित करने का सबसे सबल शस्त्र था। इसी प्रकार जी. बी. मैकॉले ने, जो इस विचार से सहमत था, अपने पिता को एक पत्र में यूँ लिखा था—

“कोई भी हिन्दू, जिसने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की है, कभी अपने धर्म के प्रति चिपका नहीं रहता। यह मेरा निश्चित विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा योजनाओं का पूरा लाभ उठाया जाए तो बंगाल के उच्च वर्ग में, आने वाले 30 वर्षों में, एक भी मूर्ति पूजक नहीं रहेगा।”

नोट

यद्यपि मैकॉले का स्वप्न तो पूरा नहीं हुआ परन्तु फिर भी उच्च वर्ग से कुछ युवक ईसाई अवश्य बने। मैकॉले और डफ ने हिन्दू धर्म के ज्ञान की अगाधता को नहीं समझा। परन्तु राजनैतिक रूप से नवीन पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त वर्ग, जिसमें सरकारी सेवा में लगे अथवा वकील, इन्जीनियर, डॉक्टर अथवा अध्यापक वर्ग सम्मिलित था, जाने-अनजाने रूप से भारत में अंग्रेजी राज्य के समर्थक बन गए। विशेषकर इसलिए कि उनके हित भारत में अंग्रेजी राज्य से जुड़ गए थे। इस प्रकार मैकॉले का यह स्वप्न कि वह एक ऐसा वर्ग गठित करने में सफल होगा “जो रक्त और रंग से तो भारतीय होगा, परन्तु अपनी रुचि, विचारशील तथा प्रज्ञा बुद्धि (taste, opinion, morals and intellect) में अंग्रेजी होगा”, अवश्य साकार हो गया। इस प्रकार ब्राउन अंग्रेज विश्वास करने लग गया कि भारत की प्रगति अनुनेय (inexorably) रूप से अंग्रेजों से जुड़ी है और आज भी अंग्रेजों के जाने के पचास वर्षों उपरान्त भी बहुत से पुराने लोग कहते सुने गए हैं कि स्वतंत्रता से अंग्रेजों का राज्य अधिक अच्छा था।

इसी प्रकार कलकत्ता तथा इंग्लैण्ड स्थित व्यापारिक वर्ग भी भारतीय शिक्षा प्रणाली के आंग्लीकरण का प्रबल समर्थक बन गया था। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय मध्यम वर्ग ने न केवल भारतीय प्राकृतिक साधनों से अनुचित लाभ उठाने में सहायता की अपितु वह सिर से पांव तक, नेकटई से जूतों तक, इंग्लैण्ड में बने माल का उपभोक्ता भी बन गया। मैकॉले ने 1833 में हाउस ऑफ कॉमन्स में दिए गए अपने एक वक्तव्य में व्यापारिक लाभों का इस प्रकार वर्णन किया था—

“साम्राज्य का विस्तार ही अनिवार्य रूप से लाभकारी नहीं है।...यदि हम अत्यधिक स्वार्थी पक्ष से भी देखें तो भी यह स्पष्ट है कि यदि भारत के लोग हमारे अधीन तो हों, परन्तु वहाँ कुशासन हो, वे निर्धन और अज्ञानी रहें और इंग्लैण्ड की बनी वस्तुएं न खरीद सकें और वे अंग्रेज कलेक्टरों और मैजिस्ट्रेटों को सलाम करते रहें, तो इसके विपरीत हमारे लिए यह बहुत अधिक अच्छा होगा कि उनका शासन अच्छा हो, वे स्वतंत्र हों; उनके अपने राजे राज करें और उनके पास धन और ज्ञान दोनों हों ताकि वे इंग्लैण्ड का बना विदेश का कपड़ा (broad cloth) पहनें और यहाँ के बने छुरी और काटे (cutlery) का प्रयोग कर सकें।”

“The mere extent of empire is not necessarily an advantages...It would be, on the most selfish view of the case, far better for us that the people of India, were well governed and independent of us: than ill governed and subject to us; that they were ruled by their own kings, but wearing our broad cloth and working with our cutlery, than that they were performing the *slaams* to the English Collectors and English Magistrates but were too ignorant to value, too poor to buy English manufacturers.”

13.6 सारांश (Summary)

- बंगाल में अपने शासन के प्रथम 40 वर्षों में यानी 18वीं शताब्दी के अंतिम चार दशकों में ब्रिटिश अधिकारी उन दिनों की सामाजिक बुराइयों को समझ सके लेकिन इसके विरुद्ध कोई कानूनी उपाय करने का न तो उनका कोई इरादा था और न उनमें इसका साहस था।
- पहला प्रमुख सामाजिक कानून 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में बना। उन दिनों लार्ड वैल्जली गवर्नर जनरल था और सेरामपुर के प्रसिद्ध मिशनरी कैरी ने उसका ध्यान, गंगा और समुद्र के संगम पर बच्चों को पानी में फेंके जाने की प्रथा की ओर आकृष्ट किया। अगस्त 1802 में सरकार ने कानून बनाकर यह प्रथा समाप्त कर दी।
- सन् 1828 ई. के मध्य में जब लार्ड विलियम बैंटिक गवर्नर-जनरल बनकर आए तो कानून द्वारा सती प्रथा को समाप्त करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार थी। बैंटिक अपने देश में सुधार युग के सच्चे प्रतिनिधि थे और उनका यहाँ आना एक शुभ संयोग था।
- सत्ता हस्तांतरण से पहले ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार को दो और अच्छे काम करने का श्रेय है। एक तो उड़ीसा-मद्रास पहाड़ी क्षेत्र के खोंड लोगों में नर बलि को रोकना और दूसरा उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में राजपूतों और बेदियों के बीच बाल वध को खत्म करना।

नोट

- 20वीं शताब्दी में सामाजिक परिवर्तन संबंधी नीतियाँ अंग्रेजों द्वारा रुचि लेने का परिणाम नहीं बल्कि भारतीय जनमत का नतीजा थीं। अरविंद ने कहा, “एक शाश्वत पूर्णता हमें अपनी प्रतिमूर्ति के रूप में गढ़ रही है।”
- भारत में आध्यात्मिक विचारों के विकास में 20वीं शताब्दी का सबसे विशिष्ट योगदान श्रीअरविंद के संदेशों का है।
- 1763 के बक्सर युद्ध तक कम्पनी की भारत में सामाजिक अथवा शिक्षा नीति हो ही नहीं सकती थी, परन्तु फिर भी ईसाई मिशन जो प्रायः व्यापारियों के साथ-साथ कई बार पहले और कई बार पीछे भारत में आ गए थे और उन्होंने भारतीय हिन्दू और मुस्लिम, सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाजों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। इन पादरियों का मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों को ईसाई बनाना था।

13.7 शब्दकोश (Keywords)

- **सतीप्रथा**—पुराने समय में पति के मरने पर पत्नी को उसकी चिता पर जिंदा जला देने की प्रथा।
- **बालिका-वध**—बालिकाओं को जन्म लेते ही उन्हें मार देना।
- **नर-बलि**—अंधविश्वास के कारण जीवित मनुष्यों की बलि चढ़ाना या हत्या करना।

13.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. 19वीं शताब्दी में सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध किये गए कानूनी सुधारों या उपायों का वर्णन करें।
2. नर-बलि या मरिया प्रथा क्या थी? नर-बलि रोकने के लिए सरकार द्वारा किये गए उपायों का वर्णन करें।
3. बालिका-वध क्या है? बालिका-वध रोकने के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कदमों तथा कानूनों पर प्रकाश डालें।
4. 20वीं शताब्दी में बने मुख्य सामाजिक कानूनों का उल्लेख करें।
5. 20वीं शताब्दी के आध्यात्मिक अन्वेषण पर टिप्पणी लिखें।
6. अंग्रेजों के सामाजिक विधि निर्माण एवं शिक्षा नीति की समीक्षात्मक विवेचना करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|----------------|------------------------|-------------------|----------------|
| 1. कानून | 2. राममोहन राय | 3. सती प्रथा | 4. विधवा विवाह |
| 5. (ख) 1857 ई. | 6. (ग) नर-बलि या मरिया | 7. (क) 'कुड़ीमार' | |
| 8. (ख) विवाहों | 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य |
| 12. सत्य | | | |

13.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।

नोट

इकाई-14 : राजनीतिक एवं प्रशासनिक घटनाएँ (Political and Administrative Events)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 1909 का एक्ट या मार्ले-मिंटो सुधार (Act of 1909 or Marley Minto Reforms)

14.2 मांटैग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार या 1919 का एक्ट
(Montague Chamesford Reforms or Act of 1919)

14.3 1919 से 1935 तक की राजनीतिक घटनाएँ (Political Events during 1919 to 1935)

14.4 गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1935 (Government of India Act-1935)

14.5 सारांश (Summary)

14.6 शब्दकोश (Keywords)

14.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

14.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- 1909 का एक्ट या मार्ले-मिंटो सुधार के बारे में समझने में;
- मांटैग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार या 1919 के एक्ट को जानने में;
- 1919-1935 तक की राजनीतिक घटनाएँ एवं गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

20वीं शताब्दी के शुरू में लार्ड कर्जन भारत के वायसराय थे। वे कांग्रेस के पूर्ण विरोधी थे और नवंबर 1900 में एक गुप्त रिपोर्ट में उन्होंने विदेश सचिव को लिखा—“मेरा अपना विश्वास तो यह है कि कांग्रेस टूट रही है और भारत में रहते हुए मेरी सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि मैं कांग्रेस के शांतिपूर्ण अंत में सहायता करूँ।” कर्जन का प्रशासन 1905 तक रहा। इस अवधि में कांग्रेस को अपना अंत करने में मदद करने की बजाय उन्होंने उसे पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा शक्तिशाली और दृढ़ बनने में मदद की, क्योंकि उनकी अपनी नीतियाँ आक्रामक थीं। इन नीतियों में शामिल था बंगाल का विभाजन। लार्ड कर्जन के जाने के बाद अंग्रेजों के खिलाफ भारत में पहला महान सुसंगठित राजनीतिक आंदोलन चला जो स्वदेशी आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध है। कांग्रेस अध्यक्ष गोपाल कृष्ण गोखले ने लार्ड कर्जन की निंदा की और यही तीखी टिप्पणी की—“भारत एक ऐसा देश है जहाँ अंग्रेज हमेशा के लिए पूरी सत्ता पर एकाधिकार जमाना चाहता है और ऐसा करते हुए हर समय कर्तव्य की बात कहता है।” 1905 में उन्होंने

नोट

सुधारों की मांग की जिनमें एक यह थी कि विधान परिषद् में हर दो सदस्यों पर एक सदस्य निर्वाचित होना चाहिए, विदेश सचिव की परिषद् में कम-से-कम तीन भारतीय हों और न्यायपालिका व कार्यपालिका को अलग-अलग रखा जाए।

स्वदेशी आंदोलन से एक तेज राजनीति का संघर्ष शुरू हो गया। यह आंदोलन 1905 से 1910 तक अपनी पूरी तीव्रता से चला और उन दिनों में भारत पर विदेश सचिव के रूप में जान मार्ले और वायसराय के रूप में मिंटो शासन चला रहे थे। यह दौर आंदोलन के लिए बड़ा नाजुक था। सरकार ने दमन और साथ-ही-साथ सुधार के उपायों से इस आंदोलन को कुचलने का फैसला किया, लेकिन उसके साथ ही और भी ज्यादा नाजुक घटना घटी। आंदोलन के पीछे राजनीतिक सरगर्मी, दमनकारी उपायों और सुधारों में से एक नया संगठन उभरा आल इंडिया मुस्लिम आर्गेनाइजेशन, जो कांग्रेस के विरुद्ध था। अंग्रेजों ने जब देखा कि भारत के हिंदुओं ने विद्रोह कर दिया है और भारतीय राष्ट्रवाद के उमड़ते हुए ज्वार में हिंदू और मुसलमानों के बीच एकता बढ़ रही है तो भारतीय मुसलमानों की ओर अंग्रेजों के रवैये में नाटकीय परिवर्तन आया। इसलिए अंग्रेजों ने मुसलमानों और अंग्रेजों के बीच सद्भाव स्थापित करने की बात सोची। इसके परिणामस्वरूप ढाका में 30 दिसंबर 1906 को आल इंडिया मुस्लिम लीग का जन्म हुआ। लीग के प्रमुख उद्देश्य थे—(क) भारतीय मुसलमानों के मन में ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी की भावना को बढ़ावा देना, और (ख) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों और हितों की रक्षा और प्रगति करना तथा उनकी जरूरतों को सरकार तक विनयपूर्वक पहुँचाना।

वायसराय लार्ड मिंटो ने मुसलमानों को आवश्यकता दी—“मेरा भी उतना ही दृढ़ विश्वास है जितना कि मैं समझता हूँ आपका भी है कि इस महाद्वीप की आबादी के विभिन्न संप्रदायों की आस्थाओं, परंपराओं की परवाह न करते हुए वोट का व्यक्तिगत अधिकार देने वाला निर्वाचन प्रतिनिधित्व निश्चित रूप से विफल होकर रहेगा।... इस बीच मैं आपसे केवल इतना कह सकता हूँ कि मुसलमान इस बात से आश्वस्त रहें कि जिस भी प्रशासनिक पुनर्गठन से मैं संबद्ध रहूँगा उसमें उनके राजनीतिक अधिकारों और हितों की रक्षा की जाएगी।”

इस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन के ऐसे दौर में, जबकि कांग्रेस सुधार चाहती थी, ब्रिटिश संसद ने कुछ संवैधानिक रियायतें देना जरूरी समझा लेकिन ब्रिटिश कूटनीति ने मुसलमानों और हिंदुओं को एक-दूसरे से अलग करने में कोई कसर न छोड़ी। ऐसी घटनाओं का नतीजा था गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट 1909। यह एक्ट सहायक होने के बजाय हानिकारक ज्यादा था, हालांकि भारत के संवैधानिक इतिहास में इसका एक अपना ही स्थान है।

14.1 1909 का एक्ट या मार्ले-मिंटो सुधार (Act of 1909 or Marley Minto Reforms)

विदेश सचिव जान मार्ले और वायसराय लार्ड मिंटो ने 1909 के एक्ट का मसौदा बड़े ध्यान से तैयार किया और एक्ट पास होने से पहले सुधारों के अंतर्गत उन्होंने कुछ उल्लेखनीय कदम उठाए। 1907 में मार्ले ने लंदन में विदेश सचिव की परिषद् में दो भारतीयों को शामिल किया। बाद में गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् में भी एक भारतीय को शामिल करने का फैसला किया गया। भारत में ब्रिटिश प्रशासकों ने इस दूसरे प्रस्ताव का काफी विरोध किया। लेकिन ब्रिटिश मंत्रिमंडल को ऐसा महसूस हुआ कि इस तरह के उच्च पदों पर नियुक्ति करने से भारतीय जनता खुश होगी और इसलिए यह फैसला किया गया। कुछ लोगों ने सवाल उठाया कि अगर मुसलमानों ने वायसराय की परिषद् में किसी हिंदू को शामिल करने की आपत्ति उठाई तो क्या होगा? इसके विरोध में मार्ले ने घोषणा की—“मैं कहना चाहता हूँ कि वायसराय की कार्यकारिणी को लेकर हिंदुओं या मुसलमानों का जिक्र छोड़ना उद्देश्य से हटकर बात करना है... यदि किसी भारतीय का नाम ब्रिटिश शासक को सुझाना मेरा कर्तव्य है, तो मैं वायसराय की कार्यकारिणी में उस भारतीय की नियुक्ति इस आधार पर नहीं करूँगा कि वह हिंदू है या मुसलमान।” हालांकि सरकारी घोषणा यही थी लेकिन वास्तव में उच्च पदों पर नियुक्तियों में सांप्रदायिकता की भावना बढ़ती जा रही थी। पहले जब लंदन में इंडिया काउंसिल में दो भारतीय सदस्यों को लिया गया, तो उनमें से एक हिंदू था के० जी० गुप्ता और एक मुसलमान, सैयद हुसैन बिलग्रामी। दूसरे जब गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् में एक भारतीय को लेने का फैसला किया

नोट

गया तो पहली नियुक्ति एक हिंदू एस० पी० सिन्हा की 1909 में हुई। लेकिन जब 1910 में उन्होंने इस्तीफा देने का निर्णय किया तो विदेश सचिव उनके स्थान पर नियुक्ति के लिए किसी मुसलमान व्यक्ति को खोजने लगे। उन्होंने कहा—“मेरे विचार से हमें किसी मुसलमान को नियुक्त करना चाहिए, नहीं तो वह बहुत हल्ला मचाएंगे। वास्तव में हमारे समाचार पत्रों में इस आशय के पत्र पहले ही छप चुके हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि वह व्यक्ति अली इमाम ही होगा और मैं चाहता हूँ कि वह इस नियुक्ति को स्वीकार करेगा।”



नोट्स मार्ले-मिंटो सुधारों के जरिए एक बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण ब्रिटिश नीति बन रही थी। यह नीति थी देश के राजनीतिक संवैधानिक ढांचे में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालना।

1909 के एक्ट का उद्देश्य भारतीय विधान मंडल में जन-प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाना और उनके अधिकारों में वृद्धि करना था। केंद्रीय विधान मंडल में सरकारी पक्ष का बहुमत बनाए रखना वांछनीय समझा गया जबकि प्रांतीय विधान मंडलों में गैर सरकारी पक्ष के बहुमत को प्रयोग में लाया जा सकता था। विधान परिषदों में विभिन्न वर्गों के सदस्यों की संख्या, तालिका नंबर एक में दी गई है। एक्ट में प्रत्येक परिषद् की अधिकतम सदस्यों की संख्या निर्धारित कर दी गई थी। राज्याध्यक्ष और कार्यकारी परिषदों के सदस्यों को छोड़ बाकी सदस्य संख्या गवर्नर-जनरल की परिषद् में साठ और पंजाब तथा बर्मा की परिषदों में 30-30 और बाकी पांच सदस्यों में 50-50 थी।

प्रांतों और अधिक जन-प्रतिनिधियों को रखने या गैर-सरकारी सदस्यों को बहुत रखने की रियायत को, अलग-अलग निर्वाचक मंडल बनाने का सिद्धांत लागू करके निष्फल कर दिया गया। व्यावसायिक वर्ग जमींदारों, मुसलमानों, यूरोपीय व्यवसायियों और भारतीय व्यापारियों के प्रतिनिधित्व की विशेष व्यवस्था की गई। हालांकि निर्वाचन सिद्धांत लागू किए गए फिर भी चुनाव, निर्वाचक क्षेत्रों के आधार पर नहीं, बल्कि वर्गों और विशेष हितों को देखते हुए कराए जाने थे। उदाहरण के लिए केंद्रीय विधान सदस्यों की संख्या और स्थिति इस प्रकार थी—

तालिका 1 : विधान परिषदों की सदस्य संख्या

	सरकारी	गैर-सरकारी	बहुमत सरकारी	बहुमत गैर-सरकारी
भारतीय विधान परिषद्	35	32	3	—
मद्रास	19	26	—	7
बंबई	17	28	—	11
बंगाल	17	31	—	14
संयुक्त प्रांत	20	26	—	6
पूर्वी बंगाल और असम	17	23	—	6
पंजाब	10	14	—	4
बर्मा	6	9	—	3

सदन की कुल सदस्य संख्या 67

सरकारी सदस्य 35

गैर-सरकारी सदस्य 32

इन 32 गैर-सरकारी सदस्यों में 5 गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत और बाकी 27 निर्वाचित होंगे। 27 निर्वाचित सदस्यों में से 13 को साधारण मतदाता यानी प्रांतीय विधान परिषदों के गैर-सरकारी सदस्य चुनेंगे। बाकी 14 अलग-अलग वर्गों में से होंगे। जिनमें 6 जमींदारों के निर्वाचन क्षेत्रों और 6 अलग मुस्लिम क्षेत्रों के होंगे शेष दो सदस्य वाणिज्य मंडलों (चैम्बर्स ऑफ कामर्स) जैसे विशिष्ट वर्गों में से चुने जाएंगे।

नोट

प्रांतीय विधान परिषदों के लिए भी अलग वर्ग और विशिष्ट निर्वाचन मंडल बनाए गए। प्रांतीय विधान परिषद् में तथाकथित गैर-सरकारी बहुमत वास्तव में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत नहीं था, क्योंकि गैर-सरकारी सदस्यों में कुछ सदस्यों को गवर्नर नामजद करते थे जो स्वाभाविक है कि सरकारी पक्ष का ही समर्थन करते थे जिससे निर्वाचित सदस्यों की स्थिति काफी कठिन हो जाती थी।

एक्ट में एक मात्र अच्छाई यह थी कि विधान परिषदों को बजट अनुमानों पर विचार करने, पूरक प्रश्न पूछने और जनहित के मामलों से संबद्ध प्रस्ताव रखने जैसे कुछ और अधिकार मिल गए, लेकिन यह अधिकार वास्तविक होने की बजाय नाममात्र के लिए थे। बहस या प्रस्तावों का सरकार की नीतियों या निर्णयों के विरुद्ध कोई शक्तिशाली प्रभाव नहीं था। सरकार को भी, सवाल या प्रस्ताव रखने की अनुमति न देने का कोई अधिकार नहीं था। विधान परिषदों की भी सरकार की विदेश नीति या भारतीय राजाओं के प्रति उसकी नीति जैसे महत्वपूर्ण मामलों पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं था। निर्वाचन सिद्धांत भी सीमित मताधिकार पर आधारित थे। सांप्रदायिकता के आधार पर भेदभाव बरते जाने से वह सिद्धांत और भी खराब हो गए। कहीं कोई एकरूपता नहीं थी। मतदान के अधिकार अलग-अलग संप्रदायों, वर्गों और एक ही संप्रदाय के अंदर अलग-अलग व्यक्तियों के लिए, भिन्न-भिन्न थे। पैसे वाले लोगों को वोट देने का हक था और वोट के लिए शिक्षा की योग्यता की कोई आवश्यकता नहीं थी।

यह एक्ट उस समय तो बिल्कुल ही हास्यास्पद बन गया जब 10 या इससे भी कम संख्या के मतदाताओं वाले निर्वाचन क्षेत्र बनाए गए। यहाँ तक कि सबसे बड़े निर्वाचन क्षेत्र में भी कोई 700 सदस्य ही थे। साधारण निर्वाचक-मंडल में कुल मिलाकर 200 सदस्य थे, जो प्रांतीय विधान परिषदों के गैर-सरकारी सदस्य थे। वे केंद्रीय विधान परिषद् के लिए केवल 13 सदस्य चुनते थे। इन आँकड़ों से पता चलता है कि प्रतिनिधित्व की रियायत कितनी अपर्याप्त थी। इस प्रकार 1909 का एक्ट अलग-अलग निर्वाचक मंडलों के सिद्धांत के कारण खतरनाक था और अत्यंत सीमित मतदान की प्रथा के कारण हास्यास्पद भी था।

मार्ले-मिटो सुधारों के कुपरिणाम जल्दी ही महसूस कर लिए गए। लेकिन 1909 में बहुत कम लोग समझ सके होंगे कि संवैधानिक प्रणाली में सांप्रदायिकता के सिद्धांतों को लाने के दूरगामी परिणाम क्या होंगे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. लार्ड कर्जन के जाने के बाद भारत में अंग्रेजों के खिलाफ पहला महान राजनीतिक आंदोलन चला जो नाम से प्रसिद्ध है।
2. अंग्रेज मार्ले-मिटो सुधारों के जरिए भारत में हिंदू और के बीच फूट डालना चाहते थे।
3. में 30 नवम्बर 1906 को ऑल इंडिया मुस्लिम लीग का जन्म हुआ।
4. लार्ड कर्जन (वायसराय) भारत में के पूर्ण विरोधी थे।

14.2 मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार या 1919 का एक्ट

(Montague Chamesford Reforms or Act of 1919)

1909 का एक्ट लागू होते ही इसके प्रति आम असंतोष सामने आ गया। कुछ ही वर्षों में बड़ी राजनीतिक घटनाएँ होने लगीं। 1914 में पहला विश्व-युद्ध छिड़ गया। जनवरी 1915 में मोहनदास कर्मचंद गांधी दक्षिण अफ्रीका से लौटे। उनकी वापसी के साथ ही नया युग शुरू हुआ। लेकिन लड़ाई के सबसे संकटपूर्ण दिनों में वे सरकार के प्रति वफादार रहे। भारत ने अंग्रेजों को जन-धन और सामान की हर संभव सहायता दी लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद कुछ संवैधानिक रियायतें प्राप्त करने की महत्वाकांक्षाएँ, भारतीय युद्ध-प्रयत्नों का स्वाभाविक परिणाम थीं। भारतीय जनता को संतुष्ट करने के लिए लायड जार्ज के मंत्रिमंडल में भारत के लिए नए विदेश सचिव एडविन मांटेग्यू ने 20 अगस्त 1917 को हाउस आफ कामन्स में भारत के भविष्य के लिए ऐतिहासिक घोषणा की। यह घोषणा थी—“सम्राट की

नोट

सरकार की नीति, जिसके साथ भारत सरकार पूरी तरह सहमत है, यह है कि प्रशासन के हर क्षेत्र के साथ ज्यादा-से-ज्यादा भारतीयों को संबद्ध किया जाए और स्वाशासक संस्थानों का क्रमिक विकास किया जाए ताकि, ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न अंग के रूप में भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो सके।” उसी साल नवंबर में मांटैग्यू स्थिति का अध्ययन करने और समय की आवश्यकताओं का अंदाजा लगाने के लिए स्वयं भारत आया। वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड के साथ सलाह-मशविरा करके सुधारों का एक कार्यक्रम तैयार किया गया। यह सुधार गवर्नमेंट आफ इंडिया बिल में रखे गए जो 1919 में दिसंबर मास में एक्ट बन गया। आमतौर पर यह एक्ट मांटैग्यू-चैम्सफोर्ड या मॉंटफोर्ड सुधार के नाम से जाना जाता है या फिर इसे गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट 1919 कहा जाता है। यह एक्ट बहुत ही नाजुक समय से पास किया गया। 1918 के अंत में लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। भारत द्वारा पूरी वफादारी से दी गई मदद को भूलते हुए लेकिन यह अनुमान लगाते हुए कि समाप्ति पर राष्ट्रवादी आंदोलन छिड़ेगा, सरकार ने भारत पर दमन और अंकुश लगाने की कार्रवाई करने का फैसला किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रौलेट बिल तैयार किए गए। इनके कारण अंग्रेजों के खिलाफ गांधी जी की अंतरात्मा ने आवाज उठाई। उन्होंने रौलेट बिलों के विरुद्ध शांतिपूर्ण आंदोलन छेड़ा लेकिन सरकार ने दमनचक्र चला दिया।



उदाहरण इसकी पराकाष्ठा थी जलियांवाला बाग की दुखद घटना जहाँ सरकार ने निहत्थे लोगों को मौत के घाट उतार दिया। इनमें बच्चे, बूढ़े, औरतें सभी थे, जो शांतिपूर्ण आंदोलन की एक सभा में शामिल होने के लिए आए थे।

जब 1919 का एक्ट लागू हुआ तो राजनीतिक वातावरण बहुत निराशाजनक था, जिसमें इस बात के लक्षण मिलते थे कि विदेशी शासन के विरुद्ध भविष्य में और गंभीर और तीव्र संघर्ष करना होगा।

1919 के एक्ट में केंद्र और प्रांतों के बीच अधिकारों को बांटने की व्यवस्था थी। केंद्र के अधिकार क्षेत्र के विषयों में थे रक्षा, विदेश-संबंध, भारतीय रियासतों के साथ संबंध, रेलवे, डाक तथा तार, मुद्रा और सिक्के, अखिल भारतीय सेवाएं, दीवानी और फौजदारी कानून तथा संहिता, साम्राज्य का राजस्व, सार्वजनिक ऋण और गिरजाघरों का संचालन। प्रांतीय विषयों में शामिल थे स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, सफाई और जनस्वास्थ्य, सार्वजनिक-निर्माण-कार्य, कृषि; आबकारी, मत्स्यपालन और सहकारी सोसाइटियाँ, अकाल सहायता, भूराजस्व-प्रशासन, सिंचाई, वन-विभाग, न्याय-प्रशासन, पुलिस, जेल इत्यादि। जो विषय प्रांतों को नहीं दिये गए वे केंद्र के थे। जिस प्रकार अधिकार और विषय बांटे गए थे उसी प्रकार आमदनी के साधनों का भी बंटवारा किया गया। केंद्र की आमदनी के मुख्य साधन थे, आयकार, तटकर, रेलवे, डाक-तार, अफीम और नमक। प्रांतों की आय भूराजस्व, आबकारी, सिंचाई, वनों, टिकटों और रजिस्ट्री फीस से होती थी।

अधिकार क्षेत्रों और आमदनी के इस बंटवारे ने भारत को एक संघ नहीं बनाया। केंद्र के अधिकार इतने प्रबल थे कि उसके फैसले अंतिम माने जाते थे और इनका पालन करना प्रांतों के लिए अनिवार्य था। फिर चाहे ये फैसले केंद्र के विषय या प्रांतों के विषय से ही संबद्ध क्यों न हों।

1919 के एक्ट में केंद्र के लिए विधान परिषद् के दो सदनों की व्यवस्था थी। निचले सदन का नाम विधान सभा और उच्च सदन का नाम राज्य परिषद् था। राज्य परिषद् की सदस्य संख्या 60 थी जिसमें से 33 निर्वाचित और 27 नामजद सदस्य थे। विधान सभा में सदस्य संख्या 145 थी जिनमें से 103 निर्वाचित और बाकी सदस्य नामजद थे। नामजद सदस्यों में से 25 सरकारी और शेष गैर-सरकारी सदस्य थे। 103 निर्वाचित सदस्यों में से 51 सदस्य साधारण निर्वाचन क्षेत्रों के, 30 मुसलमान निर्वाचन क्षेत्रों के, दो सिख निर्वाचन क्षेत्रों के और 20 विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के; जैसे यूरोपीय, जमींदारों और भारतीय वाणिज्य क्षेत्रों के थे। निचले सदन का कार्यकाल तीन साल और उच्च सदन का पांच साल था। चुनाव सीधे मतदान द्वारा कराए जाते थे लेकिन मताधिकार सीमित था—1920 में राज्य परिषद् के लिए मतदाताओं की संख्या कुल 17,000 से थोड़ी ज्यादा थी और विधानसभा के लिए यह संख्या 9 लाख से कुछ अधिक थी।

हालांकि केंद्रीय विधान-मंडल को काफी ज्यादा कानून बनाने के अधिकार थे फिर भी गवर्नर-जनरल को जो बड़े अधिकार दिए गए थे उनके कारण कानून बनाने के मामलों में उसका दर्जा सर्वोच्च था। ‘ब्रिटिश भारत या उसके

नोट

किसी भी भाग की सुरक्षा और 'शांति' के नाम पर वह बहुत कुछ कर सकता था। कुछ विषयों के बारे में कोई बिल पेश करने के लिए उसकी अनुमति लेना जरूरी था। सुरक्षा और शांति के नाम पर वह किसी भी बिल को किसी भी चरण में रोक सकता था। यदि विधान परिषद् कोई ऐसा कानून नहीं बनाती थी जिसे वह चाहता था, तो उसे, वे कानून स्वयं बनाने का अधिकार था। किसी आपात स्थिति का मुकाबला करने के लिए गवर्नर-जनरल अध्यादेश जारी कर सकता था जो छः महीने के लिए कानून की तरह लागू रह सकते थे। विधान परिषद् द्वारा पास किए किसी भी बिल आदि के लिए उसकी सहमति आवश्यक थी। इस संबंध में वह अपनी सहमति दे सकता था, या पुनर्विचार के लिए बिल लौटा सकता था या सम्राट के विचार के लिए उसे सुरक्षित रख सकता था। अंत में, 1919 के एक्ट के अंतर्गत, ब्रिटिश शासक को, गवर्नर-जनरल या विधान परिषद् के किसी भी कार्य को नामंजूर कर देने का सर्वोच्च अधिकार था।

कार्यपालिका के इतने अधिक प्रभुत्व के सामने विधानपालिका शक्तिहीन थी। विधान सभा को बजट पास करने का अधिकार दिया गया था लेकिन इस मामले में भी कार्यपालिका का बोलबाला था। विधानसभा को कुछ मदों के बारे में विचार करने या उस पर मत देने का कोई अधिकार नहीं था। विधानसभा ने बजट में से किसी मद को निकालना यदि आवश्यक समझा तो गवर्नर-जनरल को उस मद को बजट में वापस रखने का अधिकार था। आपात स्थिति में गवर्नर-जनरल विधान सभा की इच्छाओं की परवाह न करते हुए, खर्च पास कर सकता था। इस प्रकार 1919 के एक्ट ने सिद्धांत रूप में तो केंद्रीय विधान परिषद् को काफी अधिकार दिए थे, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से उस पर कई प्रतिबंध भी लगा दिए थे।

अंदरूनी तौर पर तो विधानसभा में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था, लेकिन इन सदस्यों को सांप्रदायिक गुटों में बांटा गया था। यह एक ऐसी प्रणाली थी जो संसदीय जीवन के सभी सिद्धांतों के बिल्कुल विपरीत थी।

प्रांतों के बारे में 1919 के एक्ट में नई प्रशासन प्रणाली लाई गई, जो द्वैध शासन प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध है। इसका उद्देश्य प्रांतीय स्तर पर सीमित रूप से भारतीयों को कुछ जिम्मेदारी सौंपना था। उस समय ब्रिटिश भारत के पूरे आठ प्रांत थे—बंगाल, बंबई, मद्रास, संयुक्त प्रांत, बिहार और उड़ीसा, पंजाब, मध्य प्रांत और असम। प्रत्येक प्रांत एक गवर्नर के अधीन था। प्रांतों के विषय दो हिस्सों में बंटे हुए थे, एक सुरक्षित विषय और दूसरा सौंपे हुए विषय अथवा हस्तांतरित विषय। सुरक्षित विषय, गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् के हाथ में थे। सौंपे हुए विषयों का संचालन गवर्नर को अपने मंत्रियों के साथ मिलकर करना था। सुरक्षित विषयों की सूची में थे वित्त, भू राजस्व, न्याय, पुलिस, जेल, अकाल सहायता, सिंचाई और जल मार्ग, समाचारपत्रों का नियंत्रण, छापाखाने और पुस्तकें, फैक्टरियों और खानों का निरीक्षण, श्रमिक कल्याण और औद्योगिक विवाद, सार्वजनिक सेवाएं निषिद्ध क्षेत्र, एंजेंसी कार्य आदि। सौंपे गए या हस्तांतरित विषयों में थे—स्थानीय प्रशासन, शिक्षा, चिकित्सा-प्रशासन, जन स्वास्थ्य और सफाई, कृषि, आबकारी, सार्वजनिक निर्माण, औद्योगिक विकास, पशु चिकित्सा-विभाग, मत्स्यपालन और सहकारी समितियाँ।

द्वैध प्रशासन प्रणाली एक सिद्धांत पर आधारित थी। किसी भी प्रांत का गवर्नर सुरक्षित विषय संबंधी अधिकारों का प्रयोग करते हुए, गवर्नर-जनरल, विदेश सचिव और ब्रिटिश संसद के माध्यम से ब्रिटेन की जनता के प्रति उत्तरदायी था। सौंपे गए अथवा हस्तांतरित अधिकारों का प्रयोग करते समय गवर्नर और उसके मंत्री निर्वाचित विधान परिषदों के माध्यम से प्रांतों के मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी थे। प्रांतों के मंत्रियों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण कम कर दिया गया और उधर प्रांतीय मंत्री अपने-अपने सौंपे गए विषयों संबंधी अधिकारों के अनुसार कार्य करते थे। इस प्रणाली के जरिए भारतीयों को कुछ जिम्मेदारी सौंपने का प्रयोग किया गया।

मंत्री, प्रांतीय विधानमंडलों के थे। एक्ट के अनुसार, हर गवर्नर के प्रांत में एक विधान परिषद् की व्यवस्था थी जिसमें कार्यकारी परिषद् के सदस्य, गवर्नर द्वारा नामजद सदस्य और निर्वाचित सदस्य थे। कम से कम 70 प्रतिशत सदस्यों का निर्वाचित होना आवश्यक था। विधान परिषद् का कार्यकाल तीन वर्ष था, यदि इससे पहले यह भंग न कर दी जाए। विधान परिषदों की सदस्य संख्या अलग-अलग प्रांतों के लिए भिन्न-भिन्न थी। इस एक्ट में विधानमंडलों की सदस्य संख्या को बढ़ाने की व्यवस्था तो थी लेकिन इसमें दूसरे सदन की व्यवस्था नहीं की गई थी। सिद्धांत रूप में विधानमंडलों को समुचित अधिकार दिए गए थे। लेकिन वास्तव से इनमें से अधिकांश अधिकार कुछ अन्य बातों के कारण निष्फल किए जा सकते थे। विधानमंडलों को, साधारण संसदीय अर्थों में कार्यपालिका पर नियंत्रण का

नोट

कोई अधिकार नहीं था। मंत्रियों की नियुक्ति गवर्नर द्वारा होती थी और वे इस पद पर केवल तभी तक बने रह सकते थे जब तक कि गवर्नर चाहता था।

प्रांतीय प्रशासन और प्रांतों के कानूनों के मामले में गवर्नर की सत्ता सर्वोच्च थी। विधानमंडलों में बजट पेश किए जाते थे लेकिन यदि सुरक्षित विषयों में से किसी एक के संबंध में कोई मांग सदन ने स्वीकार करने से इन्कार किया, तो गवर्नर उस खर्च की मंजूरी दे सकता था। वह आपात स्थिति के बहाने कोई भी खर्च मंजूर कर सकता था। 1919 के एक्ट ने गवर्नर को अधिकार दिए कि विधान परिषद् द्वारा पास किए गए किसी भी बिल पर वह अपनी सहमति दे सकता था या सहमति रोक भी सकता था, अपना पुनर्विचार के लिए बिल को लौटा सकता था या गवर्नर-जनरल के विचार के लिए इसे रोककर रख सकता था। सुरक्षित विषयों के बारे में गवर्नर स्वयं भी बिल की सिफारिश कर सकता था। यदि विधानमंडल इसे पास करने में इनकार कर दे तो गवर्नर प्रमाणित कर सकता था कि बिल पास हो गया। प्रांतीय विधानमंडलों द्वारा पास किए गए सभी बिलों को गवर्नर-जनरल की सहमति की आवश्यकता होती थी। मंत्रियों के साथ अपने संबंधों के मामले में गवर्नर, हस्तांतरित या सौंपे गए विषयों के बारे में मंत्रियों की सलाह मान सकता था लेकिन उसे इस सलाह को टुकरा देने और अपनी मर्जी से काम करने का अधिकार था। इस प्रकार प्रांतीय विधानमंडलों और प्रांतों के मंत्रियों को केवल सीमित अधिकार मिले हुए थे, क्योंकि सभी मामलों में गवर्नर के अधिकार इससे कहीं ज्यादा थे।

1919 के एक्ट में प्रांतीय विधानमंडलों के लिए सीधे चुनावों की व्यवस्था थी। लेकिन सदस्यों को चुनने के लिए मतदाताओं की संख्या बहुत थोड़ी थी। मताधिकार प्राप्त करने के लिए काफी जायदाद का मालिक होना जरूरी था। इसके अलावा लोगों में फूट डालने के लिए संप्रदाय और वर्गों के आधार पर निर्वाचक मंडल बनाए गए थे। लोग मुसलमान, यूरोपीय, एंग्लो-इंडियन, भारतीय-क्रिश्चियन, सिख यहाँ तक कि गैर-ब्राह्मण (उदाहरण के लिए मद्रास में) के तौर पर वोट डालने जाते थे।

द्वैध शासन प्रणाली में एक संवैधानिक सरकारी व्यवस्था के रूप में कई कमियाँ देखने को मिलीं। प्रांतों के अधिकारों को सुरक्षित और हस्तांतरित विषयों में बांटने से कई पेचीदगियाँ पैदा हुई जिससे प्रशासन की एकरूपता टूट गई। यह एकरूपता का जामा पहनाने के लिए गवर्नर ने कुछ अतिरिक्त एहतियात बरतीं, जिनके कारण यह अपने अधिकारों से और भी बड़ा हो गया। गवर्नर और उसकी परिषद् तथा गवर्नर और उसके मंत्रियों ने दो परस्पर विरोधी गुटों के रूप में काम करना शुरू किया। हालांकि दोनों के कार्यक्षेत्र निर्धारित थे फिर भी कुछ कार्य ऐसे थे जो दोनों ही करते थे। इसलिए विवाद उठना अनिवार्य बन गया। अधिकारीगण, विधानमंडलों में भारतीय मंत्रियों के मुकाबले, कार्यकारी परिषद् से अंग्रेज सदस्यों के प्रति ज्यादा वफादारी दिखाते थे। संवैधानिक परिस्थितियों के कारण मंत्री बड़ी कठिन स्थिति में पड़ गए थे। कोई ऐसा संगठित दल नहीं था जिसमें वे एक संसदीय तौर-तरीके के अनुसार शामिल होते। नीति संबंधी मामलों में इन मंत्रियों के बीच कोई आपसी तालमेल अथवा समन्वय नहीं था, कोई संयुक्त उत्तरदायित्व नहीं था। विधान परिषद् में गवर्नर और उसकी सरकार के कार्यों की आलोचना का समाना भी उन्हें ही करना होता था। इसके अलावा गवर्नर अपने मंत्रियों को पूरा-पूरा समर्थन नहीं देता था। वित्त संबंधी मामले चूंकि सुरक्षित विषयों की सूची में आते थे इसलिए मंत्रालय अपने-अपने कार्यक्रम चलाने में असमर्थ रहते थे और अधिकांश समय उन्हें अपनी नीतियों को कार्यरूप देने के लिए आवश्यक राशि प्राप्त करना बड़ा कठिन हो जाता था। स्थायी सचिवों का मंत्रियों के साथ यदि कभी मतभेद हो जाए तो उन्हें गवर्नर का संरक्षण प्राप्त था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में मंत्री संविधान द्वारा सौंपी गई जिम्मेदारियों को निभाने में अपने आपको बहुत असमर्थ महसूस करते थे। विधान परिषदों की भी स्थिति बड़ी नाजुक थी। उन्हें विचार अभिव्यक्त करने की संसदीय स्वतंत्रता मिली हुई थी। वे सवाल पूछ सकते थे, प्रस्ताव पेश कर सकते थे, स्थगन प्रस्ताव रख सकते थे और मंत्रियों के आचरण की आलोचना कर सकते थे, लेकिन मंत्रियों को हटा नहीं सकते थे। विधान परिषद् में अविश्वास प्रस्ताव को स्वीकृत कराकर मंत्री को नहीं हटाया जा सकता था। जब तक गवर्नर चाहता था, मंत्री अपने पद पर बना रह सकता था।

फिर भी इन सब त्रुटियों और दोषों के होते हुए 1919 का एक्ट भारत के सांविधानिक विकास की दिशा में एक और कदम था और इस बिल से सरकार की जो प्रणाली शुरू हुई वह तब तक चलती रही जब तक कि 1935 में इससे अच्छी प्रणाली लागू नहीं की गई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. ई. में पहला विश्व-युद्ध छिड़ गया।
 (क) 1915 (ख) 1920
 (ग) 1914 (घ) 1912
6. जनवरी 1915 ई. में अफ्रीका से भारत लौटे।
 (क) नेहरूजी (ख) गाँधीजी
 (ग) शास्त्रीजी (घ) भगतसिंह
7. 1919 के एक्ट के अंतर्गत कार्यपालिका के के सामने विधानपालिका शक्तिहीन थी।
 (क) कार्य (ख) उद्देश्य
 (ग) प्रभुत्व (घ) महत्त्व
8. द्वैध शासन-प्रणाली एक पर आधारित थी।
 (क) महत्त्व (ख) शक्ति
 (ग) संरचना (घ) सिद्धांत

14.3 1919 से 1935 तक की राजनीतिक घटनाएँ (Political Events during 1919 to 1935)

1919 ई. के एक्ट और 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के बीच 15 वर्ष की अवधि थी। इस अवधि में गांधीजी के आंदोलन की शुरुआत, उसका विकास और उसकी तर्कसंगत परिणति हुई। जैसे ही 1919 ई. का एक्ट पास किया गया, नेशनल कांग्रेस ने इसे 'अपर्याप्त, असंतोषजनक और निराशाजनक' घोषित किया। कांग्रेस, रचनात्मक सहयोग के लिए तैयार थी लेकिन सब-कुछ राजनीतिक घटनाओं पर निर्भर था।



क्या आप जानते हैं? 1920 में भारतीय मुसलमानों ने अंग्रेजों के खिलाफ देशव्यापी आंदोलन छेड़ दिया, जो खिलाफत आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध है।

इसे पूरा समर्थन देते हुए गांधीजी ने अपना असहयोग आंदोलन शुरू कर दिया और घोषणा की कि “सरकारी रवैये के कारण उनके लिए ऐसी सरकार के साथ सहयोग जारी रखना असंभव है, जिसने इतनी असैद्धांतिक कार्रवाई की है और जिसके लिए न तो उनके मन में आदर और न ही स्नेह बना रह सकता है।” इस आंदोलन के कारण दिसंबर 1921 तक लगभग 40 हजार लोग जेलों में ठूस दिए गए थे। यह स्थिति थी उस साल के अंत में, जिसके शुरू में 1919 का एक्ट लागू किया गया था।

1922 के प्रारंभ में सयुक्त प्रांत के चौरी-चौरा नामक स्थान पर हिंसा की एक वारदात के कारण गांधीजी ने अपना आंदोलन स्थगित कर दिया। इस घटना में लोगों की भीड़ ने 22 पुलिस कर्मचारियों को मार डाला था। गांधीजी चाहते थे कि उनका आंदोलन पूरी तरह अहिंसात्मक हो और उनके अनुयायी बहुत उच्च स्तर के अनुशासन का पालन करें। 1922 से गांधीजी ने लोगों में अपने अंतिम उद्देश्य के लिए जागृति पैदा करते हुए विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों के विरुद्ध लोगों की चेतना जगाने में अपनी शक्ति लगा दी। कांग्रेस का आंदोलन और उसकी विचारधारा भारत के कोने-कोने में फैल गई और इनसे जनसाधारण को प्रेरणा मिली।

जन अशांति का अगला दौर 1928 में शुरू हुआ जब ब्रिटिश सरकार ने 1919 के संविधान के कार्य की जांच करने और आगे की कार्रवाई के संबंध में सुझाव देने के लिए सर जान साइमन के अधीन एक आयोग नियुक्त किया।

नोट

हालांकि भारतीय एक लंबे अरसे से क्रांतिकारी सुधारों के लिए अपनी आवाज बुलंद करते रहे थे फिर भी साइमन आयोग में किसी भी भारतीय को नहीं लिया गया। यदि इस आयोग का उद्देश्य संविधान के कार्य का अध्ययन करना और कोई बेहतर संविधान तैयार करना था तो भारतीयों को इस आयोग से अलग रखना भारत के प्रति एक गंभीर अन्याय समझा गया। सारे देश में तत्काल साइमन कमीशन का बहिष्कार आरंभ हो गया और यह बहिष्कार सफल हुआ। भारत में साइमन जहाँ कहीं भी गया उसे यही नारा सुनने को मिला : 'साइमन वापस जाओ।'

इस बीच कांग्रेस, क्रांति की दिशा में अग्रसर हो रही थी और गांधीजी अपना अगला कदम उठाने की तैयारी कर रहे थे। दिसंबर, 1922 में पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर में कांग्रेस की सभा हुई जिसमें स्वाधीनता के बारे में एक प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रस्ताव में निर्देश दिया गया कि 'अब से सभी कांग्रेसजन भारत की पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अपना पूरा-पूरा जोर लगा देंगे।' देश में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने का फैसला किया गया।

गांधीजी ने इस आंदोलन का शुभारंभ अपनी ऐतिहासिक डांडी यात्रा से किया। उन्होंने सरकार के नमक कानून को तोड़कर गुजरात के तटवर्ती स्थान डांडी तक साबरमती आश्रम से यात्रा की और नमक बनाया। कुछ ही महीनों के अंदर-अंदर कोई 60 हजार लोग कानून तोड़ने के अपराध में ब्रिटिश भारत की जेलों में ठूस दिए गए।

जब भारत इस तरह के लगभग विद्रोह और क्रांति के दौर से गुजर रहा था तभी साइमन आयोग ने जून 1930 में अपना काम पूरा कर लिया और भारत के एक नए संघीय गठन की सिफारिश की, जिसके अंतर्गत गवर्नरों के नियंत्रणाधीन प्रांतों को स्वायत्तता दी गई थी। नवंबर 1930 में ब्रिटिश सम्राट ने लंदन में पहले गोलमेज सम्मेलन का उद्घाटन किया, जिसमें भारत के लिए आगे की सांविधानिक व्यवस्था पर विचार शुरू हुआ। सम्मेलन की अध्यक्षता प्रधानमंत्री रामसे मैकडोनाल्ड ने की। इस सम्मेलन में ब्रिटिश भारत के 57 प्रतिनिधि थे, 16 भारतीय रियासतों के और 16 उन ब्रिटिश पार्टियों के थे जो सम्मेलन में भाग ले रही थीं। लेकिन चूंकि इस सम्मेलन में नेशनल कांग्रेस भाग नहीं ले रही थी इसलिए सम्मेलन के निर्णय अर्थहीन थे। आखिरकार गांधीजी के साथ कोई समझौता करके उन्हें लंदन लाने की कोशिशें की गईं। सितंबर 1931 में गांधी जी ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया, लेकिन बुनियादी मामलों पर मतभेद बहुत ज्यादा थे। गांधीजी के विचार से तो मूल उद्देश्य एक संविधान तैयार करना था, लेकिन अंग्रेजों के विचार से सबसे पहली समस्या सांप्रदायिकता की थी। गांधीजी दिसंबर 1931 में भारत लौट आए और उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर शुरू कर दिया। सरकार ने जबर्दस्त दमनचक्र चलाकर बदले की कार्रवाई की। विंस्टन चर्चिल और उनके कंजरवेटिव साथियों ने इन कार्रवाइयों पर शाबाशी दी और इन्हें 1857 के विद्रोह के बाद सबसे अधिक संतोषजनक दृढ़ता का प्रदर्शन बताया।

अगस्त, 1932 में जब रामसे मैकडोनाल्ड ने अपना कुख्यात सांप्रदायिकता संबंधी निर्णय घोषित किया तो हालात और बिगड़ गए। इस निर्णय में कहा गया कि मुसलमान, यूरोपीय और सिख मतदाता अलग-अलग सांप्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान करके उम्मीदवार चुनेंगे। लेकिन इस निर्णय का मूल उद्देश्य दलित वर्गों को बाकी हिंदुओं से अलग करना था। घोषणा की गई कि 'विशेष निर्वाचन क्षेत्रों में चुनावों से कई विशेष स्थानों की पूर्ति की जाएगी। इन विशेष निर्वाचन क्षेत्रों में केवल दलित वर्ग के वे सदस्य मतदान करेंगे, जिन्हें मताधिकार प्राप्त होगा।' इस कदम को विफल करने के लिए गांधीजी ने आमरण अनशन शुरू किया। उनका कहना था कि जब तक सभी मतदाताओं को समान स्तर का नहीं माना जाता तब तक अनशन जारी रहेगा। पूना संधि (25 सितम्बर) पर हस्ताक्षर होने के साथ ही गांधीजी ने अपना अनशन समाप्त किया। इस संधि में सिद्धांत रूप में यह मान लिया गया कि सभी हिंदुओं के लिए एक निर्वाचक मंडल होगा और दलित वर्ग के लिए काफी स्थान सुरक्षित रखे जाएंगे।

इसके बाद शीघ्र ही नवंबर 1932 में लंदन में तीसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ, लेकिन इसमें भी कांग्रेस के प्रतिनिधियों को नहीं बुलाया गया। सम्मेलन में लिए गए निर्णयों को मार्च 1933 में एक श्वेतपत्र में जारी किया गया। ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति ने श्वेतपत्र में रखे गए प्रस्तावों पर विचार किया। इस श्वेतपत्र के आधार पर दिसंबर 1934 में एक बिल तैयार करके संसद में लाया गया जो 2 अगस्त 1935 को गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के रूप में पास कर दिया गया। इस दौरान सविनय अवज्ञा आंदोलन क्षीण हो चुका था।

14.4 गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1935 (Government of India Act-1935)

नोट

1935 का गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट ब्रिटिश संसद द्वारा भारत के लिए तैयार किए गए सांविधानिक प्रस्तावों में अंतिम था। हालांकि इसमें भी भारत पर सर्वोच्च सत्ता ब्रिटिश शासक की ही बताई गई थी फिर भी कुछ क्षेत्रों में निरंकुश शासन में कुछ ढील देकर लोकप्रिय सरकार का पक्ष लिया गया। लंदन की बदनाम इंडिया काउंसिल समाप्त कर दी गई लेकिन विदेश सचिव के हाथ में संपूर्ण नियंत्रण था, हालांकि पुरानी परिषद् की जगह उसे नया सलाहकार मंडल दिया गया था। सिद्धांत रूप में, प्रांतीय स्वायत्तता को देखते हुए विदेश सचिव को स्थानीय मामलों में कुछ नरमी बरतने को कहा गया था लेकिन वास्तव में यदि वह चाहता तो अपना आधिपत्य जमाए रख सकता था। विदेश सचिव की सर्वोच्च सत्ता पुराने जमाने की तरह ब्रिटिश शासन के अंत तक बनी रही, हालांकि एक गोरा मुगल कहलाने वाले व्यक्ति को परिस्थितियों ने पहले की अपेक्षा कम शक्तिशाली नजर आने पर मजबूर कर दिया। इस तरह के परस्पर विरोधाभास 1935 के संविधान की विशिष्ट बातें थीं।

संविधान की सबसे प्रमुख बात थी एक अखिल भारतीय संघ बनाने का विचार। इस संघ में शामिल किए जाने थे गवर्नरों के प्रांत, मुख्य आयुक्तों यानी चीफ कमिश्नरों के प्रांत और वे भारतीय रियासतें जो इसमें शामिल होना चाहें। बर्मा के भारत से अलग हो जाने और उड़ीसा तथा सिंध के दो नए प्रांत बनाने से गवर्नरों के प्रांतों की संख्या 11 हो गई। ये प्रांत थे—असम, बंगाल, बिहार, बंबई, मध्य प्रांत, मद्रास, उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत, उड़ीसा, पंजाब, सिंध और संयुक्त प्रांत। चीफ कमिश्नरों के प्रांत थे—अजमेर-मारवाड़, अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह, ब्रिटिश बलूचिस्तान, कुर्ग, दिल्ली और पंथ पिलोदा। ऊपर दिए गए प्रांतों के लिए अखिल भारतीय संघ में शामिल होना अनिवार्य था लेकिन तीसरे किस्म यानी भारतीय रियासतों के लिए यह स्वैच्छिक था। यदि एकतंत्रवादी रजवाड़े लोकतंत्रात्मक भारतीय प्रांतों के संघ में शामिल होने से हिचकिचाए तो यह अस्वाभाविक नहीं था। वे इस अखिल भारतीय संघ में शामिल नहीं हुए और जिस संघ की बहुत आशाएं लगाई गई थीं, वह कभी न बना। तो इस तरह संविधान का काफी हिस्सा परस्पर विरोधी ही बना रहा। इस तरह की परस्पर विरोधी स्थिति की एकमात्र अच्छी बात यह थी कि हालांकि यह संघ नहीं बनाया जा सका फिर भी संघीय व्यवस्था की कुछ बातें स्पष्ट रूप से नजर आ रही थीं। ये बातें थीं संविधान का लिखित होना, संघीय प्रांतीय और समवर्ती सूचियों में अधिकारों का बांटा जाना और संघीय अदालत का सर्वोच्च दर्जा रखा जाना। यह अदालत इसी एक्ट के अंतर्गत स्थापित की गई थी। संविधान के संघीय मामलों से संबद्ध हिस्से में यह व्यवस्था थी कि केंद्र में एक संघीय कार्यपालिका और संघीय विधानपालिका होगी और इस प्रकार दोहरी शासन प्रणाली रहेगी।



सावधानी

1935 का एक्ट तैयार करने वाले अच्छी तरह जानते थे कि 1919 ई. के एक्ट के अंतर्गत प्रांतों में लागू की गई द्वैध शासन प्रणाली बुरी तरह विफल हुई है। फिर भी वे इसी प्रणाली को केंद्र में लागू करने का प्रयोग चाहते थे और ऐसा करते समय उन्हें संघीय अधिकारों को, सुरक्षित और हस्तांतरित अथवा सौंपे गए विषयों में बांटना पड़ा।

साथ ही उन्हें दो तरह के प्रशासकों को रखना पड़ा। एक तो गवर्नर-जनरल और उनके पार्षद और दूसरे गवर्नर-जनरल और उनके मंत्री। एक्ट की इन व्यवस्थाओं पर विचार करना जरूरी नहीं है, क्योंकि यह कभी लागू नहीं हुई। केंद्र में वही पुरानी प्रणाली जारी रही।

1935 ई. के एक्ट का वास्तविक महत्त्व उन परिवर्तनों में है, जो प्रांतीय क्षेत्रों में आया। जब संविधान का प्रांतीय क्षेत्रों से संबद्ध अंश लागू हुआ तो उससे होने वाले परिवर्तनों को ब्रिटिश-भारतीय प्रांतों में कार्यरूप देकर देखा गया। उस समय के द्वैध शासन की प्रणाली खत्म कर दी गई। इस प्रणाली के अंतर्गत अधिकारों का बंटवारा, सुरक्षित और सौंपे गए विषयों में किया गया था, अब इसके बजाय प्रांतीय प्रशासन के सभी विषय मंत्रियों के हाथों में सौंप दिए गए और मंत्री एक निर्वाचित विधान परिषद् के थे, जो उसी परिषद् के प्रति उत्तरदायी थे। प्रांतीय अधिकारों का भारतीय निर्वाचित मंत्रियों को सौंपा जाना और इससे संबद्ध जिम्मेदारियों से, प्रांतों की कुछ अपनी ही विशेषता बन गई। इस

नोट

व्यवस्था से जो शासन प्रणाली शुरू हुई वह इतिहास में 'प्रांतीय स्वायत्ता' के नाम से प्रसिद्ध हुई है। लेकिन बहुत ज्यादा अधिकार गवर्नरों के पास होने से, हर मंत्रिमंडल पूरी तरह प्रभावशाली नहीं था। फिर भी भारतीयों को सत्ता सौंपने की दिशा में यह प्रणाली एक प्रयोग थी। इसके अलावा 1935 ई. के एक्ट तक प्रांतों पर हर पहलू से केंद्र का नियंत्रण था और वे एकात्मक प्रणाली का अंग थे। लेकिन नई प्रणाली के अधीन हर प्रांत अपने आप में एक इकाई बन गया और केंद्र की तरह उसे भी एक ही संविधान से कानूनी अधिकार प्राप्त हुए।

प्रांत का प्रभुत्व कार्यकारी अधिकारी गवर्नर था। वह अपने विवेक से काम लेकर अधिकारों का उपयोग कर सकता था और उसे ऐसा करते समय अपने मंत्रियों से परामर्श करने की जरूरत नहीं थी। यदि मंत्रियों से सलाह ली भी जाती थी तो गवर्नर अपने अधिकारों का प्रयोग अपने व्यक्तिगत अनुमानों और निर्णयों के अनुसार करता था और मंत्रियों की सलाह मानना उसके लिए अनिवार्य नहीं था। इसके अलावा वह अपने अधिकारों का इस्तेमाल मंत्रियों की सलाह पर करता था। तीन तरह के इन अधिकारों ने गवर्नर को सर्वोच्च बना दिया था। अपने विवेक से कार्य करने के उसके कई और व्यापक अधिकार थे, जिनमें किसी बिल पर विचार रुकवा देना और यदि कभी संवैधानिक व्यवस्था भंग होती है तो सभी अधिकार अपने हाथ में ले लेना भी शामिल था। गवर्नर जब व्यक्तिगत रूप से निर्णय लेकर कोई काम करता था तब अल्पसंख्यकों, सरकारी सेवाओं के कर्मचारियों, ब्रिटिश नागरिकों और रजवाड़ों इत्यादि के हितों की रक्षा करने जैसी बहुत-सी विशेष जिम्मेदारियां भी निभाता था।

गवर्नर को कार्यपालिका के ऐसे अधिकार देते हुए और साथ ही विधानमंडल की बैठक बुलाने या उसका सत्रावसान करने, या विधानसभा भंग करने या गवर्नर एक्ट पास करने और अध्यादेश जारी करने जैसे विधानपालिका के अधिकार देते हुए 1935 ई. के एक्ट ने गवर्नर की सहायता और परामर्श के लिए मंत्रिपरिषद् की स्थापना की। ये मंत्री विधानमंडल के सदस्य थे, गवर्नर उनकी नियुक्ति करता था और वह गवर्नर की इच्छा रहने तक अपने पद पर बने रह सकते थे। लेकिन चूंकि ये मंत्री एक निर्वाचित विधानमंडल के सदस्य थे और उसी के प्रति उत्तरदायी थे इसलिए विधानमंडल अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें निकाल सकता था या पद से हटा सकता था। मंत्रियों की नियुक्ति करते समय गवर्नर, विधानमंडल में बहुमत वाली पार्टी के नेता से सलाह लेता था। मंत्रियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने पदों पर कार्य करते हुए संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांत का पालन करेंगे। प्रांतीय स्वायत्ता का वास्तविक गुण निर्वाचित मंत्रियों को मिले अधिकारों में था। लेकिन 1935 ई. के एक्ट में इस पहलू को लेकर फिर वही पुराने परस्पर विरोधाभास थे। गवर्नर को इतनी अधिक सत्ता मिली हुई थी कि उत्तरदायी मंत्रियों के अधिकार बिल्कुल न के बराबर लगते थे। स्वायत्तता का महत्व और उत्तरदायित्व की प्रणाली इस बात पर निर्भर करती थी कि वास्तविक प्रशासन में गवर्नर के हस्तक्षेप के बिना मंत्री किस हद तक कार्य कर सकते हैं।

1935 ई. के एक्ट के अंतर्गत विधानमंडलों की सदस्य संख्या बढ़ा दी गई। और उनका विस्तार किया गया। असम, बंगाल, बिहार, बंबई, मद्रास और संयुक्त प्रांत के लिए दो-दो सदनों यानी विधान परिषद् और विधानसभा की व्यवस्था की गई। अन्य सभी प्रांतों में केवल एक ही सदन था—विधानसभा। विधानसभाओं के सदस्यों की संख्या अलग-अलग प्रांतों के लिए अलग-अलग थी, जैसे संयुक्त प्रांत के लिए 228, बंगाल : 250, मद्रास : 215, बंबई : 175, पंजाब : 175, बिहार : 175, मध्य प्रांत : 112, उड़ीसा : 60, सिंध : 60 और उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत : 50। एक्ट के अंतर्गत इन विधानसभाओं में कोई सरकारी सदस्य नहीं थे। व्यवस्था थी कि सभी सदस्यों का सीधा चुनाव किया जाएगा। विधान सभा 5 वर्ष के लिए चुनी जाएगी, हालांकि कार्यकाल की समाप्ति से पहले ही गवर्नर इसे भंग कर सकता था।

वोट देने का अधिकार मुख्यतया इस बात पर आधारित था कि किस सदस्य के पास कितनी संपत्ति है। विधानसभाओं के लिए संपत्ति की यह सीमा काफी कम रखी गई थी और इसके परिणामस्वरूप मतदाताओं की संख्या काफी बढ़ गई थी। शैक्षणिक योग्यताएँ भी देखी जाने लगीं। जहाँ ये सभी उपाय लोकतंत्र की ओर प्रगति के सूचक थे वहाँ संविधान ने सांप्रदायिक दलों को प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था जरूरत से ज्यादा कर दी। निर्वाचित विधानमंडलों के सीधे चुनावों, लोकप्रिय मंत्रिमंडलों, बहुमत का शासन और उत्तरदायी सरकार का महत्व, अलोकतंत्रीय सांप्रदायिक तथा वर्गों के आधार पर चुनावों के कारण बहुत कम हो गया। ये 1935 ई. के एक्ट का एक और विरोधाभास था। एक्ट जब लागू किया गया तो इस पर जनता की ओर से कोई बहुत उत्साह नहीं दिखाया गया। इसे स्वीकार किया

जाए या नहीं, इस संबंध में काफी अरसे तक विचार होता रहा और अंत में यह मान लिया गया कि इसे स्वीकार कर लिया जाए।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. 1921 में असहयोग आंदोलन के कारण लगभग चार हजार लोगों को जेल में डाल दिया गया।
10. भारत में साइमन जहाँ भी गया 'साइमन वापस जाओ' का नारा उसे सुनाई दिया।
11. 1931 में पहला गोलमेज सम्मेलन हुआ।
12. गाँधीजी ने 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' का शुभारंभ ऐतिहासिक डांडी यात्रा से किया।

14.5 सारांश (Summary)

- लार्ड कर्जन के जाने बाद अंग्रेजों के खिलाफ भारत में पहला महान सुसंगठित राजनीतिक आंदोलन चला जो स्वदेशी आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध है।
- स्वदेशी आंदोलन से एक तेज राजनीतिक संघर्ष शुरू हो गया। यह आंदोलन 1905 से 1910 तक अपनी पूरी तीव्रता से चला और उन दिनों में भारत पर विदेश सचिव के रूप में जान मार्ले और वायसराय के रूप में मिंटो शासन चला रहे थे।
- विदेश सचिव जान मार्ले और वायसराय लार्ड मिंटो ने 1909 के एक्ट का मसौदा बड़े ध्यान से तैयार किया और एक्ट पास होने से पहले सुधारों के अंतर्गत उन्होंने कुछ उल्लेखनीय कदम उठाए।
- मार्ले-मिंटो सुधारों के जरिए एक बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण ब्रिटिश नीति बन रही थी। यह नीति थी देश के राजनीतिक संवैधानिक ढांचे में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालना।
- 1909 का एक्ट लागू होते ही इसके प्रति आम असंतोष सामने आ गया। कुछ ही वर्षों में बड़ी राजनीतिक घटनाएँ होने लगीं। वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड के साथ सलाह-मशविरा करके सुधारों का एक कार्यक्रम तैयार किया गया। आमतौर पर यह एक्ट माटेग्यू-चैम्सफोर्ड या मोंटफोर्ड सुधार के नाम से जाना जाता है या फिर इसे गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट 1919 कहा जाता है।
- 1919 ई. के एक्ट और 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के बीच 15 वर्ष की अवधि थी। इस अवधि में गांधीजी के आंदोलन की शुरुआत, उसका विकास और उसकी तर्कसंगत परिणति हुई। जैसे ही 1919 ई. का एक्ट पास किया गया, नेशनल कांग्रेस ने इसे 'अपर्याप्त, असंतोषजनक और निराशाजनक' घोषित किया।
- 1935 का गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट ब्रिटिश संसद द्वारा भारत के लिए तैयार किए गए सांविधानिक प्रस्तावों में अंतिम था। लंदन की बदनाम इंडिया कौंसिल समाप्त कर दी गई लेकिन विदेश सचिव के हाथ में संपूर्ण नियंत्रण था, हालांकि पुरानी परिषद् की जगह उसे नया सलाहकार मंडल दिया गया था।

14.6 शब्दकोश (Keywords)

- **आबकारी**— शराबखाना, भट्टी, मादक वस्तुओं के उत्पादन, वितरण, नियंत्रण आदि से संबंध रखने वाला सरकारी विभाग।
- **भू-राजस्व**—जोती-बोई जाने वाली जमीन पर लगने वाला सरकारी कर या लगान।
- **खिलाफत आंदोलन**—किसी वचन या नियम के विरुद्ध आचरण या विद्रोह।

नोट

14.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. 1909 के मार्ले-मिंटो सुधार की विवेचना करें।
2. मांटेग्यू चैम्सफोर्ड सुधार या 1919 के एक्ट की समीक्षा करें।
3. 1919 के इस एक्ट को लाने के उद्देश्य एवं परिणाम की व्याख्या करें।
4. 1919 से 1935 की प्रमुख राजनीतिक घटनाओं का वर्णन करें।
5. 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट का उल्लेख करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|-------------------|----------------|-----------------|-----------------|
| 1. स्वदेशी आंदोलन | 2. मुसलमानों | 3. ढाका | 4. कांग्रेस |
| 5. (ग) 1914 | 6. (ख) गाँधीजी | 7. (ग) प्रभुत्व | 8. (घ) सिद्धांत |
| 9. असत्य | 10. सत्य | 11. असत्य | 12. सत्य |

14.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएण्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
6. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।

नोट

इकाई-15 : औपनिवेशिक राज्य का अंत : प्रजातंत्र की स्थापना (End of the Colonial State : Establishment of Democracy)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

15.1 1935 ई. से भारत की स्वाधीनता तक (From 1935 A.D. to Independence of India)

15.2 ऐतिहासिक तत्व तथा शक्तियाँ जिन्होंने अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर बाध्य किया
(Historical Forces and Factors which Compelled British to Quit India)

15.3 प्रमुख विचारकों के विचार (Opinion of Main Thinkers)

15.4 स्वाधीन भारत का संविधान (Constitution of Independent India)

15.5 सारांश (Summary)

15.6 शब्दकोश (Keywords)

15.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

15.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- 1935 से भारत की स्वाधीनता तक को जानने में;
- ऐतिहासिक तत्व तथा शक्तियाँ, जिसने अंग्रेजों को भारत से हटाया, को जानने में;
- स्वाधीन भारत के संविधान को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

1935 ई. के एक्ट के अनुसार प्रांतीय स्वायत्तता पहली अप्रैल, 1937 ई. को लागू हुई। कांग्रेस ने चुनाव लड़ा लेकिन इसलिए नहीं कि संविधान को उसने स्वीकार कर लिया था और अब उसे आजमाना चाहती थी, बल्कि इसलिए कि चुनावों के जरिये वह यह दिखाना चाहती थी कि जनता पर उसका कितना जबर्दस्त प्रभाव है। चुनावों में भारी सफलता प्राप्त करने के बाद कांग्रेस की अगली समस्या यह थी कि उसे सरकार चलाने का काम स्वीकार करना चाहिए या नहीं। गांधीजी चाहते थे कि गवर्नर-जनरल यह वचन दें कि गवर्नर अपने व्यापक अधिकारों का प्रयोग नहीं करेंगे और अपने मंत्रियों की सलाह पर चलेंगे। इस आशय का एक अनिश्चित-सा आश्वासन अंत में दे दिया गया और कांग्रेस ने शासन चलाना स्वीकार कर लिया। 11 में से 8 प्रांतों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बने।

नोट

15.1 1935 ई. से भारत की स्वाधीनता तक (From 1935 A.D. to Independence of India)

ब्रिटिश निरंकुशवाद के स्वरूप और भारतीय को दिए गए अधिकारों का शक्तिहीन होना, जल्द ही सामने आ गया। एक सितंबर, 1939 ई. को नाजी सेना ने पोलैंड पर हमला किया और 3 सितंबर को इंग्लैंड ने जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। दूसरा विश्व युद्ध छिड़ चुका था। उस समय के वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने तथाकथित स्वायत्त प्रांतों के मंत्रिमंडलों या किसी राजनीतिक पार्टी अथवा व्यक्ति के साथ सलाह किए बिना ही भारत को जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई में झोंक दिया। यह कार्रवाई कांग्रेस की बर्दाश्त से बाहर थी और अक्टूबर में कांग्रेस सरकारों ने त्यागपत्र दे दिए।

इसके बाद घटनाक्रम बहुत तेज हो गया। कांग्रेस के अंदर सुभाष चंद्र बोस ने अंग्रेजों के खिलाफ और अधिक क्रांतिकारी नीतियाँ अपनाने का समर्थन किया। अंग्रेजों के इतिहास के सबसे संकटपूर्ण क्षणों में गांधीजी हमेशा अंग्रेज जनता के प्रति अपनी सहानुभूति और नैतिक समर्थन देना चाहते थे लेकिन देश यह जानना चाहता था कि आखिरकार ब्रिटिश सरकार के मन में है क्या? मार्च, 1940 ई. में लाहौर में मुस्लिम लीग की सभा हुई, जिसमें उसने पाकिस्तान के गठन से संबद्ध प्रस्ताव पास किया। लड़ाई के दिनों में इंग्लैंड के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल थे जिन्होंने युद्ध-प्रयत्नों में भारतीय साधनों का पूरा-पूरा इस्तेमान करने के लिए सारे भारतीय प्रशासन को जुटाया। लेकिन ऐसा करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका इरादा भारतीय आकांक्षाओं की ओर कोई ध्यान देने का नहीं है। स्थिति उनके नियंत्रण से बाहर होती जा रही थी। 1941 तक आते-आते युद्ध बहुत ही नाजुक दौर में पहुंच चुका था। जापान के भी युद्ध में कूद पड़ने से दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया की राजनीतिक स्थिति अनिश्चित हो गई। जापान ने सिंगापुर पर कब्जा कर लिया और बर्मा से होता हुआ आगे बढ़ा। युद्ध, भारत की सीमाओं तक आ पहुंचा था और स्वयं भारत पर हमले का खतरा पैदा हो गया था। जवाहर लाल नेहरू और अन्य लोगों के लिए हमलावर के साथ लड़ाई की घड़ी थी लेकिन उनका विचार था कि भारतीयों को अंग्रेजों का गुलाम बन कर नहीं बल्कि स्वाधीन नागरिक के रूप में लड़ना चाहिए। देश बहुत उतावला हो चुका था। गांधीजी अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं थे, जबकि चर्चिल एक बुत बने हुए बैठे थे। उधर कई तरफ से चर्चिल पर भी दबाव डाला जा रहा था कि वह भारत के साथ कोई समझौता करें। आखिरकार उन्होंने मार्च 1942 ई. में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। लेकिन क्रिप्स निकट भविष्य में स्वाधीनता देने का कोई वचन अपने साथ नहीं लाए। इसकी बजाय उन्होंने जो प्रस्ताव रखे उनमें ऐसी व्यवस्थाएँ थी कि यदि भारतीय रजवाड़े और मुस्लिम लीग चाहती तो भारत को सैकड़ों छोटे-छोटे स्वाधीन हिस्सों में बांटा जा सकता था। क्रिप्स-मिशन की स्वाभाविक अंत्येष्टि गांधीजी ने स्टैफर्ड क्रिप्स से यह कहते हुए कि—“अगर आपके पास यही कुछ देने को था तो आप यहाँ आए क्यों?” क्रिप्स लौट गए। गांधीजी ने अपनी अगली और अंतिम कार्रवाई की तैयारी की।



नोट्स गाँधीजी ने कहा—“मेरा यह दृढ़ मत है कि अब अंग्रेजों को सही ढंग से भारत छोड़कर चले जाना चाहिए और उन्हें वह जोखिम नहीं उठानी चाहिए जो उन्होंने सिंगापुर, मलाया और बर्मा में उठाई। इस तरह भारत छोड़कर जाने का मतलब होगा अंग्रेजों के अंदर बहुत उच्च स्तर का साहस होना, मानवीय कमियों की स्वीकारोक्ति और भारत के प्रति सही बर्ताव।”

अप्रैल, 1942 ई. में क्रिप्स मिशन की विफलता से गांधीजी के मन में अंग्रेजों से यह कहने की दृढ़ता आई कि ‘अंग्रेजों भारत छोड़ो’ (ब्रिटिशर्स क्विट इंडिया)। 14 जुलाई, 1942 ई. को कांग्रेस कार्यसमिति ने भारत छोड़ो प्रस्ताव स्वीकार किया और 8 अगस्त को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बंबई में अपनी सभा में इसे पास कर दिया प्रस्ताव में घोषणा की गई—“भारत में ब्रिटिश राज तुरंत समाप्त करना, एक तात्कालिक आवश्यकता है। दोनों के लिए, यानी भारत और संयुक्त राष्ट्र की सफलता के लिए। स्वाधीन भारत आजादी की लड़ाई और नाजीवाद, फासीवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में, अपने पूरे-पूरे साधन जुटा कर संयुक्त राष्ट्र की इस सफलता का आश्वासन देगा।”

नोट

कांग्रेस ने गांधीजी को बड़े पैमाने पर अहिंसात्मक जन आंदोलन शुरू करने का अधिकार दिया, लेकिन 9 तारीख को बड़े सवेरे कुछ ही घंटों के अंदर सरकार ने गांधीजी और अन्य नेताओं को जेल में ठूस दिया। इतिहास की यह विडबना रही कि गांधीजी अंग्रेजों के खिलाफ अपनी महानतम और अंतिम लड़ाई का निर्देशन न कर सके, लेकिन आंदोलन चलता रहा। लंबे अरसे से देश को जिस अनुशासन के सूत्र में बांधा गया था उसका फल मिला। सारा आंदोलन लगभग अहिंसात्मक रहा। उधर दूसरी ओर अंग्रेज सरकार ने जिसने आंदोलन को नेतृत्वहीन बना दिया था, इसे दबाने के लिए बलप्रयोग किया। सरकारी अनुमानों के अनुसार 1,000 से अधिक व्यक्ति मारे गए, तीन हजार से ज्यादा घायल हुए और 60 हजार से अधिक गिरफ्तार किए गए।

भारत के अंदर आंदोलन धीमा पड़ गया। इस बीच सुभाषचंद्र बोस, जो 1941 ई. के प्रारंभ से भारत में बचकर भाग निकले थे, देश से बाहर आजाद हिंद फौज का गठन कर रहे थे। 1944 ई. में उनके सैनिक असम के बाहरी हिस्सों की ओर बढ़ते हुए देखे गए और उसी वर्ष मार्च में आजाद हिंद फौज ने कोहिमा पर कब्जा कर लिया। एक स्वाधीन भूमि के रूप में कोहिमा के ऊंचे पहाड़ों की चोटियों पर पहली बार भारतीय तिरंगा फहरा दिया गया।

1945 ई. में युद्ध समाप्त हो गया। हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिरने के साथ ही जापान ने हथियार डाल दिए। 1945 ई. के अगस्त महीने के एक दुर्भाग्यपूर्ण दिन, सुभाषचंद्र बोस, जापानियों की सूचना के अनुसार, एक विमान दुर्घटना में अपने जीवन से हाथ धो बैठे। लेकिन उनके देशभक्ति के कार्यों और आजाद हिंद फौज की शूरवीरता तथा सफलताओं की कहानियां, जन-जन तक पहुंच गईं। 1945 ई. में भारत के लोगों के मन में यह आशा बलवती हो गई थी कि अब स्वाधीनता मिल ही जाएगी। वे अंतिम संघर्ष की प्रतीक्षा कर रहे थे, लेकिन उधर ब्रिटेन में एक परिवर्तन आ रहा था, जिससे भारत में आंदोलन को जारी रखना अनावश्यक हो गया। युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश जनता ने विंस्टन चर्चिल का साथ छोड़ दिया और लेबर पार्टी को चुनाव में जिताकर सत्ता सौंप दी। क्लिमेंट एटली तब प्रधानमंत्री बने। एटली का मत था कि भारत को स्वाधीनता से वंचित रखने या इस सवाल पर निर्णय लेने में देर करने का समय नहीं है। सितंबर, 1945 ई. में गवर्नर-जनरल लार्ड वेविल ने लेबर सरकार के इस इरादे की घोषणा की, संविधान बनाने की एक सभा यथासंभव जल्दी बुलाई जाएगी और प्रधानमंत्री ने भारतीय नेताओं से अपील की कि वे संविधान तैयार करने के लिए मिलकर प्रयत्न करें, लेकिन स्वाधीनता के मार्ग में अभी भी एक बहुत बड़ी बाधा थी। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग कर दी थी।

भारतीयों को इस समस्या के किसी सर्वमान्य समाधान के लिए सहमत कराने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने मंत्रिमंडल का एक मिशन भारत भेजा, जिसमें तीन मंत्री थे। विदेश सचिव लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टैफर्ड और ए.वी. एलेक्जेंडर। यह मिशन मार्च, 1946 ई. में दिल्ली पहुँचा। गंभीर विचार-विमर्श के बाद मई 1946 ई. में उन प्रस्तावों की घोषणा कर दी। ऊपरी तौर पर यह दिखाते हुए कि भारत की मूलभूत एकता को बनाए रखने की कोशिश की जा रही है, कैबेनेट-मिशन (मंत्रिमंडलीय मिशन) के प्रस्ताव में पाकिस्तान बनाए जाने का सुझाव रखा गया और संविधान सभा गठित करने की सिफारिश की गई। जैसे-जैसे संयुक्त भारत बनाए रखने के पक्ष में मत जोर पकड़ता गया और संविधान सभा बुलाने का प्रयास किए गए ताकि अंतरिम सरकार गठित की जाए वैसे-वैसे मुस्लिम लीग उतावली होती गई और मुसम्मद अली जिन्ना ने 16 अगस्त 1946 ई. का दिन सीधी कार्रवाई-दिवस के रूप में मनाया। उस दिन कलकत्ता में अभूतपूर्व खून-खराबा शुरू हुआ और इसी के साथ सारे देश में सांप्रदायिक दंगे हो गए। अव्यवस्था, हलचल और दंगों के इन हालातों में 9 दिसंबर 1946 ई. को स्वाधीन भारत के लिए संविधान का मसौदा तैयार करने के उद्देश्य से संविधान सभा की बैठक हुई। मुस्लिम लीग इसमें शामिल नहीं हुई। यह एक कटु सत्य था कि अंग्रेज भारत का बंटवारा किए बिना नहीं जाएंगे, क्योंकि इसके बगैर वे जा नहीं सकते थे।



सावधानी

धीरे-धीरे यह जाहिर हो गया कि कदम-कदम पर स्वाधीनता का विरोध करने वाली मुस्लिम लीग के होते हुए भारत की समस्याओं का समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि पाकिस्तान बनाए जाने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर लिया जाता।

नोट

फरवरी, 1947 ई. में एटली ने, जून 1948 ई. से पहले जिम्मेदार भारतीयों को सत्ता सौंपने के अंतिम इरादे की घोषणा की। सत्ता-हस्तांतरण को अंतिम रूप देने के लिए लार्ड लुइस माउंट बेटन को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया। उन्हें यह विश्वास हो गया कि भारत के विभाजन की आवश्यकता है। उन्होंने कांग्रेस को विश्वास दिलाने की कोशिश की कि दृढ़ और संगठित भारत के लिए यह जरूरी है कि दोनों ओर से देश के कुछ भागों का बलिदान कर दिया जाए। माउंट बेटन ने जो योजना तैयार की वह जिन्ना की बड़ा पाकिस्तान बनाने की नहीं थी, बल्कि पंजाब और बंगाल का विभाजन करके क्षत-विक्षत बनाने की थी। भारत के अधिकांश भागों में सांप्रदायिक दंगों को देखते हुए कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने माउंट बेटन योजना स्वीकार कर ली। अंत में जो होकर ही रहना था उस पर सहमति होते ही ब्रिटिश संसद ने जुलाई, 1947 ई. में इंडियन इंडिपेंडेंस एक्ट पास कर दिया। इसमें व्यवस्था थी कि 2 अलग-अलग उपनिवेश भारत और पाकिस्तान, बनाए जाएँ। भारतीय रियासतों पर ब्रिटिश आधिपत्य न होने के कारण उन्हें अपना निर्णय खुद करने की आजादी दे दी गई कि वे स्वाधीन रहना चाहते हैं या भारत में अथवा पाकिस्तान में शामिल होना चाहते हैं।

15 अगस्त, 1947 ई. को भारत स्वाधीन हुआ। संविधान सभा ने स्वाधीन भारत के लिए संविधान तैयार करने का महान कार्य जारी रखा। 26 नवंबर, 1949 ई. को यह स्वीकार कर लिया गया और 26 जनवरी, 1950 ई. को नया संविधान लागू हो गया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. 1935 ई. के एक्ट के अनुसार प्रांतीय स्वायत्तता पहली अप्रैल, ... ई. को लागू हुई।
2. एक सितंबर, 1939 को नाजी सेना ने पर हमला किया।
3. 1944 ई. में आजाद हिन्द फौज ने के ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर पहली बार भारतीय तिरंगा फहराया।
4. 15 अगस्त, 1947 को भारत हुआ।

15.2 ऐतिहासिक तत्व तथा शक्तियाँ जिन्होंने अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर बाध्य किया (Historical Forces and Factors which Compelled British to Quit India)

ऐतिहासिक उद्देश्य का सिद्धान्त (Historic Mission Theory)—अंग्रेजी राजनीतिज्ञ तथा लेखकों ने इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है कि अंग्रेजों का भारत छोड़ने का निर्णय केवल स्वैच्छिक था और इंग्लैण्ड ने स्वयं ही भारत को स्वराज्य के लिए तैयार किया था और भारत को स्वतन्त्रता देना उनके भारत में ऐतिहासिक उद्देश्य का सम्पन्न होना ही था।

अंग्रेजी प्रधानमन्त्री ने ब्रिटिश संसद में जुलाई 1947 में भारतीय स्वतंत्रता विधेयक प्रस्तुत करते समय कहा था, “इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जब राज्यों को तलवार की शक्ति से अन्य लोगों के हाथों में शासन छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा है। बिरले ही ऐसा हुआ है कि वे लोग जो दूसरों पर राज्य करते रहे हों अधीनस्थ लोगों को स्वेच्छा से शक्ति का हस्तान्तरण कर दें।” उससे कुछ समय पहले मई 1946 में, लेबर दल के प्रधान प्रोफ़ेसर लास्की ने घोषणा की थी, “आधुनिक इतिहास में अहिंसक रूप से शक्ति का यह हस्तान्तरण, सबसे बड़ा है जो किसी साम्राज्यीय शक्ति ने किसी भी लोगों को किया है और मैं आशा करता हूँ कि भारतीय राष्ट्रीय नेता इस प्रकार स्वर्ण थाली में प्रस्तुत इस भेंट का सम्मान करेंगे।” एटली ने अपने भाषणों में इस बात का उल्लेख भी किया कि “अंग्रेजों ने भारतीयों को प्रजातन्त्र पद्धति में शिक्षण दिया।” उसने भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक के विषय में कहा था कि “यह उस घटनाचक्र की लम्बी शृंखला का चरम बिन्दु है। मिन्टो मार्ले तथा मांटैग्यू चेम्सफ़ोर्ड सुझाव, साइमन आयोग की

नोट

रिपोर्ट, गोलमेज़ कान्फ्रेंस, मेरे माननीय मित्रों का गत वर्ष भारत जाना (मन्त्रिमण्डल का शिष्टमण्डल) यह सभी उस मार्ग के चरण हैं जिसका अन्त भारत को स्वतन्त्रता देने का सुझाव है।”

साम्राज्यवाद का पतन (Imperialism on the Retreat)—प्रथम विश्व युद्ध का, जिसमें प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादी देश एक-दूसरे से भिड़ गए, फल केवल यह हुआ कि उपनिवेशों का साम्राज्यवादी देशों में पुनः वितरण हुआ। इसमें सबसे अधिक लाभ इंग्लैण्ड को हुआ जिससे लगभग सभी जर्मन उपनिवेश उसे मिल गए तथा तुर्की साम्राज्य के अरबी प्रदेश भी उसी के नियन्त्रण में आ गए। परन्तु दोनों युद्धों के अन्तर काल में (1918-39) में, इंग्लैण्ड में आन्तरिक तथा बाह्य रूप से इस साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनमत फैलता चला गया और अब साम्राज्यवाद अपनी सफाई प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा था। विश्व राजनीति में भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध मुख्य रूप से तीन नवीन तत्व सामने आ रहे थे।

पहला तो यह था कि पूंजीवादी देशों में ही साम्राज्य विरोधी, तथा प्रजातन्त्रीय प्रभाव और तत्व उभर रहे थे। यह प्रभाव (उदाहरण के रूप में इंग्लैण्ड में श्रमिक दल का उदय होना) राष्ट्रीय आय के बंटवारे को भी सुधारने का प्रयत्न कर रहे थे ताकि साम्राज्यवाद विरोधी नीतियों को अपनाया जा सके।

दूसरे, विश्व मंच पर उपनिवेशवाद विरोधी शक्तियाँ उभर रही थीं यह सब भारत में गांधीजी के असहयोग आन्दोलन तथा चीन में कूमिंटान्ग आन्दोलन की सफलताओं से स्पष्ट हो रहा था।

तीसरे, रूस में 1917 में साम्यवादी क्रान्ति की सफलता ने साम्राज्यवाद विरोधी तत्वों को शक्ति प्रदान की। यह लोग समस्त संसार में साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद से शोषित लोगों को स्वतन्त्र होने में सहायता देने का वचन देते थे। इन सभी तत्वों के सम्मिलित प्रभाव ने अंग्रेजों को यह स्पष्ट कर दिया था कि अब साम्राज्यवाद के दिन थोड़े ही रह गए हैं।

दो महान शक्तियों का उदय होना (Emergence of Two Super Powers)—द्वितीय विश्व युद्ध में फ़ासिस्ट और नाज़ी शक्तियाँ; तथा जापानी साम्राज्यवादी शक्तियाँ पूर्णतया परास्त हो गई थीं। यद्यपि आंग्ल-अमेरिकन साम्राज्यवाद विजयी हो गया था परन्तु साम्राज्यवाद को बहुत भारी धक्का लगा। यूरोप में विशेषतः एशिया में स्वतन्त्र हुए प्रदेशों ने यह सिद्ध कर दिया था कि स्वतन्त्रता प्रत्येक देश का मूल अधिकार है।

इंग्लैण्ड विजयी तो हो गया था परन्तु वह अब दूसरी श्रेणी की शक्ति रह गया था। अब संसार में दो महान शक्तियाँ, अमरीका तथा रूस सामने आ गई थीं; और रूस विशेषकर उन सभी देशों की ओर था जो स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। मित्र से लेकर सुदूर पूर्व तक के समस्त अंग्रेजी साम्राज्य पर प्रभावशाली दबाव था। सामरिक रूप से भी अब इंग्लैण्ड में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह अपने साम्राज्य की स्थानीय शक्तियों अथवा विश्व जनमत की चुनौती से रक्षा कर सके। इंग्लैण्ड, फ्रांस और हॉलैण्ड, तीनों साम्राज्यवादी देशों ने देखा कि उनके पांव तले से भूमि खिसक रही है और साम्राज्यवाद का अन्त तो अब केवल समय की ही बात है।

इंग्लैण्ड में श्रमिक दल का उदय (Coming of Labour Party in Power)—मई 1945 के चुनावों में इंग्लैण्ड में श्रमिक दल सत्ता में आया। इस दल ने अपने घोषणा पत्र में भारतीय समस्या को हल करने का वचन दिया था। अंग्रेजों के भारत से चले जाने के लिए अनुकूल वातावरण तैयार था।

20 फरवरी 1947 को अंग्रेजी प्रधानमन्त्री एटली ने संसद में यह घोषणा की कि उसकी सरकार का यह निश्चय है कि वह अधिकाधिक जून 1948 तक शक्ति का हस्तान्तरण भारतीय हाथों में कर देगी। समुअल होर तथा चर्चिल (Samuel Hoare and Churchill) जैसे कट्टर रूढ़िवादियों ने इसका विरोध करते हुए कहा कि यह पूर्णतया आत्मसमर्पण है और इसका परिणाम “सबसे बुरी परिस्थितियों में भारत का बंटवारा होगा।” अपनी विशेष कटु शैली से उसने कहा “बहुत से लोगों ने ब्रिटेन की अपने शत्रुओं के विरुद्ध रक्षा की है परन्तु अपने ही विरुद्ध इसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता।” (“They have defended Britain against their foes, none can defend her against herself”)। यदि 1945 में रूढ़िवादी दल सत्ता सम्पन्न रहता तो निश्चय ही भारत की स्वतन्त्रता वर्षों तक प्राप्त नहीं होती। श्रमिक दल के प्रधानमन्त्री ने शीघ्र ही भारत छोड़ने का निश्चय किया और अपने वचन को निभाया।

नोट

भारतीय राष्ट्रवाद की अप्रतिरोध्य शक्ति (Irresistible Strength of Indian Nationalism)—गांधीजी के असहयोग आन्दोलनों पर इतिहासकार कोई भी निर्णय दें, इस तथ्य को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि उनके नेतृत्व में कांग्रेस अधिक सशक्त दल के रूप में सामने आई। 1937 के चुनावों ने कांग्रेस को प्राप्त राजनैतिक समर्थन तथा शक्ति का प्रदर्शन किया। यह केवल श्रमिक दल (Labour Party) के नेताओं के लिए ही नहीं अपितु रूढ़िवादी दल के लिए भी एक चेतावनी थी।



उदाहरण कांग्रेस की विस्तृत आधार लोकप्रियता इस बात से स्पष्ट थी कि 1936 में कांग्रेस की 6.36 लाख की सदस्य संख्या से बढ़कर 1937 में यह सदस्य संख्या 30 लाख हो गई थी।

द्वितीय विश्व युद्ध ने भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करने का निश्चय और भी दृढ़ कर दिया था। जुलाई 1942 में कांग्रेस ने “भारत छोड़ो” प्रस्ताव पारित किया और मांग की “कि भारत में अंग्रेजी शासन तुरन्त समाप्त होना चाहिए।” गांधीजी ने “करो या मरो” का जयघोष दिया। अंग्रेजों ने कांग्रेस के 1942 के विद्रोह को कुचलने के लिए अत्यन्त क्रूर साधन अपनाए। परन्तु इस विद्रोह में जिस प्रकार जनता ने सहयोग दिया अथवा भाग लिया उससे यह स्पष्ट था कि भारत में हिंसा की नीति तथा जन-क्रांति को बल मिल रहा है और अब स्वतन्त्रता संग्राम में एक नवीन तत्व भी सम्मिलित हो गया है। अब भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम पूर्ण उत्साह से आरम्भ हो गया है। 1943 तक युद्ध मित्र शक्तियों के पक्ष में जाने लगा, परन्तु चर्चिल द्वारा नियुक्त नए वाइसराय लार्ड वेवेल भी इस निश्चय पर पहुंच गया था कि युद्ध के तुरन्त पश्चात् भारत को स्वतन्त्र कर देना चाहिए और यह ही अंग्रेजी जनमत तथा सरकार का मुख्य रूप से विचार था।

भारत में विस्फोटक राजनीतिक परिस्थिति तथा शान्ति और व्यवस्था की समस्या (Explosive Indian Political Situation and Problem of Law and Order)—सर स्टेफर्ड क्रिप्स, जो द्वितीय विश्व युद्ध के दिनों में भारतीय नेताओं से एक लम्बी संवैधानिक बातचीत में बहुत निकट रूप से सम्बन्धित थे, ने भारत में पूर्ण रूप से शान्ति तथा व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने में सरकार की असमर्थता प्रकट की। मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस के उद्देश्यों तथा उनके प्राप्त करने के साधनों में ऐसा मतभेद था जिससे कि परिस्थिति कभी भी बिगड़ सकती थी। कांग्रेस तो मुख्य रूप से प्रभावशाली शक्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही थी जब कि मुस्लिम लीग अपने लिए किसी प्रतिनिधि सरकार को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील नहीं थी। उन्होंने अपने लिए एक अलग प्रदेश (homeland) प्राप्त करने के लिए हिंसा की नीति को अपनाया। कलकत्ता, बिहार, नोआखाली, बम्बई तथा पंजाब में हुए साम्प्रदायिक दंगों ने एक ऐसा वातावरण बना दिया था जिसमें पुलिस की स्वामिभक्ति खतरे में पड़ गई थी और सरकारी कर्मचारियों पर भी संदेह उत्पन्न हो गया था।

भारतीय सरकार की असैनिक तथा सैनिक शक्ति का ह्रास हो गया था और वह अब देश में इस दूषित राजनैतिक वातावरण पर नियंत्रण रखने में असमर्थ थी।

फरवरी 1946 का नौ सेना विद्रोह (Naval Mutiny, February 1946)—यह एक विशुद्ध सत्य था कि अंग्रेजों ने भारत को भारतीय सिपाही (Indian sepoy) की सहायता से ही विजय किया था। भारत में अंग्रेजी सत्ता का आधार तथा साधन सेना ही थी। 1945-46 तक इस सेना में भी राष्ट्रीयता की भावना आ चुकी थी जिसके कई कारण थे। भारतीय तथा श्वेत सैनिकों के वेतन में तथा भोजन में भेद, श्वेत सैनिक अफसरों का जाति-भेद तथा अन्य दुर्व्यवहार इत्यादि कई कारणों से वे अपनी परिस्थितियों से अप्रसन्न थे। 18 फरवरी, 1946 को बम्बई स्थित सिगनल स्कूल अराजदृष्ट नौ सैनिक अधिकारियों, जिन्हें रेटिंग (ratings) कहते थे, ने वेतन तथा भोजन इत्यादि के भेद-भाव, उग्र जाति भेद तथा भारतीयों के राष्ट्रीय चरित्र के प्रति अत्यन्त अपमानपूर्ण शब्दों के प्रयोग के विरोध में भूख हड़ताल कर दी। शीघ्र ही यह विद्रोह बन्दरगाह में स्थित 20 जलपोतों के 24,000 नौ सैनिकों में फैल गया। कई जलपोतों पर तो नौ सैनिकों ने तोपें भी गाड़ दीं और आवश्यक होने पर युद्ध के लिए तैयार हो गए। शीघ्र ही यह विद्रोह मद्रास तथा कराची स्थित जलपोतों में भी फैल गया। कई जलपोतों से अंग्रेजी पताका यूनियन जैक उतार कर वहाँ कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग की पताका फहरा दी गई। विद्रोहियों ने एक केन्द्रीय नौ सेना हड़ताल समिति (Central Naval Strike Committee) भी चुन ली और उन्होंने राष्ट्रपति नेताओं का समर्थन प्राप्त करने का

नोट

भी प्रयत्न किया। एडमिरल गॉडफ्रे (Admiral Godfrey) ने अन्तिम चेतावनी दे दी और अब नर संहार सन्निकट था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने बुद्धिमत्ता से विस्फोटक स्थिति को बिगड़ने से बचा लिया तथा सैनिकों को आत्मसमर्पण करने को कहा। अन्त में 23 फरवरी को सैनिकों ने हथियार डाल दिए परन्तु कहा कि “हम इंग्लैण्ड को नहीं भारत को आत्मसमर्पण कर रहे हैं।” परन्तु फिर भी इन नौ सैनिकों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए बम्बई में व्यापार संघों ने हड़तालें कीं। सरकार ने अत्यधिक सैनिक तथा पुलिस बल का प्रयोग किया और 21 से 23 फरवरी तक के तीन दिनों में 200 व्यक्ति गोलियों से मारे गए। यह विश्वास किया जाता है कि लगभग सारी गोलियाँ अंग्रेजी सैनिकों ने चलाई क्योंकि भारतीय सैनिकों पर विश्वास नहीं किया जा सकता था।

थल सेना तथा वायु सेना भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहीं। कई स्थानों पर गड़बड़ हुई यद्यपि स्थिति इतनी गम्भीर नहीं थी। इन सभी परिस्थितियों से साम्राज्ययी शासकों को यह स्पष्ट हो गया कि सैनिकों की स्वामिभक्ति जो अंग्रेजी साम्राज्य की नींव थी अब बहुत सीमा तक क्षीण हो चुकी है और अब अंग्रेजों के चले जाने के लिए उचित समय आ गया है।

दो विकल्प (The Two Alternatives)—अंग्रेजी सरकार के लिए सर स्टेफर्ड क्रिप्स को अब केवल दो विकल्प दृष्टिगोचर होते थे। या तो भारत पर बहुत से अंग्रेज भारतीय लोक सेवा (Indian Civil Service) में भर्ती कर तथा बहुत-सी अंग्रेजी सेना भेजकर भारत को आने वाले पन्द्रह बीस वर्ष तक और दास बनाए रखने का प्रयत्न किया जाए अथवा इंग्लैण्ड शीघ्र ही भारत को स्वतन्त्र कर दे। सर स्टेफर्ड ने पीछे यह स्पष्ट किया कि पहले विकल्प को तो त्याग देने में हमें कोई दुविधा नहीं हुई। क्योंकि यह तो उन समस्त कथनों तथा नीतियों के विरुद्ध था जो समय-समय पर अपने देश की नीति के और भारतीय जनता की इच्छा के विरुद्ध—जैसा कि, स्पष्ट ही था कि ऐसा होगा—यहाँ बने रहने के विषय में हमने दिए थे। यह राजनैतिक रूप में भी, दोनों राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी अव्यवहारिक था और इससे सभी भारतीय दल हमारे शत्रु हो जाते।

दूसरे यह भी स्पष्ट था कि यदि ऐसा किया गया तो इंग्लैण्ड की समस्त शक्तियाँ, देश के पुनर्निर्माण जो युद्ध में हुए विनाश के पश्चात् अत्यन्त आवश्यक था से हटकर, केवल इस साम्राज्य को बनाए रखने में ही लगी रहेंगी। अतएव केवल यही विकल्प था कि हम लोग शीघ्र ही भारत से चले जाएँ।

वामपंथी विकल्प का सिद्धांत (The Left Alternative Theory)—हाल में ही कुछ मार्क्सवादी लेखकों ने यह विचार प्रकट किया है कि सामाजिक अतिवादी आन्दोलनों (socially radical movements), जिनमें तेलंगाना आन्दोलन सबसे प्रमुख था, ने 1946 के पश्चात् अधिकारी वर्ग तथा कांग्रेस में यह भय उत्पन्न कर दिया था कि अब एक शक्तिशाली वामपंथी संस्था उभर रही है जो सम्भवतः समस्त भारतीय लोगों का प्रतिनिधित्व करेगी। इस वामपंथी विकल्प ने यह कहा जाता है साम्राज्यवादी अंग्रेजों तथा प्रतिक्रियावादी कांग्रेस नेताओं में एक अनुरंजक, मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी थी। सुमित सरकार ने यह तर्क दिया है कि इस वामपंथी भय ने “उस अन्तिम समझौता करने में सहायता की जिसके अधीन शक्ति का एक शान्तिपूर्ण हस्तान्तरण हुआ जोकि साम्प्रदायिक सर्वनाश (communal holocaust) तथा बंटवारे का मूल्य देकर प्राप्त किया गया।” यह उत्पत्ति यद्यपि बहुत दुरूह है परन्तु फिर भी ध्यानपूर्वक संवीक्षण के योग्य है।

क्या राष्ट्र मण्डल साम्राज्य का एक अन्य रूप है (Commonwealth another form of Empire)—जैसा कि जॉन सीले ने कहा था कि यदि, अंग्रेजी साम्राज्य ध्यान अन्यमनस्कता में प्राप्त किया गया, तो यह अर्ध विमुखता (half averted attention) से त्यागा जा रहा है। दोनों परिस्थितियों में अंग्रेज जनता ने यह देखा कि साम्राज्य का हस्तान्तरण अंग्रेजी राष्ट्रमण्डल को किया जा रहा है जिसका मुखिया इंग्लैण्ड है। इंग्लैण्ड के रूढ़िवादी तत्व यह विश्वास करते थे कि भेद केवल पारिभाषिक शब्दावली का ही है और मण्डल तो अंग्रेजी साम्राज्य के लिए केवल एक नवीन तथा विडम्बना पूर्ण नाम ही है। अंग्रेजी साम्राज्य के आलोचकों का भी यही विचार था।

महान राष्ट्रीय नेता अबुलकलाम आज़ाद भी विश्वास करते थे कि मुख्य रूप से भारतीय उपमहाद्वीप के राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण बनाए रखने की भावना से ही प्रेरित होकर ब्रिटेन ने भारत के बंटवारे की योजना प्रस्तुत की। आज़ाद के शब्दों में, “यदि भारत मन्त्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल योजना के अनुसार स्वतन्त्र हो जाता तो यह बहुत कठिन होता कि इंग्लैण्ड भारतीय आर्थिक तथा औद्योगिक जीवन में अपना प्रभुत्व बनाए रख सकता। भारत का

नोट

बंटवारा, जिसमें मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों ने अपना एक अलग तथा स्वतन्त्र राज्य बना लिया, ही इंग्लैण्ड को भारत में अपनी पकड़ बनाए रखने में सफलता दे सका। एक ऐसा राज्य जहाँ मुस्लिम लीग का नियन्त्रण हो, इंग्लैण्ड को भारत में शाश्वत प्रभाव का क्षेत्र प्रस्तुत करता है। इससे भारत पर भी प्रभाव होना आवश्यक है। यदि पाकिस्तान में अंग्रेजी अड़्डे बने रहें तो भारत को अंग्रेजी हितों का अधिक ध्यान रखना पड़ेगा, जो सम्भवतः न होता।”

अन-उपनिवेशवादी साम्राज्यों की खोज (Search for Non-Colonial Empires)—जॉन स्ट्रेची ने अपनी पुस्तक *The End of Empire* में यह तर्क दिया है कि साम्राज्य का विलयन (dissolution) इस तत्व के बोध में था कि साम्राज्य व्यापार के विषय में लाभदायक नहीं होते। तेल के साम्राज्य भी वित्तीय दृष्टिकोण से लाभदायक नहीं। आलोचक इस विश्लेषण को विडम्बनामय मानते हैं और यह बताते हैं कि स्वतन्त्रता अधिनियम में कुछ भी क्यों न लिखा हो अंग्रेजों द्वारा पुराने उपनिवेशों का शोषण चल रहा है, केवल रूप भिन्न है। **आर.पी. दत्त** ने, जो एक मार्क्स-लेनिनवादी तार्किक थे, ने अपने लेख “ब्रिटेन और ब्रिटिश साम्राज्य का संकट” (*The Crisis of Britain and British Empire*), में यह तर्क दिया है कि इंग्लैण्ड ने अपनी “उदारता” से भारत को स्वतन्त्रता दे दी, क्योंकि यदि वह ऐसा न करता तो निश्चय ही वह स्वयं अपने आपको तथा भारत को उजाड़ देता।

प्रो. पॉल बरन (Paul Baran) एक अन्य मार्क्सवादी विद्वान ने अपनी पुस्तक ‘*The Political Economy of Growth*’, में यह विचार प्रस्तुत किया है कि अंग्रेजी तथा अमरीकी साम्राज्यवाद अभी भी पूर्ण रूप से अपने जोर में है और यह शक्तियां अभी भी औद्योगिक रूप से अविकसित राष्ट्रों का पहले जैसा ही शोषण कर रही हैं। अब उपनिवेशवादी राज्यों का स्थान अन-उपनिवेशवादी साम्राज्यों ने ले लिया है। अब यह साम्राज्य नवीन स्थानीय विक्रम-अधिकर्ता सरकारों अथवा कठपुतली सरकारों द्वारा अपना कार्य करते हैं। वे कठपुतली सरकारें उस स्थानीय बुर्जवा वर्ग द्वारा चलाई जा रही हैं जिनके व्यापारिक सम्बन्ध साम्राज्यवादी शक्तियों के बहुराष्ट्रीय व्यवसायिक कम्पनियों (multinational firms) से हैं। प्राचीन प्रत्यक्ष तथा औपचारिक उपनिवेशवाद की धारणा के स्थान पर अब अप्रत्यक्ष तथा अनौपचारिक उपनिवेशवाद आ गया है। क्या इन नवीन-साम्राज्यवादी शक्तियों ने अविकसित देशों में प्रतिक्रियावादी सरकारों को बनने अथवा खड़ा रखने में सहायता नहीं दी है। निष्पक्षता से तो यही कहना पड़ेगा कि यह “अप्रत्यक्ष उपनिवेशवाद” का उदाहरण केवल इंग्लैण्ड तथा अमरीका ही प्रस्तुत नहीं करते अपितु साम्यवादी देश चीन तथा रूस भी प्रस्तुत करते हैं। इन नवीन साम्राज्यों को सामरिक लाभ (tactical gain) की भावना से तथा संसार का सैद्धान्तिक रूप से पुनर्गठन करने की भावना से भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और इस दृष्टि से भारत आज भी इंग्लैण्ड का साम्राज्य है और सर्वाधिक कर दाता है। यही नहीं हमारे देश के सर्वोत्तम वैज्ञानिक तथा तकनीकी जानकार इंग्लैण्ड तथा अमरीका की ओर भागे जा रहे हैं और अपने देश को अधिकाधिक निर्धन बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह सभी नवीन साम्राज्यवाद का दूसरा रूप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटेन का भारत छोड़ने का निश्चय आन्तरिक तथा बाह्य प्रभावों से प्रेरित था। इसमें कृपा कम थी अनिवार्यता अधिक। इंग्लैण्ड विचारक हेग आइवरी ने ठीक की कहा है कि “स्वतन्त्रता की आवश्यकता को स्वीकार करना था।”



टास्क साम्राज्यवाद के पतन पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

15.3 प्रमुख विचारकों के विचार (Opinion of Main Thinkers)

जवाहरलाल नेहरू (Jawaharlal Nehru)—मेरे विचार में यह घटनाओं की अवश्यम्भाविता थी और ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार हम चल रहे थे हम लोग गतिरोध अथवा दलदल से भरे अपने मार्ग से बाहर नहीं आ सकेंगे और यह स्थिति बिगड़ती ही चली गई। (I suppose it was the compulsion of events and the feeling that we would not get out of that deadlock or morass by pursuing the way we had done, it became worse and worse.) इसके अतिरिक्त यह भी लगता था कि यदि हमें वैसी स्वतन्त्रता मिल भी जाती तो संघीय इकाइयों के पास बहुत शक्ति होने के कारण, भारत एक बहुत ही क्षीण देश होता। बड़े

नोट

भारत में लगातार झगड़े होते रहते और लगातार विघटन की शक्तियाँ अपनी ओर खींचती रहतीं। इसके अतिरिक्त हमें निकट भविष्य में स्वतन्त्रता प्राप्त करने का और कोई मार्ग भी दिखाई नहीं देता था। इसलिए हमने इसे स्वीकार कर लिया और कहा कि आओ हम एक सुदृढ़ भारत का निर्माण करें और यदि दूसरे इसमें सम्मिलित नहीं होना चाहते तो हम लोग कैसे और क्यों उनको ऐसा करने पर बाध्य करें।

सरदार वल्लभभाई पटेल (Sardar Vallabhbhai Patel)—मैंने यह अनुभव किया कि यदि हम भारत का विभाजन स्वीकार नहीं करते तो भारत छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाएगा और पूर्णतया नष्ट हो जाएगा। मुझे मेरे एक वर्ष के (मंत्री) कार्य ने यह विश्वास दिला दिया कि जिस ओर हम बढ़ रहे थे वह पूर्णतया सर्वनाश का मार्ग था। हमें एक पाकिस्तान नहीं कई पाकिस्तान मिलते। हमारे तो प्रत्येक कार्यालय में ही पाकिस्तान कोष्ठ बना होता।

(I felt that if we did not accept partition, India would be split up into many bits and would be completely ruined. My experience of office for one year convinced me that the way we have been proceeding would lead us to disaster. We would not have had one Pakistan but several. We would have had Pakistan cells in every office.)

सी.एच. फिलिप्स (C.H. Philips)—कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच बढ़ते हुए मतभेदों ने एक ऐसा गतिरोध उत्पन्न कर दिया जो अंग्रेजी प्रस्तावों के विशेषकर 1942 की क्रिप्स योजना और 1946 की तीन स्तरीय योजना के बावजूद समस्त युद्ध के दिनों में बना रहा। इस समय तक अंग्रेज जो उत्तरदायी सरकार पर, न कि प्रतिनिधि सरकार पर और भारत की एकता बनाए रखने पर बल देते थे, कांग्रेस और मुस्लिम लीग को अपनी बात मानवाने में असफल रहे। भारतीय लोग उस समय प्रभावशाली शक्ति के विषय में अधिक चिन्तित थे और मुस्लिम लीग प्रतिनिधि सरकार के परिणामों के विषय में। इस बात को अनुभव करते हुए कि उसका सैनिक और असैनिक प्रशासन दुर्बल हो रहा था और अब देश में कानून और व्यवस्था की कोई प्रत्याभूति नहीं थी, अंग्रेज सरकार ने फरवरी 1947 में यह घोषणा कर दी कि वह जून 1948 से पहले-पहले प्रभुसत्ता का हस्तान्तरण कर देंगे। अन्ततः इस स्वतन्त्रता की शीघ्रता में बंटवारा अगस्त 1947 तक पूर्ण हो गया।

हैरल्ड लास्की (Harold Laski)—...परन्तु जब तक भारत में प्रत्येक निहित स्वार्थ, जैसे कि मुसलमानों के स्वार्थों को प्रत्यक्ष और गुप्त रूप से यह बढ़ावा मिलेगा कि उन्हें हमसे अधिक उत्तम स्वतन्त्रता की शर्तें मिल सकती हैं दूसरे लोगों से समझौता करके नहीं, उनका आपस में समझौता सम्भव ही नहीं...उसी प्रकार परन्तु अधिक सूक्ष्मता से, जैसे रूढ़िवादी दल (Conservative Party) ने अलस्टर की पृथक्ता का संरक्षण किया है और इनके वही दुष्परिणाम हुए हैं।

ऐलेन केम्पबेल जानसन (Allan Campbell Johnson)—(लार्ड एटली द्वारा जून 1948 की) समय मर्यादा वास्तव में अंग्रेजों की भारतीय सिविल सर्विस में युद्ध के आरम्भिक दिनों से ही भर्ती के बंद करने की नीति का अवश्यभावी परिणाम था। इस सेवा में कार्यकर्ताओं की संख्या प्रायः कभी भी 1100 से अधिक नहीं होती थी। नवम्बर 1946 तक केवल 520 संख्या प्रमुख अंग्रेजी पदाधिकारियों और शेष भारतीयों की रह गई थी। नौकरशाही के कार्य के बढ़ने और अंग्रेजी पदाधिकारियों के कम होने से अन्य बातों के अतिरिक्त यह स्पष्ट कर दिया था कि भारत को प्रशासनिक रूप से भी 1949 से अधिक देर तक अपने अधीन रखना असम्भव है। इसमें भी संदेह है कि 1947 में पुलिस के पास भी इतनी शक्ति रह गई थी कि वह उस नीति को लागू कर सकने में समर्थ है जिसको दोनों प्रमुख दल स्वीकार करने को उद्यत नहीं हैं और यह भी कहना ठीक ही है कि भारत में कोई बड़ा सैनिक अभियान करने के लिए ब्रिटिश सरकार अथवा वहाँ की जनता पूर्णतया तैयार नहीं थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व की दो महाशक्तियाँ अमरीका और उभरकर सामने आ गई।

(क) जापान	(ख) जर्मनी
(ग) रूस	(घ) इंग्लैंड

नोट

6. के चुनावों में 'श्रमिकदल' इंग्लैंड में सत्ता में आया।
 (क) 1950 (ख) 1945
 (ग) 1946 (घ) 1947
7. भारत में अंग्रेजी सत्ता का आधार तथा साधन ही थी।
 (क) संपत्ति (ख) साम्राज्य
 (ग) सेना (घ) जनता
8. द्वितीय विश्व युद्ध में विजयी तो हो गया पर अब वह दूसरी श्रेणी की शक्ति रह गया था।
 (क) अमरीका (ख) जापान
 (ग) भारत (घ) इंग्लैंड

15.4 स्वाधीन भारत का संविधान (Constitution of Independent India)

भारत के संविधान में भारत को एक प्रभुतासंपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया है। यह न्याय, स्वाधीनता, समानता, और बंधुत्व के लोकतांत्रिक दर्शन पर आधारित है। संविधान की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं— भारत के संविधान का ध्येय जनता को सभी सत्ता का सर्वोच्च स्रोत बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति सभी वयस्क व्यक्तियों को समान रूप से मताधिकार देकर और सभी पुरुषों तथा स्त्रियों को समान राजनीतिक अवसर प्रदान करके होती है। संविधान में प्रतिनिधित्वात्मक लोकतन्त्र की व्यवस्था है, जिसमें जनता प्रतिनिधि चुनती है। वे उसकी ओर से कार्यपालिका का नियंत्रण करते हैं और राष्ट्र के हित में कानून बनाते हैं। इस प्रकार हालांकि जनता सीधे तौर पर सत्ता का संचालन स्वयं नहीं करती लेकिन कार्यपालिका को सत्ता जनता की ओर से ही मिलती है।

भारतीय संविधान एक लिखित संविधान है फिर भी यह कड़ा नहीं है। वास्तव में यह काफी लचीला है क्योंकि संसद में संविधान की कई धाराएँ साधारण बहुमत द्वारा बदली जा सकती हैं, यहाँ तक कि राज्य विधानमंडल के दूसरे सदन को खत्म करने जैसे महत्वपूर्ण मामले और राज्यों की सीमाएँ या क्षेत्र या नाम बदलने अथवा राज्यों के आपस में विलय या अलग-अलग करने जैसे मामले भी संसद में बहुमत के साधारण तरीके से हल किए जा सकते हैं। संविधान की अन्य कई धाराएँ भी संसद के प्रत्येक सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले कुछ सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से संशोधित किए जा सकते हैं। लेकिन उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों का मतलब यह नहीं है कि कुछ ही सदस्य मिलकर कोई संशोधन पारित कर सकते हैं। प्रत्येक सदन में किसी संशोधन का समर्थन करने के लिए कुल सदस्य संख्या का बहुमत होना चाहिए। इस तरीके से संविधान में मूल अधिकारों जैसे महत्वपूर्ण अनुच्छेदों को भी संशोधित किया जा सकता है। संविधान की केवल कुछ ही धाराएँ ऐसी हैं जिनमें संशोधन सीधे तरीके से यानी राज्यों के विधानमंडलों के अनुमोदन के जरिए किया जा सकता है। लेकिन यह भी बहुत मुश्किल नहीं है क्योंकि सिर्फ आधे राज्यों द्वारा अनुमोदन से ही संशोधन पारित हो सकता है। संविधान ने संसद को, संसदीय कानूनों के जरिए संवैधानिक आवश्यकताएँ पूरी करने के व्यापक अधिकार दिए हैं। इस प्रकार पूर्ण रूप से भारतीय संविधान का उद्देश्य समय की आवश्यकताओं के अनुरूप गति और प्रगति बनाए रखना है। यह रूढ़िवादी संविधान नहीं है।



क्या आप जानते हैं? संविधान में भारत को राज्यों का संघ घोषित किया गया है।

देश का क्षेत्रफल एक उपमहाद्वीप जितना है और इसमें कई विविधताएँ हैं जिन्हें देखते हुए यह आवश्यकता महसूस की गई कि संविधान में एक संघीय ढांचे की व्यवस्था हो जिसमें शामिल विभिन्न इकाइयों को स्वायत्तता प्रदान हो। इस स्पष्ट आवश्यकता को स्वीकार करते हुए संविधान में एक दृढ़ एकात्मक आधार बनाए रखा गया है। संघात्मक और एकात्मक सिद्धांतों का यह सम्मिश्रण इस संविधान की विशेषता है। साधारण परिस्थितियों में तो संघीय प्रणाली

नोट

कार्य करती है लेकिन अगर हालात का ऐसा तकाजा हो जाए तो भारत को एकात्मक प्रणाली के राज्य में बदलने के लिए संविधान का इस्तेमाल किया जा सकता है। एकता पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है और प्रशासनिक दृष्टि से अलग रहने पर इतना जोर नहीं है।

संविधान में भारत के लिए संसदीय प्रणाली की सरकार की व्यवस्था है। इस संबंध में संविधान को ब्रिटेन के अलिखित संविधान से काफी प्रेरणा मिली है। ब्रिटिश प्रणाली में जो कई सांविधानिक विशेषताएँ हैं वे भारतीय प्रणाली में भी निहित हैं। राष्ट्राध्यक्ष के रूप में एक निर्वाचित राष्ट्रपति होने के बावजूद संविधान में व्यवस्था है कि वह मंत्रियों की सलाह पर कार्य करेगा। इस प्रकार वास्तव में मंत्रिमंडल ही शासन चलाता है। लेकिन मंत्रियों का कर्तव्य है कि वे मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व के संसदीय सिद्धांत के अनुसार शासन चलाएँ। संसदीय प्रणाली का मूल आधार है उत्तरदायी सरकार। कार्यपालिका के मंत्रियों का उत्तरदायित्व, अपने हर काम के लिए विधानमंडल के प्रति है और इधर विधानमंडल का चुनाव जनता करती है, जिसके प्रति वह उत्तरदायी है।

एक उत्तरदायी कार्यपालिका निश्चित रूप से लेचीली ही होगी, कठोर नहीं। मंत्रियों को अपने-अपने उत्तरदायित्वों के कार्यों का लेखा-जोखा कभी-कभी नहीं बल्कि लगभग हर रोज के हिसाब से देना होता है। इस प्रक्रिया में यदि वे सदन का विश्वास खो बैठें तो पद से हटाए जा सकते हैं। इस तरह हालांकि यह मंत्री एक निश्चित कार्यकाल के लिए चुने जाते हैं फिर भी उतने समय तक उनका उस पद पर बने रहना सदन की इच्छा पर निर्भर करता है।

भारत के संविधान ने एक स्वतंत्र न्यायपालिका का सृजन किया है। एक लिखित संविधान को अपने लिए रक्षक की आवश्यकता है। लोकतंत्र को, नागरिकों के लोकतंत्रीय अधिकारों की रक्षा के लिए एक प्रहरी की जरूरत होती है। एक ऐसी न्याय-संस्था की आवश्यकता होती है, जो केंद्र और संघ की इकाइयों के बीच, अथवा दो अलग-अलग इकाइयों के बीच विवादों पर विचार कर सके। इन आवश्यकताओं को देखते हुए न्यायपालिका की सत्ता सर्वोच्च रखने की आवश्यकता महसूस की गई। यह विशेषता अमरीकी संविधान की है। भारत का संविधान तैयार करने वालों की इच्छा भारत को यथासंभव ये सभी लाभ देने की थी। यदि विधानपालिका कोई ऐसा कानून बनाने जा रही हो या कार्यपालिका कोई ऐसा निर्णय लेने जा रही है जिससे व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन होता है, तो वह व्यक्ति न्यायालय में न्याय प्राप्त कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी कानून या आदेश को अवैध घोषित कर सकता है। न्यायपालिका के इतने ऊँचे अधिकार हैं, विशेष रूप से मूल अधिकारों के संदर्भ में, जो संविधान ने भारत की जनता को दिए हैं।

लेकिन जनता का प्रतिनिधि और उसके फायदे के लिए कानून बनाने वाली विधानपालिका के कानूनों को अवैध घोषित करने का निरंकुश अधिकार न्यायपालिका को देना कुछ अप्राकृतिक समझा गया। अमरीकावासी, न्यायपालिका की सर्वोच्च सत्ता को मानसिक रूप से स्वीकार करके और अंग्रेज अपनी संसद की सर्वोच्च सत्ता में रहकर खुश हैं। भारतीय संविधान दोनों प्रणालियों के बीच एक संतुलन कायम करता है। इस प्रकार जहाँ न्यायपालिका को पूर्ण स्वतंत्रता दी गई है वहाँ संसद को संविधान में संशोधन करने का अधिकार समाज के व्यापक हित में दिया गया है। न्यायपालिका संविधान की लागू धाराओं की रक्षा करने के कार्य में सर्वोच्च अधिकार रखती है। लेकिन स्वयं इन धाराओं को संसद यदि और जब आवश्यक समझे, बदल सकती है। इसी तरह न्यायपालिका व्यक्तियों के मूल अधिकारों की रक्षा करेगी लेकिन संपत्ति का स्वामी बनने और व्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे मूल अधिकार संसद के अधीन रखे गए हैं, जिससे कि व्यक्ति के हित की रक्षा समाज के हितों की कीमत पर न की जाए। इस प्रकार भारत का संविधान, व्यक्तिगत आदर और संपूर्ण राष्ट्र के अपने-अपने हितों के बीच संतुलन और समन्वय रखने का प्रयत्न है।

संविधान की प्रमुख व्यवस्थाओं में, प्रथम भाग भारत संघ और उसके क्षेत्र से संबद्ध है। दूसरा भाग नागरिकता के बारे में, तीसरे भाग में मूल अधिकारों संबंधी व्यवस्थाएँ हैं। इन अधिकारों में पहला है समानता का अधिकार, जिसमें कानून के समक्ष समानता, कानून के अधीन समान रूप से सुरक्षा, और समान अवसर इत्यादि शामिल हैं फिर चाहे वह व्यक्ति कहीं भी जन्मा हो; स्त्री हो या पुरुष अथवा किसी भी धर्म, वंश और जाति का क्यों न हो। दूसरा स्वतंत्रता का अधिकार है। इसमें अपने विचार व्यक्त करने, शांतिपूर्वक कहीं इकट्ठे होने, संगठन बनाने, कहीं भी आने-जाने,

नोट

भारत के किसी भी भाग में रहने और बसने, संपत्ति अर्जित करने, अपने पास रखने और उसे बेचने और कोई भी धंधा, व्यापार आदि करने की स्वतंत्रता शामिल है। अन्य अधिकार हैं : शोषण का विरोध करने, किसी भी धर्म का पालन करने, किसी भी प्रकार की संस्कृति और शिक्षा प्राप्त करने एवं संपत्ति रखने के अधिकार। अंत में अधिकार है संविधान के जरिए अपनी कठिनाइयां दूर करने का अधिकार। संविधान का चौथा भाग राजनीति के निर्देशक सिद्धांतों से संबद्ध है (डायरेक्टिव प्रिंसीपल्स आफ स्टेट पालीसी)।

संविधान का पांचवां भाग संघीय कार्यपालिका, संघीय संसद और संघीय न्यायपालिका के बारे में है। संघ की कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकार और रक्षा सेनाओं की सर्वोच्च कमान, राष्ट्रपति के हाथ में है। लेकिन अपने कर्तव्य निभाते समय राष्ट्रपति को संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार कार्य करना है। राष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों और राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार यह सीधा चुनाव नहीं है। संसदीय प्रणाली में राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति को देखते हुए इसका चुनाव सारे राष्ट्र द्वारा सीधे मतदान से करना अनावश्यक समझा गया है, क्योंकि संसदीय प्रणाली में प्रधानमंत्री और उसके मंत्रिमंडलों के हाथ में वास्तविक सत्ता होती है और राष्ट्रपति केवल नाममात्र के लिए राज्याध्यक्ष होता है। राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच वर्ष है। संविधान में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति को संविधान का उल्लंघन करने पर महाभियोग लगाकर पद से हटाया जा सकता है। महाभियोग का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में रखा जा सकता है और सदन की कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत से इसे पास किया जा सकता है। इसके बाद दूसरा सदन आरोप की जांच करेगा और यदि वह इस प्रस्ताव को अपनी कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत से पास कर देता है तो इसका मतलब है कि आरोप सही है और तब राष्ट्रपति को पद से हटाया जा सकता है।

संविधान में भारत के लिए एक उपराष्ट्रपति के पद की व्यवस्था है। इस पद पर होने के नाते उपराष्ट्रपति राज्यसभा का अध्यक्ष है। राष्ट्रपति का निधन हो जाने अथवा उनके द्वारा इस्तीफा दे दिए जाने या उसे पद से हटा दिए जाने की स्थिति में उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति-पद पर तब तक कार्य करता है, जब तक कि नया राष्ट्रपति नहीं चुन लिया जाता और वह अपना पद नहीं संभाल लेता। उपराष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों के सदस्य एक संयुक्त बैठक में करते हैं। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पद के लिए खड़े होने के वास्ते न्यूनतम आयु 35 वर्ष है। उपराष्ट्रपति का कार्यकाल भी पांच वर्ष है। उसे राज्यसभा में बहुमत से प्रस्ताव पास कर पद से हटाया जा सकता है, लेकिन इस प्रस्ताव पर लोकसभा की भी सहमति होनी चाहिए।

संविधान में मंत्रिपरिषद् की भी व्यवस्था है जिसका नेता प्रधानमंत्री होगा। यह परिषद् राष्ट्रपति को अपना कार्य करने के लिए सहायता और परामर्श देती है। प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं और अन्य मंत्रियों को भी प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है। हालांकि संविधान में कहा गया है कि मंत्री राष्ट्रपति की इच्छा रहने तक अपने पद पर बने रहेंगे लेकिन उसी अनुच्छेद में (अनुच्छेद 75) आगे चल कर कहा गया है कि मंत्रिपरिषद् संयुक्त रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। स्पष्ट है कि राष्ट्रपति की इच्छा रहने तक, का मतलब है लोकसभा की इच्छा।

हालांकि कार्यपालिका की सभी कार्यवाइयाँ राष्ट्रपति के नाम से की जाती हैं फिर भी प्रशासन की वास्तविक बागडोर मंत्रिपरिषद् के हाथ में है। संविधान में निर्देश है कि प्रधानमंत्री संघ के प्रशासन संबंधी मामलों पर मंत्रिपरिषद् द्वारा लिए गए सभी निर्णयों और कानून बनाने के प्रस्तावों की सूचना राष्ट्रपति को दें।

संविधान में विस्तारपूर्वक यह नहीं बताया गया है कि मंत्रिमंडल का स्वरूप, कार्यक्षेत्र और अधिकार क्या होंगे, लेकिन कई काम वैसे ही मानकर किए जाते हैं। संसदीय प्रणाली के उद्देश्य और वे नियम जिनके द्वारा एक उत्तरदायी सरकार कार्य करती है निश्चित और स्पष्ट हैं, इसलिए संविधान में जो भी थोड़ा-बहुत बताया गया है वह मंत्रिमंडल के वास्तविक स्वरूप के लिए काफी है।

संविधान में संघ के लिए संसद की व्यवस्था है जिसके दो सदन होंगे-राज्यसभा और लोकसभा। राज्यसभा में (क) 12 सदस्यों को राष्ट्रपति साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा के क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य के आधार पर मनोनीत करते हैं और (ख) राज्यों से 230 तक प्रतिनिधि होते हैं, जिनका चुनाव राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित

नोट

सदस्य करते हैं। लोकसभा में 500 से ज्यादा सदस्य नहीं हो सकते और इनका चुनाव राज्यों में सीधे मतदान द्वारा किया जाता है। इस उद्देश्य से राज्यों को अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्रों में बांटा गया है।

राज्यसभा भंग नहीं की जाती, लेकिन हर दो साल बाद इसके एक तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण कर लेते हैं (रिटायर कर दिए जाते हैं)। लोकसभा यदि समय से पहले भंग न कर दी जाए तो उसका कार्यकाल पांच वर्ष तक रहता है। राज्यसभा का सदस्य बनने के लिए कोई भी व्यक्ति 30 से कम उम्र का नहीं होना चाहिए और लोकसभा के लिए न्यूनतम आयु 25 वर्ष है।

संसद का अधिवेशन बुलाना, इसके दोनों सदनों या किसी एक सदन का सत्रावसान करना और लोकसभा को भंग करने का कार्य राष्ट्रपति का है। वे संसद के किसी भी सदन को संबोधित कर सकते हैं या संदेश भेज सकते हैं। प्रत्येक आम चुनाव के बाद लोकसभा का पहला अधिवेशन शुरू होने पर और साल के पहले अधिवेशन के समय, राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में अभिभाषण करते हैं। उपराष्ट्रपति इस पद पर होने के नाते राज्यसभा के प्रधान हैं और राज्यसभा अपने ही सदस्यों में से किसी एक को उपप्रधान चुनती है। लोकसभा दो सदस्यों को अध्यक्ष और उपाध्यक्ष पद के लिए चुनती है।

मुद्रा विधेयक (मनी बिल) और वित्त विधेयक (फाइनेंशियल बिल) को छोड़ अन्य कोई भी विधेयक संसद के दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। जब किसी विधेयक पर संसद के दोनों सदन संशोधनों सहित या संशोधनों के बिना सहमत हो जाते हैं तो वह विधेयक स्वीकृत समझा जाएगा। बिल पर मतभेद होने की स्थिति में राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकते हैं और इसमें उपस्थित कुल सदस्यों तथा मतदान में भाग लेने वाले कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत से यदि बिल पास हो जाता है तो यह माना जाएगा, कि इसे दोनों सदनों ने स्वीकृत कर दिया। संविधान में मुद्रा बिल को राज्यसभा में पेश करने की अनुमति नहीं दी गई है। इसे लोकसभा में ही पेश करना होगा और बाद में राज्यसभा को इसकी सिफारिशों के लिए भेजा जाएगा। राज्यसभा को, यदि कोई सिफारिशें हों, तो उनके साथ इस बिल को 14 दिन के अंदर-अंदर लौटाना होगा। लोकसभा उन सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है और फिर भी विधेयक को पास माना जाएगा। इसी प्रकार यदि राज्यसभा मुद्रा बिल को 14 दिन के अंदर-अंदर वापस नहीं भेजती तो इस अवधि की समाप्ति पर यह मान लिया जाएगा कि इसे दोनों सदनों ने पास कर दिया है। कोई विधेयक मुद्रा विधेयक है या नहीं, इसका निर्णय लोकसभा के अध्यक्ष के हाथ में है जिसे अंतिम समझा जाएगा।

संसद द्वारा पास कर दिए जाने के बाद बिल को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति यदि संबद्ध बिल मुद्रा बिल न हो तो इसे संशोधन की सिफारिशों के साथ लौटा सकते हैं। इस स्थिति में यदि वह विधेयक संसद के दोनों सदन संशोधनों के साथ या संशोधनों के बिना फिर पास कर देते हैं तो इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए दोबारा भेजा जाता है और तब राष्ट्रपति स्वीकृति देने से इनकार नहीं कर सकते।

भारत की संसद के अधिकार और कार्य लोकतांत्रिक नियमों की भावना और संसदीय प्रणाली के आधार पर निश्चित किए गए हैं। संसद कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है और उसके कार्यों की आलोचना करती है, उसके निर्णयों का अनुमोदन या उसमें संशोधन करती है और अंत में संसद को अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से सरकार को सत्ता से हटाने का भी अधिकार है।



क्या आप जानते हैं कार्यपालिका पर इतना जबर्दस्त प्रभाव होने के कारण संसद, विधायिका के क्षेत्र में सर्वोच्च है।

संविधान में व्यवस्था है कि संघीय न्यायापालिका भारत के सर्वोच्च न्यायालय में निहित है। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश और सात अन्य न्यायाधीश होंगे लेकिन संसद को अधिकार है कि वह कानून बनाकर न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं और ये न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रह सकते हैं लेकिन यदि किसी न्यायाधीश का भ्रष्ट व्यवहार अथवा अयोग्यता सिद्ध हो चुकी हो

नोट

तो संसद के प्रत्येक सदन द्वारा इसी आधार पर उसे हटाने की मांग के वक्तव्य के बाद, राष्ट्रपति उस न्यायाधीश को पद से हटा सकते हैं। उच्चतम न्यायालय को अधिकार है कि कानूनी अधिकारों को लेकर यदि (क) भारत सरकार और किसी एक राज्य अथवा एक से अधिक राज्यों के बीच; या (ख) भारत सरकार और एक या इससे अधिक राज्य, एक तरफ और एक या एक से अधिक राज्य दूसरी तरफ हों तो इनके बीच भी; या (ग) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच, कोई विवाद हो तो उसका निपटारा कर सकता है। अन्य अधिकारों के संबंध में, यदि किसी मामले में संविधान की व्याख्या को लेकर कोई कानूनी सवाल पैदा होता है तो उच्च न्यायालय से उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। किसी उच्च न्यायालय में यदि एक निश्चित राशि से अधिक के किसी दीवानी मामले पर निर्णय दिया गया है तो उस पर भी उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। इसी तरह, अगर किसी फौजदारी मामले में उच्च न्यायालय ने किसी को मौत की सजा सुनाई है तो इसके बारे में भी उच्चतम न्यायालय में अपील हो सकती है। उच्चतम न्यायालय को और भी कई व्यापक अधिकार दिए गए हैं। साथ ही, संसद को अधिकार है कि यदि वह आवश्यक समझे तो कानून बनाकर उसे और अधिकार दे सकती है और उसके क्षेत्र का विस्तार कर सकती है। भारत के नागरिकों को संविधान द्वारा दिए गए मूल अधिकारों में से एक सांविधानिक प्रतिकार का अधिकार है। उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों में से किसी को भी लागू कराने के लिए निर्देश, आदेश या याचिकाएं जारी करने का अधिकार है। इनमें बंदी प्रत्यक्षीकरण (हैबियस कॉर्पस), परम आदेश या हुक्मनामा (मेंडामस) निषेधादेश (प्रॉहिबीशन), अधिकार संबंधी कारण पूछने (कुओ वारंटो) और छोटे न्यायालय से बड़े न्यायालय में मुकदमा मंगाने वाली (सर्टियोरारी) याचिकाएं शामिल हैं। उपरोक्त उद्देश्यों के अलावा, संसद, उच्चतम न्यायालय को अन्य उद्देश्यों के लिए भी ऐसे ही अधिकार प्रदान कर सकती है और अंत में उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित कानून का भारत के सभी न्यायालयों को पालन करना होगा। राष्ट्रपति, कानून या तथ्य के किसी भी प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय का मत मांग सकते हैं। भारत के अंदर सभी नागरिक और न्यायिक अधिकरणों को उच्चतम न्यायालय के सहायतार्थ कार्य करना होगा।

संविधान का छठा भाग राज्यों के बारे में है। राज्य की कार्यकारी सत्ता राज्यपाल के पास है। उसे राष्ट्रपति नियुक्त करते हैं और इच्छा रहने तक वह पद पर रह सकता है। राज्यपाल का कार्यकाल पांच वर्ष है। उसे केंद्र सरकार मनोनीत करती है, इसलिए वह केंद्रीय सत्ता के अधीन है। संविधान में चूंकि राज्य स्तर पर एक उत्तरदायी सरकार की प्रणाली की व्यवस्था की गई है इसलिए सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल, राज्य की कार्यकारिणी का केवल नाममात्र का अध्यक्ष है। राज्य की सांविधानिक व्यवस्था भंग हो जाने की हालत में ही राज्यपाल को केंद्र सरकार की ओर से शासन का उत्तरदायित्व संभालना होता है।

प्रत्येक राज्य में एक मंत्रिपरिषद् है जिसका नेता मुख्यमंत्री है। यह परिषद् राज्यपाल को कामकाज चलाने के संबंध में सहायता और सलाह देती है। मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है और अन्य मंत्रियों को मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया जाता है। राज्यपाल की इच्छा रहने तक मंत्री अपने पद पर बने रह सकते हैं, लेकिन आगे चलकर एक धारा में कहा गया है कि मंत्रिपरिषद् राज्य की विधानसभा के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी है। इसी से वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जब तक मंत्रियों को विधायिका का विश्वास प्राप्त है तब तक वे संविधान के अनुसार राज्य की वास्तविक कार्यकारिणी के रूप में कार्य करते हैं।

संविधान में, बिहार, बंबई, मद्रास (अब तमिलनाडु), पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल के लिए विधानमंडल के दो सदनों यानी विधान परिषद् और विधान सभा की व्यवस्था है। अन्य राज्यों में केवल एक सदन, अर्थात् विधान सभा की ही व्यवस्था की गई है। राज्य विधानमंडल के उच्च सदन को इतना मामूली समझा जाता है कि संबद्ध राज्य की विधानसभा यदि कोई प्रस्ताव पास करके उसे खत्म करना चाहे या उसकी स्थापना करना चाहे तो संसद ऐसा कर सकती है। इस प्रकार किसी भी राज्य में विधायिका के वास्तविक अधिकार विधानसभा को प्राप्त हैं, जो राज्य के मतदाताओं द्वारा सीधी चुनी जाती है। प्रत्येक 75 हजार की जनसंख्या के पीछे एक सदस्य के अनुपात में राज्य को विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में बांटा जाता है। संविधान के अनुसार किसी भी राज्य की विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या कम से कम 60 और अधिक से अधिक 500 होगी। यदि विधानसभा पहले भंग न कर दी जाए तो

नोट

उसका कार्यकाल 5 वर्ष तक होता है। विधानसभा में निर्वाचन के लिए कोई भी उम्मीदवार 25 वर्ष की आयु से कम नहीं होना चाहिए।

केंद्र में राष्ट्रपति की तरह राज्यपाल भी विधानसभा का सत्रावसान करता है या उसे भंग कर सकता है। सदन को संबोधित करता है या संदेश आदि भेजता है। प्रत्येक विधानसभा अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है। संसदीय लोकतंत्र की भावना के अनुरूप राज्य विधानसभा मंत्रियों पर नियंत्रण रखती है और संविधान के द्वारा प्रदान किए गए अधिकार क्षेत्र के अंदर रहकर राज्य के लिए कानून बनाती है।

संविधान के प्रत्येक राज्य के लिए एक-एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था है। हर उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और अन्य ऐसे न्यायाधीश होते हैं। जिनकी नियुक्ति आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर राष्ट्रपति करते हैं। उच्च न्यायालय को अधिकार है कि वह किसी व्यक्ति या अधिकरण, जिसमें सरकार भी शामिल है, को विशेष आदेश या रिट याचिकाओं को जारी कर सकता है। इन याचिकाओं में बंदी प्रत्यक्षीकरण (हेबियस कॉर्पस), परमादेश या हुक्मनामा (मेंडामस), निषेधादेश (प्रहिबीशन), अधिकार संबंधी कारण पूछने (कुओ वारंटो) और छोटे न्यायालय से बड़े न्यायालय में मुकदमा मंगाने (सर्टियोरारी) जैसे याचिकाएं शामिल हैं। ये निर्देश, आदेश या रिट संविधान के तीसरे भाग (मूल अधिकार) के अंतर्गत दिए गए अधिकारों को लागू कराने या किसी अन्य उद्देश्य के लिए जारी किए जाते हैं। प्रत्येक उच्च न्यायालय, अपने अधीन आने वाले क्षेत्र की सभी अदालतों और ट्रिब्युनलों का निरीक्षण करने का अधिकार रखता है।

संविधान का 18वां भाग आपतकालीन व्यवस्थाओं से संबद्ध है। अनुच्छेद 352 में कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाता है कि कोई ऐसा गंभीर संकट आ गया जिसमें भारत या उसके किसी एक भाग की सुरक्षा को, युद्ध या बाहरी हमले, या अंदरूनी गड़बड़ी के कारण खतरा है तो वे एक अध्यादेश की घोषणा करके संकटकालीन स्थिति लागू कर सकते हैं। बाद में राष्ट्रपति इसे हटा भी सकते हैं। इस तरह के अध्यादेश को संसद में प्रस्तुत करना होगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. भारत के संविधान का ध्येय जनता को सभी सत्ता का सर्वोच्च बनाना है।
10. भारतीय संविधान लिखित संविधान नहीं है।
11. एक उत्तरदायी कार्यपालिका निश्चित रूप से कठोर होगी।
12. संविधान का प्रथम भाग भारत संघ और उसके क्षेत्र से संबद्ध है।

15.5 सारांश (Summary)

- 1935 ई. के एक्ट के अनुसार प्रांतीय स्वायत्तता पहली अप्रैल, 1937 ई. को लागू हुई। कांग्रेस ने चुनाव लड़ा इसलिए कि चुनावों के जरिये वह यह दिखाना चाहती थी कि जनता पर उसका कितना जबर्दस्त प्रभाव है।
- एक सितंबर, 1939 ई. को नाजी सेना ने पोलैंड पर हमला किया और 3 सितंबर को इंग्लैंड ने जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। दूसरा विश्व युद्ध छिड़ चुका था। उस समय के वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने तथाकथित स्वायत्त प्रांतों के मंत्रिमंडलों या किसी राजनीतिक पार्टी अथवा व्यक्ति के साथ सलाह किए बिना ही भारत को जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई में झोंक दिया। यह कार्रवाई कांग्रेस की बर्दाश्त से बाहर थी और अक्टूबर में कांग्रेस सरकारों ने त्यागपत्र दे दिए।
- फरवरी, 1947 ई. में एटली ने, जून 1948 ई. से पहले जिम्मेदार भारतीयों को सत्ता सौंपने के अंतिम इरादे की घोषणा की। सत्ता-हस्तांतरण को अंतिम रूप देने के लिए लार्ड लुइस माउंट बेटन को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया।

नोट

- 15 अगस्त, 1947 ई. को भारत स्वाधीन हुआ। संविधान सभा ने स्वाधीन भारत के लिए संविधान तैयार करने का महान कार्य जारी रखा। 26 नवंबर, 1949 ई. को यह स्वीकार कर लिया गया और 26 जनवरी, 1950 ई. को नया संविधान लागू हो गया।
- भारत के संविधान में भारत को एक प्रभुतासंपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया है। यह न्याय, स्वाधीनता, समानता, और बंधुत्व के लोकतांत्रिक दर्शन पर आधारित है।
- भारतीय संविधान एक लिखित संविधान है फिर भी यह कड़ा नहीं है। वास्तव में यह काफी लचीला है क्योंकि संसद में संविधान की कई धाराएँ साधारण बहुमत द्वारा बदली जा सकती हैं।
- संविधान की प्रमुख व्यवस्थाओं में, प्रथम भाग भारत संघ और उसके क्षेत्र से संबद्ध है। दूसरा भाग नागरिकता के बारे में, तीसरे भाग में मूल अधिकारों संबंधी व्यवस्थाएँ हैं।

15.6 शब्दकोश (Keywords)

- **अधिवेशन**—सभा, सम्मेलन आदि का बैठक।
- **वित्त-विधेयक**—राज्य का वह विधेयक जो आगामी वर्ष की आय-व्यय से संबंध रखता है तथा विधान सभा में स्वीकृति के लिए पेश किया जाता है।
- **हुक्मनामा**—आज्ञापत्र।

15.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. 1935 ई. से भारत की स्वाधीनता तक की प्रमुख घटनाओं का वर्णन करें।
2. उन ऐतिहासिक तत्व तथा शक्तियों का वर्णन करें जिसने अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर मजबूर किया।
3. स्वाधीन भारत के संविधान की विशेषताओं का उल्लेख करें।
4. संविधान के पाँचवे भाग की विवेचना करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|------------|-------------|-------------|-----------------|
| 1. 1937 | 2. पौलेंड | 3. कोहिमा | 4. आज़ाद |
| 5. (ग) रूस | 6. (ख) 1945 | 7. (ग) सेना | 8. (घ) इंग्लैंड |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. असत्य | 12. सत्य |

15.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
2. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
3. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
4. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
5. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।